युगप्रमुख चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर आचार्य श्री विमलसागर महाराज
की हीरक जयन्ती के शुभावसर पर प्रकाशित

सिरि कोंडकुंड आइरिय पणीदो

पवयणसारो

(प्रवचनसारः)

मूलगाथा, सस्कृतछाया, श्री अमृतचन्द्रसूरि कृत तत्त्वप्रदीपिका
नामक सस्कृत टीका, श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति नामक
सस्कृत व्याख्या और स्व० पण्डित श्री अजितकुमार
शास्त्री तथा स्व० पं० श्री रतनचन्द मुख्तार
के भाषानुवाद से समलकृत

सम्पादक
डॉ० श्रेयांसकुमार जैन
सस्कृत विभाग, दिगम्बर जैन कालिज, बड़ौत, (उ० प्र०)

प्रकाशिका
श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्-परिषद्

हीरक जयन्ती प्रकाशन माला पुष्प ४०

सिरि कोंडकुंड आइरिय पणीदो

पवयणसारो
(प्रवचनसारः)

● सम्प्रेरक :
उपाध्याय मुनि १०८ श्री भरतसागर महाराज

● निर्देशिका :
आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी

● संयोजन :
ब्र० धर्मचन्द्र शास्त्री, ब्र० कु० प्रभा पाटनी

● अर्थसहयोग :
श्रीमती जयमाला जैन धर्मपत्नी स्व० पदमसैन जैन की स्मृति में
श्री सुरेन्द्रकुमार जैन, माला फ्लोर मिल परतापुर, मेरठ–२५० ००२ (उ० प्र०)

● प्रकाशन :
श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्-परिषद्

● प्रथमावृत्ति :
१९९०–९१

● प्राप्ति स्थान :
(१) सन्मार्गदिवाकर आचार्य श्री विमलसागर संघ
(२) अनेकान्त सिद्धान्त समिति लोहारिया (बांसवाडा) राजस्थान
(३) श्री दि० जैन मन्दिर, गुलाब वाटिका, दिल्ली

● मूल्य :

● मुद्रक : सुमन प्रिन्टर्स, कनोहरलाल मार्किट, शारदा रोड, मेरठ शहर। फोन . २४३१६

आचार्य १०८ श्री शिवसागर जी महाराज

उपाध्याय १०८

समर्पण

चारित्रशिरोमणि
सन्मार्गदिवाकर
करुणानिधि
वात्सल्यमूर्ति
अतिशययोगी—
तीर्थोद्धारक चूड़ामणि—
अपायविचयधर्मध्यान के ध्याता
शान्ति-सुधामृत के दानी
वर्तमान में धर्म-पतितों के उद्धारक
ज्योतिपुञ्ज—
पतितों के पालक
तेजस्वी अमरपुञ्ज
कल्याणकर्त्ता, दुखों के हर्ता, समदृष्टा
बीसवीं सदी के अमरसन्त
परमतपस्वी, इस युग के महाक साधम
जिनभक्ति के अमर प्रेरणास्त्रोत
पुण्यपुंज—
गुरुदेव आचार्यवर्य १०८
श्रीविमलसागर जी महाराज के कर-कमलों में
"ग्रन्थराज"
समर्पित

❋

आशीर्वाद

विगत कतिपय वर्षो से जैनागम को धूमिल करने वाला एक श्याम सितारा ऐसा चमक गया कि सत्य पर असत्य का आवरण आने लगा एकान्तवाद-निश्चयाभास तूल पकडने लगा ।

आज के इस भौतिकयुग मे असत्य को अपना प्रभाव फैलाने मे विशेप श्रम नही करना होता, यह कटु सत्य है, कारण जीव के मिथ्या सस्कार अनादिकाल से चले आ रहे है । विगत ७०–८० वर्षो मे एकान्तवाद ने जैनत्व का टीका लगाकर निश्चयनय की आड़ मे स्याद्वाद को पीछे धकेलने का प्रयास किया है । मिथ्या साहित्य का प्रसार-प्रचार किया है । आचार्य कुन्दकुन्द की आड़ लेकर अपनी ख्याति चाही है और शास्त्रो मे भावार्थ बदल दिए है, अर्थ का अनर्थ कर दिया है ।

बुधजनो ने अपनी क्षमता पर 'एकान्त' से लोहा लिया है पर वे अपनी ओर से जनता को अपेक्षित सत्साहित्य सुलभ नही करवा पाए । आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज का हीरकजयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया है । आर्यिका स्याद्वादमती माताजी ने आचार्यश्री एव हमारे सान्निध्य मे एक सकल्प लिया कि पूज्य आचार्यश्री की हीरकजयन्ती के अवसर पर आर्ष साहित्य का प्रचुर प्रकाशन हो और यह जन-जन को सुलभ हो । फलत ७५ आर्ष ग्रन्थो के प्रकाशन का निश्चय किया गया है, क्योकि सत्यसूर्य के तेजस्वी होने पर असत्य अन्धकार स्वत ही पलायन कर जाता है ।

आर्प ग्रन्थो के प्रकाशन हेतु जिन भव्यात्माओ ने अपनी स्वीकृति दी है एव प्रत्यक्ष-परोक्षरूप मे इस महदनुष्ठान मे किसी भी प्रकार का सहयोग किया है, उन सबको हमारा आशीर्वाद है ।

उपाध्याय भरतसागर

आभार

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिकाः ॥
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं ।
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥पद्मनन्दी प० ॥६८॥

वर्तमान मे इस कलिकाल मे तीन लोक के पूज्य केवली भगवान् इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नही है तथापि समस्त भरतक्षेत्र मे जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान् की वाणी विद्यमान है तथा उस वाणी के आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी है। इसलिए उन मुनियो का पूजन तो सरस्वती की पूजन है, तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगमपथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि मे प्रस्फुटित तथा गणधरो द्वारा गुंफित तथा महान् आचार्यो द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्गप्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग है।

युगप्रमुख आचार्यश्री के हीरकजयती वर्ष के उपलक्ष मे जिनवाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान युग मे आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सान्निध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज व निर्देशिका तथा जिन्होने परिश्रम द्वारा ग्रन्थो को खोजकर विशेष सहयोग दिया, ऐसी पूज्या आ० स्याद्वादमती माताजी के लिए मै शत-शत नमोस्तु वंदामि अर्पण करती हूं। साथ ही त्यागीवर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत-शत नमन करती हूं तथा सम्पादक डा० श्रेयासकुमार जैन, व्याख्याता दि० जैन कालेज बड़ौत, अनुवादकर्त्ता स्व० प० अजितकुमार शास्त्री और ब्र० पं० रतनचन्द्र मुख्तार तथा ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अनुमति प्रदाता ग्रन्थमाला एव ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्यनिधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदाता की मैं आभारी हूं तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले सुमन प्रिन्टर्स के संचालक श्री हरीशचन्द जैन आदि की मैं आभारी हूं। अन्त मे प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप मे सभी सहयोगियो के लिए कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सदा जिनशासन की जिनागम की भविष्य मे इसी प्रकार रक्षा करते रहे, ऐसी भावना करती हूं।

—ब्र० कु० प्रभा पाटनी संघस्थ

प्रकाशकीय

इस परमाणुयुग मे मानव के अस्तित्व की ही नही अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान 'अहिसा' अमोघ अस्त्र से किया जा सकता है। अहिसा जैन-धर्म/सस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थकरो के मुख से निकली वाणी को गणधरो ने ग्रहण किया और आचार्यो ने निवद्ध किया जो आज हमे जिनवाणी के रूप मे प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य–पूज्य आचार्य, उपाध्याय एव साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार मे लगे हुए है।

उन्ही पूज्य आचार्यो मे से एक है सन्मार्गदिवाकर चारित्रचूडामणि परमपूज्य आचार्यवर्य श्री विमलसागर महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय मे प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रणीत ग्रन्थो का प्रकाशन हो और मन्दिरो मे स्वाध्याय हेतु रखे जाए जिसे प्रत्येक श्रावक पढकर मोहरूपी अन्धकार को नष्टकर ज्ञानज्योति जला सके।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी के प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व मे हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एव अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर का शासन निरन्तर अवाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओ को ध्यान मे रखकर परमपूज्य ज्ञानदिवाकर, उपाध्यायरत्न श्री भरतसागर महाराज एव आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माता जी की प्रेरणा व निर्देशन मे परमपूज्य आचार्य श्री विमलसागर महाराज के ७४वी जन्म जयन्तो के अवसर पर ७५वी जन्म जयन्ती के रूप मे मनाने का सकल्प समाज के सम्मुख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वन्-परिषद् ने लिया। इस अवसर पर ७५ ग्रन्थो के प्रकाशन की योजना के साथ ही भारत के विभिन्न नगरो मे ७५ धार्मिक शिक्षणशिविरो का आयोजन किया जा रहा है और ७५ पाठशालाओ की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान यज्ञ मे पूर्ण सहयोग करने वाले ७५ विद्वानो का सम्मान एव ७५ युवा विद्वानो को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा ७७७५ युवावर्ग से सप्तव्यसन का त्याग कराना आदि योजनाए इस हीरकजयन्ती वर्ष मे पूर्ण की जा रही है।

सम्प्रति आचार्यवर्य पू० विमलसागर जी महाराज के प्रति देश एव समाज अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ उनके चरणो मे शत-शत नमोऽस्तु करके दीर्घायु की कामना करता है। ग्रन्थो के प्रकाशन मे जिनका अमूल्य निदशन एव मार्गदर्शन मिला है, वे पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागर महाराज एव आर्यिका स्याद्वादमति माताजी है। उनके लिए मेरा क्रमश नमोऽस्तु एव बन्दामि अर्पण है।

उन विद्वानो का भी आभारी हूँ जिन्होने ग्रन्थो के प्रकाशन मे अनुवादक/सम्पादक एव सशोधक के रूप मे सहयोग दिया है। ग्रन्थो के प्रकाशन मे जिन दातारो ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चचला लक्ष्मी का सदुपयोग करके पुण्यार्जन किया, उनको धन्यवाद करता हू। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसो मे प्रकाशित हुए एतदर्थ उन प्रेस सचालको को जिन्होने बडी तत्परता से प्रकाशन का कार्य किया वे धन्यवादार्ह है। अन्त में उन सभी सहयोगियो का भी आभारी हूँ, जिन्होने प्रत्यक्ष-परोक्ष मे सहयोग प्रदान किया है।

ब्र० पं० धर्मचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष
भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

संकल्प

"णाणं पयासं" सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है। पदवियों और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी है परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन मे मात्र ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढ़न्त बातों की पुष्टि पूर्वाचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे है ऊंटपटांग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी मे स्थापित की जा रही है, कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं है और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रूचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नही देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी सस्कृति की रक्षा के लिये आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है—

येनैते विदलन्ति वादिगिरयः स्तुष्यन्ति वागीश्वरः
भव्या येन विदन्ति निर्वृतिपदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।
यद् बन्धर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधारभूत मतं,
तल्लोकजयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद् विवेकश्रियम्॥

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि "सकल्प के बिना सिद्धि नही मिलती।" सन्मार्गदिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागर जी महाराज की हीरक-जयन्ती के मांगलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह संकल्प मैंने प० पू० गुरूदेव आचार्यश्री व उपाध्यायश्री के चरणसानिध्य मे लिया। आचार्यश्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य मे काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य मे विशेष सहयोगी पं० धर्मचन्द शास्त्री व ब्र० प्रभा पाटनी रहे। इन्हे व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओ के लिये मेरा आशीर्वाद है।

पूज्य गुरूदेव के पावन चरण-कमलों मे सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्तिपूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

—आर्यिका स्याद्वादमती

प्रस्तावना

चतुर्थ काल मे जब ३ वर्ष ८ माह १५ दिन शेष रह गये थे, तब अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान् कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन निर्वाण को प्राप्त हुए, उनके पश्चात् ६२ वर्ष मे श्री गौतमस्वामी, श्री सुधर्माचार्य और श्री जम्बूस्वामी ये तीन अनुबद्धकेवली हुए। तत्पश्चात् १०० वर्ष मे श्री विष्णु, श्री नन्दिमित्र, श्री अपराजित, श्री गोवर्धन, श्री भद्रवाहु ये पाच अनुवद्ध श्रुतकेवली हुए। अनन्तर १८१ वर्ष मे श्री विशाखाचार्य, श्री प्रोष्ठिल, श्री क्षत्रिय, श्री जयसेन, श्री नागसेन, श्री सिद्धार्थ, श्री धृतिषेण, श्री विजय, श्री बुद्धिलिंग, श्रीदेव, श्री धर्मसेन ये ११ आचार्य दस पूर्वधारी हुए। इसके पश्चात् १२३ वर्ष मे श्री नक्षत्र, श्री जयपाल, श्री पाडव, श्री ध्रुवसेन, श्री कस ये पाच आचार्य ग्यारह अगधारी हुऐ। इसके पश्चात् ९९ वर्ष मे श्री सुभद्र, श्री यशोभद्र, श्री भद्रवाहु, श्री लोहाचार्य ये चार आचार्य दस, नव अथवा आठ अगधारी हुए। इसके पश्चात् ११८ वर्ष मे श्री अर्हद्वलि, श्री माघनन्दि, श्री धरसेन, श्री पुष्पदन्त, श्री भूतवलि ये पाच आचार्य हुए जो एक अगधारी थे अथवा अगो और पूर्वो के एक देश ज्ञाता थे। इस प्रकार श्री महावीर भगवान् के पश्चात् भी ६८३ वर्ष तक अग का ज्ञान रहा।[1]

श्री धरसेन आचार्य के शिष्य श्री पुष्पदन्त और भूतवलि ने 'षट्खण्डागम' की रचना कर लिपिवद्ध किया और ज्येष्ठ शुक्ला पचमी के दिन इस ग्रन्थराज की पूजा हुई, इसलिये ज्येष्ठ शुक्ला पचमी आज भी श्रुतपचमी के नाम से प्रसिद्ध है। इस षट्खण्डागम मे श्री गौतम गणधर रचित सूत्रो का भी सकलन है।

(१) जीवट्ठाण, (२) खुद्दावन्ध, (३) बधस्वामित्वविचय, (४) वेदना, (५) वर्गणा, (६) महावध ये षट्खण्डागम के छह खण्ड है। इस षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्ड पर श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने वारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म टीका रची थी।[2]

ज्ञान प्रवाद पूर्व की दसवी वस्तु के तीसरे कषाय-प्राभृत का ज्ञान श्री गुणधर आचार्य को था, जिन्होने तीर्थ-विच्छेद के भय से कसायपाहुड की १८० गाथाओ द्वारा रचना की है। जिसमे कषायो की विविध दशाओ का वर्णन करके उनके दूर करने का मार्ग बतलाया है और यह भी प्रगट किया है कि किस कषाय के दूर होने से कौनसा आत्मिकगुण प्रगट होता है।

कसायपाहुड की ये गाथाए आचार्य परम्परा से आती हुई श्री आर्यमक्षु और श्री नागहस्ती आचार्यो को प्राप्त हुई। पुन उन दोनो ही आचार्यो के पादमूल मे बैठकर उनके द्वारा गुणधराचार्य

१—धवल पु० १ प्रस्तावना पृ० २२-२३।

२—एव द्विविधो द्रव्यभाव पुस्तकगता। गुरुपरिपाट्या ज्ञात सिद्धान्तकुन्दकुन्दपुरे ॥१६०॥
श्री पद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादससहस्र परिमाण। ग्रन्थ परिकर्म कर्त्रा षट्खण्डाद्य त्रिखण्डस्य ॥१६१॥

(इन्द्रनन्दिश्रुतावतार)

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भिन्न-भिन्न विषयो पर अनेको ग्रन्थो की रचना की थी, उनमे से एक प्रवचनसार भी है। इसमे तीन अधिकार है (१) ज्ञानाधिकार, (२) दर्शनाधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार, (३) चारित्राधिकार।

इनमे से प्रथम अधिकार मे १०१ गाथा है। श्रीमत् जयसेन तथा श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने तो १०१ गाथाओ पर टीका रची है किन्तु श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने इनमे से मात्र ९२ गाथाओ पर टीका रची है।

जिस प्रकार श्री गौतमगणधर ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर चौवीस अनुयोगद्वारो के आदि मे मगल किया है,[1] उसी प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी व्यवहारनय का आश्रय लेकर प्रथम पाच गाथाओ द्वारा प्रवचनसार के आदि मे मगल किया है। यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है तो भी ठीक नही है, क्योकि उसमे शिष्यो की प्रवृत्ति देखी जाती है। अत जो व्यवहारनय वहुल जीवो का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिये। ऐसा मन मे निश्चय करके श्री गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोगद्वारो के आदि मे मगल किया है।[2] श्री गौतमगणधर का अनुसरण करते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी मगल किया है।

गाथा ६ मे बतलाया है कि सम्यक्-चारित्र के फलस्वरूप स्वर्गादि के वैभव के साथ-साथ मोक्ष भी मिलता है। गाथा ७ मे चारित्र को धर्म बतलाते हुए स्वरूपाचरण का लक्षण बतलाया है। गाथा ८ व ९ मे वतलाया है कि द्रव्य जिस समय जिस पर्याय से परिणत होता है उस समय उस पर्याय से तन्मय हो जाता है। इसलिये जिस समय आत्मा शुभभाव से परिणत होता है उस समय आत्मा शुभ है। जिस समय आत्मा अशुभभाव या शुद्ध भाव से परिणत होता है उस समय आत्मा अशुभ या शुद्ध है। गाथा १० मे बतलाया कि परिणाम के बिना द्रव्य नही और द्रव्य के बिना परिणाम नही है। गाथा ११-१३ तीनो उपयोग के फल का कथन है। गाथा १४ मे शुद्धोपयोग का लक्षण। इस प्रकार इन १४ गाथाओ मे पीठका समाप्त हुई।

गाथा १५-२० सवर्ज्ञ द्धि, गाथा २१ से ५२ तक ज्ञान का सविस्तार कथन है। गाथा ४५ मे वतलाया है कि अरहत पद पुण्य का फल है जिससे पुण्य की सर्थकता सिद्ध होती है। गाथा ५२-६८ सुख का सविस्तार कथन करते हुए बतलाया है कि ज्ञान के साथ सुख का अविनाभावी सम्वद्ध है इसलिये इन्द्रिय जनित ज्ञानी के इन्द्रिय जनित सुख होता और अतीन्द्रियज्ञानी अर्थात् केवली के ही अतीन्द्रियसुख होता है। इन्द्रियज्ञान इन्द्रियसुख का कारण होने से हेय है उसी प्रकार शुभोपयोग भी इन्द्रियसुख का कारण होने से हेय है। उस शुभोपयोग का कथन गाथा ६९ से ७९ तक है।

गाथा ८०-९२ मे मोह को जीतने का उपाय बतलाया है किन्तु गाथा ८३-८५ मे राग द्वेष मोह का कथन है।

---

(१) "व्यवहारणय पडुच्च पुण गोदम सामिणा चदुवीसण्हमणि योगद्दाराणमादीए मगल कद ।।"

(२) "ण च ववहारणओ चप्पलओ, तत्तो सिस्साण पउत्ति दसणादो जो वहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चैव समास्सिदव्वोत्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मगल तत्थ कय ।" (जयधवल पु० १ पृ० ८)

दूसरे अधिकार मे सम्यग्दर्शन के विषयभूत छहो द्रव्यो का अथवा ज्ञान के विषयभूत ज्ञेयो का ११३ गाथाओ द्वारा कथन है। इनमे से मात्र १०८ गाथाओ पर श्री अमृतचन्द्र आचार्य की टीका है। गाथा ९३ से १२६ तक ज्ञेयो का सामान्य कथन है। गाथा ९३ मे बतलाया है कि द्रव्य गुण पर्यायात्मक अर्थ है। जो पर्यायविमूढ है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो निश्चयाभासी है, आत्मा को सर्वथा शुद्धबुद्ध मानकर अशुद्ध अवस्था को स्वीकार नही करता वह पर्यायविमूढ है, क्योकि आत्मा ससार दशा मे अशुद्ध अवस्था से तन्मय हो रहा है। जिस व्यवहाराभासी की द्रव्य पर दृष्टि नही है मात्र पर्याय पर दृष्टि है वह भी पर्यायविमूढ है। गाथा ९४-११३ द्रव्य के सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुण-पर्याय ये तीन लक्षण बतलाये है। स्वरूप अस्तित्व (अवान्तरसत्ता) और सदृश्य-अस्तित्व (महासत्ता) का कथन है। अतद्भाव और पृथक्त्व का अन्तर बतलाया है। कथचित् सत् का कथचित् असत् का उत्पाद है। गाथा ११४-११५ मे द्रव्यार्थिकनय तथा पर्यार्थिकनय के विषयो का और सप्तभगी का कथन है। गाथा ११७-११८ मे बतलाया है कि नामकर्म जीव के स्वभाव का पराभव करके जीव को मनुष्यादि पर्याय रूप करता है। गाथा १२२ मे बतलाया है कि जीव और पुद्गल किस नय से किन भावो के कर्त्ता है। गाथा १२३-१२६ मे ज्ञानचेतना, कर्मचेतना कर्मफलचेतना का कथन है।

गाथा १२७ से १४४ तक द्रव्य-विशेष का कथन है। चेतन-अचेतन, क्रियाशील-नि क्रिय, मूर्त-अमूर्त, प्रदेशत्व-अप्रदेशत्व की अपेक्षा द्रव्यो का कथन है।

गाथा १४५-२०० तक जीवद्रव्य का विशेष कथन है। जीव के द्रव्यप्राणो, ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग, शुभ-अशुभ शुद्धोपयोग का कथन है। पुद्गल परमाणुओ का परस्पर मे बध, जीव के साथ कर्म व नोकर्म का बध तथा बध से छूटने का कथन है।

तीसरा मूल अधिकार चरणानुयोगचूलिका है। इसमे ९६ गाथा है किन्तु श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने मात्र ७५ गाथाओ पर टीका रची है। सयम ग्रहण करने के योग्य कौन है ? ये ११ गाथा है और चारित्राधिकार का यह एक मुख्य विषय है किन्तु श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने इन गाथाओ की टीका क्यो नही लिखी यह एक विचारणीय विषय है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य के काल मे ही श्वेताम्बर और दिगम्बर ऐसे दो सम्प्रदाय बन गये थे । दिगम्बरेतर सम्प्रदाय मे स्त्रीमुक्ति तथा शूद्रमुक्ति का कथन है जिसका खडन श्री कुदकुद आचार्य ने इन ११ गाथाओ मे किया है।

इस तीसरे अधिकार की गाथा २०१ मे यह बतलाया है यदि जीव ससार दु खो से छूटना चाहता है तो उसको मुनिधर्म अवश्य अगीकार करना चाहिये, क्योकि मुनिधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ससार दु खो से छूटने का नही है। उसके पश्चात् यतिधर्म का कथन है। गाथा २११ मे अतरग-वहिरगछेद का कथन है, गाथा २१५ सूक्ष्म पर द्रव्य का सम्बन्ध भी छेद का कारण है और ऐसा वतलाया गया है। वहिरगपरिग्रह के सद्भाव मे अतरग-परिग्रह-त्याग का अभाव होता है (गाथा २२०) गाथा २२४। १-९ मे स्त्रीमुक्ति का निषेध है। गाथा २२४। १०-११ मे दीक्षा के योग्य पुरुप का और गाथा २३० व २३१ मे उत्सर्ग व अपवाद की मैत्री का कथन है।

गाथा २३२-२३५ मे वतलाया है कि आगमाभ्यास के विना मोक्षमार्ग नही है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपत्ता के साथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप आत्मज्ञान भी मोक्षमार्ग के लिये

आवश्यक है। ऐसा ज्ञानी ही क्षण मात्र मे गुप्ति के द्वारा कर्मो को काट डालता है जिसको निर्विकल्प-समाधि रूप आत्मज्ञान से रहित अज्ञानी जीव उन कर्मो को करोडो जन्मो मे भी नही काट सकता (गाथा २३६–२३९) इसलिये प० दौलतराम जी ने छह ढाला मे कहा है—

कोटि जन्म तप तपे ज्ञान विन कर्म झरे जे। ज्ञानी के छिनमाहि त्रिगुप्ति ते सहज टरे वे ।।

गाथा २४०–२४४ मे कर्मो के क्षय करने वाले मुनि का कथन है। गाथा २४५ से शुभोपयोग का कथन है। गाथा २५१ मे उपकार का उपदेश देकर यह बतलाया है कि एक जीव दूसरे का उपकार कर सकता है। गाथा २५४ मे बतलाया है कि शुभोपयोग गृहस्थ को निर्वाण सौख्य का कारण है। एक ही बीज से भूमि की विचित्रता से फल मे विचित्रता होती है। (गाथा २५५)। गाथा २६० मे बतलाया है कि शुद्धोपयोगी व शुभोपयोगी मुनि लोगो को पार कर देते है। गाथा २६४–२६९ श्रमण मे दूषण के कारणो का कथन है। गाथा २७० मे बतलाया है कि सगति का प्रभाव पडता है अर्थात् एक द्रव्य की पर्याय का दूसरे द्रव्य की पर्याय पर प्रभाव पडता है। गाथा २७१ से २७५ तक ससार आदि पाँच तत्त्वो का कथन है। इस प्रकार प्रवचनसार का प्रतिपाद्य विपय है।

जब ज्ञान का इतना ह्रास हो गया कि श्री कुदकुद आचार्य विरचित गाथाओ का यथार्थ अभिप्राय समझने मे कठिनाई होने लगी तो श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने सक्षेप रूप मे तत्त्वप्रदीपिका टीका गूढ सस्कृत भाषा मे रची। जब ज्ञान और कम हो गया जिससे बहुत से विषय विवादास्पद वन गये तब श्री जयसेन आचार्य ने तात्पर्यवृत्ति टीका सरल सस्कृत भाषा मे रची और विवादास्पद विषयो का स्पष्टीकरण किया। श्री जयसेन आचार्य विरचित टीका मे जो विशेष कथन है उसमे से कुछ निम्न प्रकार है—

(१) गाथा ६ मे चारित्र-दर्शन-ज्ञान का फल 'देवासुरमनुराजविभव' बतलाया है। इस पर यह शका हुई कि असुरकुमारो मे सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न हो सकता है, अत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का फल असुरेन्द्र का वैभव नही हो सकता ? श्री जयसेन आचार्य ने इसका समाधान बहुत ही सुन्दर किया है। निदान बध के द्वारा सम्यक्त्व की विराधना करके असुरेन्द्र हो सकता है।

(२) गाथा ८ मे दो धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। श्री जयसेन आचार्य ने निश्चय और व्यवहार, धर्म के दो भेद करके उनका स्वरूप बतलाया है।

(३) गाथा ९ की टीका मे गुणस्थानो की अपेक्षा अशुभ, शुभ व शुद्ध भावो का कथन है।

(४) गाथा ११ की टीका मे शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के नामातर देकर शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के स्वरूप को सरल बना दिया है।

(५) गाथा १८ की टीका मे यह बतलाकर कि "जैसे-जैसे ज्ञेय पदार्थो मे उत्पाद व्यय-ध्रौव्य होता है। वैसे-वैसे ही केवलज्ञान मे परिच्छित्त अपेक्षा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है।" इससे केवलज्ञान के विपय को वहुत स्पष्ट कर दिया है।

(६) अभव्य शब्द से सर्वथा अभव्य न ग्रहण करना किन्तु वर्तमान मे सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति नही है ऐसा अर्थ ग्रहण करना (गाथा ६२ की टीका)। इससे श्री कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थो मे अभव्य शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

(७) अनुकम्पा सम्यग्दर्शन का लक्षण है।[१] स्वय श्री कुदकुद आचार्य ने बोधपाहुड मे बतलाया है कि धर्म विशुद्ध अर्थात् निर्मल होता है।[२] भावपाहुड मे मुनि को छह काय के जीवो की दया करने का उपदेश दिया है,[३] तथा जो मुनि करुणाभाव से सयुक्त है वह समस्त पापो का नाश करता है ऐसा कहा है,[४] शीलपाहुड मे कहा है कि जीव-दया शील का परिवार है[५] और रयणसार मे दया को प्रशस्तधर्म बतलाया है।[६] फिर वे ही श्री कुदकुद आचार्य प्रवचनसार गाथा ८५ मे करुणाभाव को मोह का चिह्न कैसे कह सकते थे? इस गुत्थी को सुलझाने के लिये श्री जयसेन आचार्य ने 'करुणाभाव' की करुणा-अभाव ऐसा सन्धि विच्छेद करके यह बतलाया कि करुणा का अभाव मोह का चिह्न है। करुणा जीव का स्वभाव है उसे कर्म जनित मानने मे विरोध आता है, किन्तु अकरुणा (करुणा का अभाव) सयम घाती (चारित्रमोहनीयकर्म) का फल (चिह्न) है।[७]

(८) ज्ञानी और अज्ञानी से अभिप्राय प्राय. सम्यग्दृष्टि से लिया जाता है, श्री जयसेन आचार्य ने गाथा २३८ मे बतलाया कि "जो वीतरागसमाधि में स्थित है वह आत्मज्ञानी है और जो निर्विकल्पसमाधि से रहित है वह अज्ञानी है।" यदि अज्ञानी का अर्थ मिथ्यादृष्टि लिया जाय तो मिथ्यादृष्टि के तो कर्मो की अविपाकनिर्जरा होती नही है। अत. मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा यह नही कहा जा सकता कि अज्ञानी जिन कर्मो को सहस्र कोटि वर्ष मे खपाता है ज्ञानी उनको क्षणमात्र मे क्षय कर देता है। यह कथन निर्विकल्पसमाधि की अपेक्षा ही सम्भव है।

(९) गाथा २५४ की टीका मे बतलाया है कि गृहस्थ के निश्चयधर्म सभव नही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ गुणस्थान मे निश्चयसम्यक्त्व नही होता है। क्योकि गाथा १४४ की टीका मे वतलाया है कि निश्चयसम्यग्दर्शन वीतरागचारित्र का अविनाभावी है।

(१०) गाथा २५५ मे बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि का शुभोपभोग मात्र पुण्य बध का कारण नही है किन्तु परम्परा मोक्ष का कारण भी है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुत ऐसे स्थल है जहाँ पर श्री जयसेन आचार्य ने विषयो को स्पष्ट किया है कलेवर बढ जाने के भय से उनको यहाँ पर नही दिया जा रहा है स्वाध्याय करने से वे स्थल स्वय ध्यान मे आ जावेगे।

सहारनपुर
वीरनिर्वाण दिवस सम्वत् २४९४

ब्र० रतनचन्द मुख्तार

१—प्रशम सवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षण सम्यक्त्वम्। (धवल पु० १०, पृ० ११५१)

२—"धम्मो दयाविसुद्धो" (बोधपाहुड गा० २५)

३—"छज्जीव सडायदण" (भावपाहुड गा० १३२)

४—"जे करुणा भावसजुत्ता ते सव्वदरिय खभ हणति" (भावपाहुड गा० १५७)

५—"जीवदया सीलस्स वरिवारो" (शीलपाहुड गाथा १९)

६—"दयाइ सद्धम्मे" (रयणसार गाथा ६५)

७—"करुणाजीव सहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणा कारण कम्म वत्तव्व? ण एस दोसो, सजमघादि कम्माण फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।" (धवल १३ पृ० ३६२)

सम्पादकीय

आध्यात्मिक जगत् मे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का स्थान सर्वोपरि है, जिनके आध्यात्मिक चिन्तन की अखण्ड ज्योति से भारत को ही नही अपितु समस्त ससार को आलोक प्राप्त हुआ है। अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द महान् व्यक्तित्व है इन्होने अध्यात्म के क्षेत्र मे एक सुनिश्चित वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रदान की है, जिससे जीवन की जटिल समस्याओ को सुलझाने, आत्म-शक्तिओ को विकसित करने, सासारिक सतापो से मुक्त होने, यथार्थ आत्मिक सुख पाने मे पूर्ण सहायता प्राप्त होती है। इसीलिए भगवान महावीर, गौतमगणधर के साथ-साथ आचार्य कुन्दकुन्द को भी मगल स्वरूप माना गया है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा ही प्रामाणिक मानी गयी है जितने भी बिम्ब प्रतिष्ठित होते है उन पर "कुन्दकुन्दान्वये" लिखा जाता है। निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि परम्परा कुन्दकुन्दान्वयी होने से गौरवास्पद है। महनीय व्यक्तित्व और कृतित्व वाले कुन्दकुन्द के विषय मे जितना भी जाना जा सके, आत्मतोप के लिए अत्यल्प ही है।

दिव्यज्ञान प्राप्त श्री कुन्दकुन्ददेव ने अपना परिचय देश, काल, कुल आदि की दृष्टि से अनावश्यक समझकर नही दिया है मात्र गुरुभक्ति वश बोधपाहुड के अन्त मे अपने गुरु के रूप मे भद्रबाहु का स्मरण किया है[2]। श्री जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति मे श्री कुन्दकुन्द स्वामी के गुरु का नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तिदेव उल्लिखित किया है तथा नन्दिसघ की पट्टावली मे उन्हे जिनचन्द्र का शिष्य कहा गया है। सभवत दोनो ही गुरु रहे है इनमे एक शिक्षागुरु और दूसरे दीक्षा गुरु भी हो सकते है, कौन शिक्षा गुरु थे तथा कौन दीक्षा गुरु थे इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता। गुरु नामो के अतिरिक्त कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहक्षेत्र मे सीमधरस्वामी के समवशरण मे पहुँचने का उल्लेख मिलता है[3] इसके अतिरिक्त जीवन-परिचय के विषय मे विशेष विवरण विविध पट्टावलियो, शिलालेखो आदि से प्राप्त होता है,[4] किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा लिखित परिचयात्मक विवरण सर्वथा अनुपलब्ध है। इनका कृतित्व ही सार्वभौम परिचय है। इन्होने ८४ पाहुडो की रचना की थी किन्तु सभी उपलब्ध नही है सम्प्रति समुपलब्ध कृतियाँ—समयसार, प्रवचनसार, पञ्चा-स्तिकाय, नियमसार, रयणसार, वारस अणुवेक्खा दसणपाहुड लिगपाहुड, शीलपाहुड, सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, पञ्चगुरुभक्ति, थोस्सामि थुदि है। इन रचनाओ को सभी मनीषी श्री कुन्दकुन्द स्वामी की स्वीकार करते है। इनके अतिरिक्त मूलाचार और तिरुवकुरल काव्य ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द द्वारा लिखित कहे जाते है, जिनके विषय मे विद्वान् एकमत नही है। यह भी बहुप्रचलित है कि पट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डो पर परिकर्म नामक टीका इन्ही ने लिखी थी, जो उपलब्ध नही है। सभी कृतिया वस्तुतत्त्व का निरूपण कराने वाली है, भाषा, भाव और वर्ण्य विपय की गम्भीरता लिये हुए है। सभी ग्रन्थो की रचना कुन्दकुदाचार्य ने जैनशौरसेनी मे

---

१ मगल भगवदो वीरो, मगल गोदमो गणी। मगल कोण्डकुदाइ जेण्ह धम्मोत्थु मगल॥

२ बोधपाहुड ६१–६२। ३ दशनसार ४३।

४ असामान्य प्रतिभा के धनी कुन्दकुन्द का जन्म आन्ध्र प्रान्तान्तर्गत कुन्दकुन्दपुरम् मे ईसा पूर्व १०८ मे मे हुआ था, उन्होने ११ वर्ष की अल्प आयु मे ही श्रमण मुनिदीक्षा ली थी तथा ३३ वर्ष तक मुनिपद पर प्रतिष्ठित रहकर ज्ञान और चारित्र की सतत साधना की। ४४ वर्ष की आयु मे (ई० पू० ६४) चतुर्विध सघ ने उन्हे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। वे ५१ वर्ष १० मास १५ दिन इस पद पर विराजमान रहे उन्होने ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की आयु प्राप्त कर ई० पू० १२ मे समाधिमरण धारण कर स्वर्गप्राप्ति की।

मे ही की है, इनकी भाषा मे मागधी और महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दो का भी प्रयोग प्राप्त होता है, जिससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द भाषा की सकीर्णता से दूर थे ।

आचार्य कुन्दकुन्द रचित सभी रचनाएँ श्रेष्ठ है किन्तु उनमे प्रवचनसार (पवयणसार) श्रेष्ठतम है क्योकि इसमे निष्क्रियवृत्ति से छुडाकर कल्याणपथ पर बढने के लिए प्रेरित किया है। बार-बार चारित्र को अगीकार करने की प्रेरणा दी है। दीक्षार्थी और दीक्षा देने वाले की महनोयता को दर्शाया है।

दु:खो से विमुक्ति के लिए मोहरागद्वेष से दूर रहने के लिए अनेको बार सम्बोधित किया है। श्रमणो को श्रमणधर्म के पूर्ण नियमो की परिपालना करने के लिए प्रेरणा देते हुए सासारिक कार्यो मे प्रवृत्ति करने से रोका है। जिन कार्यो से रागद्वेष बढता है ऐसे कार्यो से सतत् सावधान रहने का आदेश दिया है। आत्मकल्याण का परमसाधक होने से यह ग्रन्थराज उपादेय है। कल्याणकारी है। इसीलिए अनेको सस्थाओ के माध्यम से इसके अनेको सस्करण प्रकाशित हो चुके है। इसी शृखला मे आचार्य श्री अमृतचन्द्र कृत तत्त्वदीपिका और आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति उभय सस्क्रत टीकाओ का भाषानुवाद स्व प० अजितकुमार शास्त्री तथा स्व० प० रतनचन्द मुख्तार द्वारा अनूदित प्रवचनसार के दो सस्करण श्री शान्तिवीर दि० जैन ग्रन्थमाला श्री महावीर जी ने प्रकाशित किये है।

उभय टीकाओ के भाषानुवाद से समलकृत ग्रन्थ से स्वाध्यायियो को अधिक लाभ मिला, जिससे ग्रन्थ की माग बढी। स्वाध्यायशील महानुभावो की अभिरुचि और माग को देखते हुए उपाध्यायरत्न १०८ श्री भरतसागर महाराज और आर्यिका १०५ श्री स्याद्वादमती माता जी ने परमपूज्य वात्सल्यमूर्ति आचार्य १०८ श्री विमलसागर महाराज की हीरकजयन्ती के शुभावसर पर प्रकाशित होने वाले ७५ ग्रन्थो के अन्तर्गत उभय टीका भाषानुवाद समलकृत प्रवचनसार को प्रकाशित करने का निर्णय लिया। इसके सशोधन/सम्पादन का उत्तरदायित्व मुझे सौपा। मैने आत्मकल्याण के साधक ग्रन्थराज के स्वाध्याय मनन चिन्तन को उपादेय मानते हुए उपाध्याय श्री भरतसागर महाराज और आर्यिका स्याद्वादमती जी के आदेश एव प्रेरणा को सहर्ष स्वीकार किया।

इसमे आचार्य अमृतचन्द्र ने गाथाओ मे जो पाठ लिये है, आचार्य जयसेन ने उनसे भिन्न पाठ भी ग्रहण किये है, मैने पाठान्तरो को पादटिप्पण के रूप मे प्रस्तुत किया है। हिन्दी टीका एव भावार्थ मे आये हुए उद्धरणो के सन्दर्भ दिए गये है। यथासम्भव ग्रन्थ को परिमार्जित रूप मे प्रकाशित कराया गया है। मुझे आशा एव पूर्ण विश्वास है, यह ग्रन्थ स्वाध्यायी महानुभावो को अत्यधिक उपादेय होगा। मुनिराजो त्यागीव्रती श्रावकजनो को पूर्ण चारित्रनिष्ठ वनाने तथा आत्मकल्याण के लिए साधक होगा।

परमपूज्य आचार्य श्री विमलसागर महाराज, उपाध्याय श्री भरतसागर महाराज के चरणो मे नमोऽस्तु। आर्यिका स्याद्वादमती माता जी को वदामि। ब्र० प० धर्मचन्द शास्त्री, ब्र० वहिन प्रभा पाटनी के प्रति आभार। प्रकाशन के निमित्त अर्थ सहयोगी दातारो के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हुआ पुन कामना करता हू, ग्रन्थराज स्वाध्यायी जनो को आत्मसाधना का निमित्त वने।

जिनोपासक :

डा० श्रेयांसकुमार जैन

व्याख्याता, दि० जैन कालेज वडौत।

पवयणसारो विषय-सूची

ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन नामक प्रथम अधिकार

सुख–अधिकार

गाथा सख्या	विषय	पृष्ठ संख्या

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन नामक द्वितीय अधिकार

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
	अहकार तथा ममकार का लक्षण	२२१–२२
९५	द्रव्य के तीन लक्षण	२२२–२७
९६	अनेक प्रकार के गुण व पर्यायो से और उत्पाद व्यय ध्रौव्य से जो द्रव्य का स्वरूप अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव है	२२७-३३
९७	सर्व द्रव्यो का सत् अर्थात् सादृश्य अस्तित्व अथवा महासत्ता लक्षण है	२३४–३६
९८	द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है और सत् है। जो ऐसा नही मानता वह परसमय है द्रव्य से सत्ता भिन्न नही है तथा एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति नही होती	२३७-४०
९९	उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य सत् है	२४०–४४
१००	उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परस्पर अविनाभावी है	२४४–४८
१०१	उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये द्रव्यस्वरूप हैं द्रव्य से पृथक् पदार्थ नही हैं	२४८–५१
१०२	उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक ही समय मे होते है समय भेद नही है	२५१–५४
१०३	द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है अन्य पर्याय नष्ट होती है किन्तु द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है	२५५–५७
१०४	गुण पर्याय की मुख्यता से द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य का कथन	२५७–५९
१०५	युक्ति द्वारा सत्ता और द्रव्य के अभेद का कथन	२५९–६२
१०६	विभक्त प्रदेशत्व पृथक्त्व है और अतद्भाव अन्यत्व है	२६२–६५
१०७	अतद्भाव (अन्यत्व) का विशेष कथन	२६५–६८
१०८	अतद्भाव का लक्षण सर्वथा–अभाव नही है अथवा गुण-गुणी मे प्रदेश भेद नही है सज्ञादि का भेद ही अतद्भाव है	२६८–७१
१०९	सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणी भाव	२७२–७४
११०	गुण और पर्यायो से द्रव्य का अभेद है	२७४–७५
१११	द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सत् का उत्पाद और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा असत् का उत्पाद होता है	२७५-७९
११२	अनन्यत्व के द्वारा सत् का उत्पाद सिद्ध होता है	२७९–८१
११३	अन्यत्व के द्वारा असत् का उत्पाद सिद्ध होता है	२८१–८३
११४	द्रव्य का अपनी पर्यायो के साथ द्रव्यार्थिकनय से अनन्यत्व है और पर्यायार्थिक नय से अन्यत्व है ऐसा अनेकान्त है	२८३–८५
११५	सप्तभगी का कथन	२८६–९०
११६	ससारी जीव के रागादि विभाव क्रिया स्वभाव से होती है जिसका फल मनुष्यादि पर्याय है जो अनित्य है। उत्कृष्ट वीतरागधर्म मनुष्यादि पर्याय रूप फल को नही देता।	२९०–९३
११७	नामकर्म जीव के स्वभाव का पराभव करके जीव को मनुष्य, तिर्यच, नारक अथवा देव रूप करता है।	२९४–९५

द्रव्य-विशेष कथन

जीव द्रव्य का विशेष कथन

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ

शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोग

जीव-पुद्गल

चरणानुयोग सूचक चूलिका तृतीय अधिकार

आगम अभ्यास मुख्य है

शुभोपयोग

सिरि-कोंडकुंड-आइरिय-पणीदो

पवयणसारो

(प्रवचनसारः)

(टीकाद्वयोपेतः)

श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत–तत्त्वप्रदीपिका टीका
श्रीजयसेनाचार्यकृत–तात्पर्यवृत्ति टीका

ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन

१

॥ मगलाचरणम् ॥

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नम॰ ॥१॥

अन्वयार्थ—[सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय] सर्वव्यापी (सबका ज्ञाता) होने पर भी एक चैतन्यरूप (भाव चैतन्य ही) जिसका स्वरूप है–(जो ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानाकार है अर्थात् सर्वज्ञता को लिये हुए आत्मज्ञ है) जो [स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय] स्वानुभव प्रसिद्ध है (शुद्ध आत्मोपलब्धि से प्रसिद्ध है), और जो [ज्ञानानन्दात्मने] ज्ञानानन्दात्मक है (अतीन्द्रिय पूर्ण-ज्ञान तथा अतीन्द्रिय पूर्ण-मुख-स्वरूप है) ऐसे उस [परमात्मने] परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) के लिये [नम] नमस्कार हो ।

विशेष—'परमात्मा' का अर्थ 'दूसरे का आत्मा' भी होता है और 'परात्मा' का अर्थ 'परमात्मा' अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा भी होता है । यहाँ 'उत्कृष्ट आत्मा' अर्थ है । परमात्मा विशेष्य है और तीन उसके विशेषण है । सर्वज्ञता सहित आत्मज्ञता, शुद्ध आत्मोपलब्धि लक्षणता और अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख-मयता । 'नम.' अव्यय है । उससे यहाँ क्रियापद का काम लिया गया है ।

द्रव्य-भाव रूप श्रुतज्ञान को नमस्कार रूप मङ्गलाचरण—

हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमय महः ।।२।।

अन्वयार्थ—(जो श्रुतज्ञान) [हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोम] क्रीडा मात्र मे महामोह-रूप अन्धकारसमूह को नष्ट कर देता है और जो श्रुतज्ञान [जगत्तत्त्व] जगत् (लोक अलोक) के स्वरूप को [प्रकाशयत्] प्रकाशित करता है, [अद] वह (अनेकान्तमय परस्पर-विरोधी अनेक धर्मात्मिक वस्तु को दिखलाने वाला) [मह] तेज (श्रुतज्ञान) [जयति] जयवन्त है, अर्थात् उस श्रुतज्ञान के लिये नमस्कार है ।

विशेष—**अनेकान्तात्मक द्रव्य और भाव रूप श्रुतज्ञान से मोह सहज में नष्ट हो जाता है, और छः द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित हो जाता है । इसलिए वह नमस्कार करने योग्य है ।**

टीका करने की प्रतिज्ञा तथा प्रयोजन—

परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम् ।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ।।३।।

अन्वयार्थ—[परमानन्द–सुधारसपिपासितानां] परमानन्दरूप सुधा रस के पिपासु (अतीन्द्रियसुखरूप अमृत के प्यासे) [भव्याना] भव्यो के [हिताय] हित के लिये [प्रकटिततत्त्वा] श्री प्रवचनसार जी की गाथाओ के तत्त्व को अथवा वस्तु-तत्त्व को (स्वरूप को) प्रगट करने वाली [इयं] यह [प्रवचनसारस्य] श्री प्रवचनसार की [वृत्ति.] टीका [क्रियते] [मुझ अमृतचन्द्राचार्य द्वारा] की जाती है ।

विशेष—**अध्यात्म रस के पिपासुओं की पिपासा शान्ति हेतु सरल शब्दों में अध्यात्म पदावली के रहस्य को स्फुटित करने के लिए टीका रची गयी है ।**

अथ खलु कश्चिदासन्नससारपारावारपार समुन्मीलितसातिशयविवेकयोतिरस्तमितस-मस्तैकान्तवादाविद्याभिनिवेश पारमेश्वरीमनेकान्तवादविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्र-हतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमा भगवत्पचपरमे-ष्ठिप्रसादोपजन्या परमार्थसत्या मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थ-नायकपुर सरान् भगवत पचपरमेष्ठिन प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन सभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्ग सप्रतिपद्यमान प्रतिजानीते—

भूमिका—अब (**टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि प्रथम पाँच गाथाओं की भूमिका लिखते हैं।**) (१) **निकट है संसार समुद्र का किनारा जिनके (जो निकट-भव्य है), (२) प्रकट हो गई है साति-**

शय विवेक ज्योति जिनकी (अर्थात् जिनके परम भेद-विज्ञान का प्रकाश उत्पन्न हो गया है—जो सम्यग्दृष्टि बन चुके है), (३) नष्ट हो गया है समस्त एकान्तवाद विद्या (ज्ञान) का अभिप्राय जिनके (जिनके एकान्त पक्ष की पकड़ रूप मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया है), (४) परमेश्वर (जिनेन्द्रदेव) की अनेकान्तवाद विद्या (ज्ञान) को प्राप्त करके (सम्यग्ज्ञानी बनकर), (५) समस्त पक्ष का परिग्रह त्याग देने से (इष्ट वस्तु मे राग और अनिष्ट वस्तुओं मे द्वेष के पक्ष की पकड़ को छोड़ देने से) अत्यन्त मध्यस्थ (उदासीन-वीतरागी) होकर (सम्यक्चारित्रवान् होकर), (६) जो मोक्षलक्ष्मी सब (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) पुरुषार्थो मे सारभूत होने से आत्मा के लिये अत्यन्त हितरूप (उत्कृष्ट हित-स्वरूप) है, जो मोक्ष-लक्ष्मी भगवन्त परमेष्ठी के प्रसाद से उत्पन्न होने योग्य है, जो मोक्ष-लक्ष्मी परमार्थ रूप होने के कारण सत्य है और जो मोक्ष-लक्ष्मी अक्षय है (अविनाशी है—एक बार प्राप्त होकर सदा बनी रहती है) ऐसी उस मोक्ष-लक्ष्मी को उपादेयपने से निश्चित करते हुए (प्राप्त करने योग्य है, ऐसा निर्णय करते हुए), (७) प्रवर्तमान तीर्थ के नायक (श्री महावीरस्वामी) पूर्वक भगवन्त पंचपरमेष्ठी को प्रणाम और वन्दना से होने वाला (भेदाभेदात्मक नमस्कार के द्वारा) सम्मान करके (काय के विशेष नमन द्वारा और वचन के द्वारा उनके प्रति मन में बहुमान लाकर) (८) सम्पूर्ण पुरुषार्थ से मोक्ष मार्ग के चारित्र को आश्रय करते हुए, (कश्चित्) कोई निकट भव्यात्मा प्रतिज्ञा करते है—

तात्पर्यवृत्ति

नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसम्पदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥१॥

अर्थ—जिनकी सम्पत्ति परम अतीन्द्रिय सुख है, जो सुख परम चैतन्य-स्वरूप निजात्मा से उत्पन्न हुआ है, ऐसे परमागम के साररूप सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार हो ।

(अथास्यान्तराधिकारस्योपोद्घात)—अथ प्रवचनसारव्याख्यायां मध्यमरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थायां मुख्यगौणरूपेणान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वप्ररूपणसमर्थायां च प्रथमत एकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानाधिकार, तदनन्तर त्रयोदशाधिकशतगाथाभिर्दर्शनाधिकार, ततश्च सप्तनवतिगाथाभिश्चारित्राधिकारश्चेति समुदायेनैकादशाधिकत्रिशतप्रमितसूत्रै सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण महाधिकारत्रय भवति । अथवा टीकाभिप्रायेण तु सम्यग्ज्ञानज्ञेयचारित्राधिकारचूलिकारूपेणाधिकारत्रयम् । तत्राधिकारत्रये प्रथमतस्तावज्ज्ञानाभिधानमहाधिकारमध्ये द्वासप्ततिगाथापर्यन्त शुद्धोपयोगाधिकार कथ्यते । तानु

द्वासप्ततिगाथासु मध्ये **'एस सुरासुर'** इमा गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण चतुर्दशगाथापर्यन्त पीठिका। तदनन्तर सप्तगाथापर्यन्त सामान्येन सर्वज्ञसिद्धि., तदनतर त्रयस्त्रिशद्गाथापर्यन्त ज्ञानप्रपञ्च:। ततश्चाप्टादशगाथापर्यन्त सुखप्रपञ्चश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन शुद्धोपयोगाधिकारो भवति । अथ पञ्चविंशतिगाथापर्यन्त ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारश्चेत्यधिकारद्वयेन, तदनन्तर स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन चैकोत्तरशतगाथाभि प्रथममहाधिकारे समुदायपातनिका ज्ञातव्या।

इदानी प्रथमपातनिकाभिप्रायेण प्रथमत पञ्चगाथापर्यन्त पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारादिप्ररूपेण-प्रपञ्च, तदनन्तर सप्तगाथापर्यन्त ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयपीठिकाव्याख्यान क्रियते, तत्र पचस्थलानि भवन्ति तेष्वादौ नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चक, तदनन्तर चारित्रसूचनमुख्यत्वेन **'सपज्जइ णिव्वाण'** इति प्रभृति गाथात्रयमथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन **'जीवो परिणमदि'** इत्यादिगाथा-सूत्रद्वयमथ तत्फलकथनमुख्यतया **'धम्मेण परिणदप्पा'** इति प्रभृति सूत्रद्वयम्। अथ शुद्धोपयोगध्यातु पुरुषस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलदर्शनार्थंच प्रथमगाथा, शुद्धोपयोगिपुरुषलक्षणकथनेन द्वितीया चेति **'अइसयमादसमुत्थ'** इत्यादि गाथाद्वयम्। एव पीठिकाभिधानप्रथमान्तराधिकारे स्थलपञ्चकेन चतुर्दशगाथाभिस्समुदाय- पातनिका प्रोक्ता।

अथ कश्चिदासन्नभव्य शिवकुमारनामा स्वसवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैक—लक्षणसुखामृत-विपरीतचतुर्गतिससारदु खभयभीत, समुत्पन्नपरमभदविज्ञानप्रकाशातिशय, समस्तदुर्नयैकान्तनिरा-कृतदुराग्रह, परित्यक्तसमस्तशत्रु-मित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्य. सारभूता-मत्यन्तात्महितामविनश्वरा पञ्चपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्ना मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाण, श्रीवर्धमान-स्वामितीर्थंकरपरमदेवप्रमुखान् भगवत पञ्चपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्या प्रणम्य परमचारित्र-माश्रयामीति प्रतिज्ञा करोति।

उत्थानिका—इस प्रवचनसार की व्याख्या मे मध्यम-रुचि-धारी शिष्य को समझाने के लिये मुख्य तथा गौण रूप से अन्तरगतत्व (निज आत्मा) वाह्यतत्व (अन्य पदार्थ) को वर्णन करने के लिये सर्वप्रथम एक सौ एक गाथा मे ज्ञानाधिकार को कहेगे। इसके वाद एक सौ तेरह गाथाओ मे दर्शन का अधिकार कहेगे। अनन्तर सत्तानवे गाथाओ मे चारित्र का अधिकार कहेगे। इस तरह समुदाय से तीन सौ ग्यारह गाथाओ मे ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप तीन महा-अधिकार है। अथवा टीका के अभिप्राय से सम्यग्ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र अधिकार चूलिका सहित तीन अधिकार है।

इन तीन अधिकारो मे पहले ही ज्ञान नाम के महा अधिकार मे बहत्तर गाथा पर्यंत शुद्धोपयोग नाम के अधिकार को कहेगे। इन ७२ गाथाओ के मध्य मे **'एस सुरासुर'** इस गाथा को आदि लेकर पाठ क्रम से चौदह गाथा पर्यंत पीठिकारूप कथन है, जिसका व्याख्यान कर चुके है। इसके पीछे सात गाथाओ तक सामान्य से सर्वज्ञ की सिद्धि करेंगे। इसके पश्चात् तेंतीस गाथाओ मे ज्ञान का वर्णन है फिर अठारह गाथा तक सुख का वर्णन है। इस तरह

चार अन्तर अधिकारो मे शुद्धोपयोग का अधिकार है। आगे पच्चीस गाथा तक ज्ञान-कण्ठिका-चतुष्टय को प्रतिपादन करते हुए दूसरा अधिकार है। इसके पीछे चार स्वतन्त्र गाथाएँ है। इस तरह एक सौ एक गाथाओ के द्वारा प्रथम महा–अधिकार मे समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

यहाँ पहली पातनिका के अभिप्राय. से पहले ही पाँच गाथाओ तक पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार आदि का वर्णन है, इसके पीछे सात गाथाओं तक ज्ञानकठिका चतुष्टय की पीठिका का व्याख्यान है इनमे भी पाँच स्थान है। जिसमे आदि मे नमस्कार की मुख्यता से पाँच गाथाएँ है, फिर चारित्र की सूचना से **'संपज्जइणिव्वाणं'** इत्यादि तीन गाथाएँ है, फिर शुभ अशुभ शुद्ध उपयोग की सूचना की मुख्यता से **'जीवो परिणमदि'** इत्यादि गाथाएँ दो है, फिर उनके फल कथन की मुख्यता से **'धम्मेण परिणदप्पा'** इत्यादि सूत्र दो है। फिर शुद्धोपयोग को ध्याने वाले पुरुष के उत्साह बढाने के लिये तथा शुद्धोपयोग का फल दिखाने के लिये पहली गाथा है। फिर शुद्धोपयोगी पुरुष का लक्षण कहते हुए दूसरी गाथा है। इस तरह **'अइस-इमादसमुत्थं'** आदि को लेकर दो गाथाएँ है। इस तरह पीठिका नाम के पहले अन्तराधिकार मे पाँच स्थलो के द्वारा चौदह गाथाओ से समुदाय पातनिका कही है।

अनन्तर शिवकुमार नामक कोई निकट भव्य, जो स्वसवेदन से उत्पन्न होने वाले परमानन्दमयी एक लक्षण के धारी सुखरूपी अमृत से विपरीत चतुर्गति रूप ससार के दु खो से भयभीत है, जिसे परमभेद विज्ञान के प्रकाश का माहात्म्य प्रकट हो गया है, जिसने समस्त दुर्नय रूपी एकान्त के दुराग्रह को दूर कर दिया तथा सर्व शत्रु-मित्र आदि का पक्षपात छोडकर व अत्यन्त मध्यस्थ होकर धर्म अर्थ काम पुरुषार्थो की अपेक्षा अत्यन्त सार और आत्महितकारी अविनाशी व पञ्चपरमेष्ठी के प्रसाद से उत्पन्न होने वाले मोक्ष लक्ष्मीरूपी पुरुषार्थ को अगीकार करते हुए श्री वर्धमान स्वामी तीर्थङ्कर परमदेव प्रमुख भगवान् पञ्चपरमेष्ठियो को द्रव्य और भाव नमस्कार कर परम चारित्र का आश्रय ग्रहण करता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करता है।

ऐसे निकट भव्य शिवकुमार को सम्बोधन करने के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रन्थ की रचना करते है।

अथ सूत्रावतारः—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदंधोद[1] घाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥२॥
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं[2] ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥४॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज[3] ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥५॥ (पणगं)

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दित धौतघातिकर्ममलम् ।
प्रणमामि वर्द्धमान तीर्थ धर्मस्य कर्तारम् ॥१॥
शेषान् पुनस्तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान् ।
श्रमणाश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ॥२॥
तास्तान् सर्वान् समक समक प्रत्येकमेव प्रत्येकम् ।
वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ॥३॥
कृत्वार्हद्भ्य सिद्धेभ्यस्तथा नमो गणधरेभ्यः ।
अध्यापकवर्गेभ्य साधुभ्यश्चैव सर्वेभ्य ॥४॥
तेषा विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम समासाद्य ।
उपसम्पद्ये साम्य यतो निर्वाणसप्राप्ति ॥५॥ (पञ्चकम्)

एष स्वसवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्माहं सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितत्वात्त्रिलोकैकगुरुं, धौतघातिकर्ममलत्वाज्जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्य, योगिनां तीर्थत्वात्तारणसमर्थ, धर्मकर्तृत्वाच्छुद्धस्वरूपवृत्तिविधातारम्, प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरपरमपूज्यसुगृहीतनामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि ॥१॥ तदनु-विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान्, सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्संभावितपरम-

१ धोय (ज० वृ०) ।
२ पत्तेयमेव पत्तेय (ज० वृ०) ।
३ समामिज्ज (ज० वृ) ।

शुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ।।२।। तदन्वेतानेव पञ्चपरमेष्ठिनस्तत्तद्व्यक्तिव्यापिनः सर्वानेव सांप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासंभवान्महाविदेहभूमिसंभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य युगपद्युगपत्प्रत्येक प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वयवरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमङ्गलाचारभूतकृतिकर्मशास्त्रोपदिष्टवन्दनाभिधानेन सम्भावयामि ।।३।। अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलविलीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैतं नमस्कारं कृत्वा ।।४।। तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसंपादकमाश्रमं समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसम्प्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलङ्कविविक्ततया निर्वाणसम्प्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसपद्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यं गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः। एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्ग सम्प्रतिपन्नः ।।५।।

अन्वयार्थ—[एष] यह (मै कुन्दकुन्द) [सुरासुर–मनुष्येन्द्रवन्दितम्] सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्रो से वन्दित [धौतघातिकर्ममलम्] चार घातिया रूप कर्म-मलको धो डालने वाले [तीर्थम्] तीर्थस्वरूप भव्य जीवो को ससार–समुद्र से तारने वाले [धर्मस्य कर्तारम्] और धर्म के कर्ता (प्रवर्तक) ऐसे [वर्धमानम्] वर्धमान नामक अन्तिम तीर्थकर को प्रणाम करता हूँ ।।१।।

[पुन.] फिर-साथ ही [विशुद्ध–सद्भावान्] विशुद्ध स्वभाव वाले [ससर्वासिद्धान्] सव सिद्धात्माओ सहित [शेषान् तीर्थकरान्] अवशेष ऋषभादि पार्श्व पर्यन्त तेईस तीर्थकरो को [च] और [ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपोवीर्याचारान्] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार एव वीर्याचार रूप आचारो के परिपालक [श्रमणान्] श्रमणो (निर्गन्थ गुरुओ) को भी [प्रणमाणि] प्रणाम करता हूँ ।।२।।

[तान् तान् सर्वान्] उन उन सबकी-पूर्वोक्त चौबीस तीर्थकर, सव सिद्ध और आचार्यो, उपाध्याय व सर्व-साधु स्वरूप श्रमणो की [मानुषे क्षेत्रे] तथा मनुष्य लोक मे [वर्तमानान्] विद्यमान [अर्हत.] अरहतो की [च] भी [समकसमकम्] साथ-साथ समुदाय के रूप मे [प्रत्येकम् एव प्रत्येकम्] अथवा प्रत्येक प्रत्येक की [वन्दे] वन्दना करता हूँ ।।३।।

[इति] इस प्रकार [अर्हद्भ्य] अरहतो को [सिद्धेभ्य] सिद्धो को [तथा] और [गणधरेभ्य] गणधरो को–आचार्यो को [अध्यापकवर्गेभ्य] उपाध्यायो को [सर्वेभ्यः साधुभ्य] तथा सव ही साधुओ को [नम कृत्वा] नमस्कार करके [तेपाम्] उन पाचो

परमेष्ठियो के [विशुद्ध-दर्शन-ज्ञानप्रधानाश्रमम्] निर्मल ज्ञान-दर्शन की प्रधानता—वाले आश्रम को [समासाद्य] प्राप्त करके [साम्यम्] समताभाव स्वरूप वीतरागचारित्र का [उपसम्पद्ये] आश्रय लेता हूँ [यत.] जिसकी सहायता से [निर्वाणसम्प्राप्ति·] मुक्ति की प्राप्ति होती है ॥४–५॥

टीका—**स्व-सवेदन प्रत्यक्ष का विषयभूत होकर दर्शन-ज्ञानरूप सामान्य स्वरूप वाला यह मै (कुन्दकुन्दाचार्य) सर्व प्रथम उन परम भट्टारक, देवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य एवं निर्मल कीर्तिवाले श्री वर्धमान देव को प्रणाम करता हूं, जो वर्तमानमे चल रहे तीर्थ के नायक सुरेन्द्र, धरणेन्द्र और नरेन्द्रों (तीनों लोकोंके अधिपतियों से) से वन्दित होने के कारण तीनो लोको के अद्वितीय गुरु, घातियाकर्मरूप मैलके धो डालने से समस्त लोक के अनुग्रह करने में समर्थ ऐसी अनन्त शक्तिरूप सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य से सुशोभित योगीजनो के तीर्थ होने से उनके तारने मे समर्थ, और धर्म के प्रवर्तक होने से शुद्ध स्वरूपवाली प्रवृत्ति के विधाता (कर्ता) है ॥१॥**

तत्पश्चात्-श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार करने के अनन्तर–विशुद्ध स्वभाव वाले होने से जिस प्रकार प्रथमादि सोलह तावों को प्राप्त उत्तम जाति के सुवर्ण को अन्तिम ताव से उतारने पर वह अपने विशुद्ध व निर्मल स्वभाव को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो उस सुवर्ण के समान विशुद्ध दर्शन-ज्ञान रूप स्वभाव को प्राप्त कर चुके है, ऐसे अतीत तीर्थ के शेष अधिनायकों को (वृषभादि पार्श्व पर्यन्त तेईस तीर्थकरों को) सब सिद्धों को, तथा ज्ञानाचार दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार रूप पॉच प्रकार के आचारों से युक्त होने के कारण जिनके अतिशय शुद्ध उपयोग की भूमिका की सम्भावना हो चुकी है, अर्थात् जो शुद्ध उपयोग की प्राप्ति के अभिमुख है, ऐसे आचार्य उपाध्याय और साधुत्व विशेषणो से भेद को प्राप्त हुए श्रमणों को-निर्ग्रन्थ गुरुओ को भी प्रणाम करता हूँ ॥२॥

तत्पश्चात् विविध व्यक्तियों में व्याप्त रहने वाले इन्ही पॉचों परमेष्ठियों का मै इस समय इस भरतक्षेत्र मे उत्पन्न तीर्थंकरों की सम्भावना के न होने पर भी विदेहक्षेत्र में तो उनकी सम्भावना है ही, अतः मनुष्यक्षेत्र-वर्ती (अढाईद्वीपस्थ पन्द्रह कर्मभूमियों में वर्तमान) तीर्थंकरो के साथ वर्तमान काल को विषयभूत करके–वर्तमान काल मे अवस्थित जैसे मानकर समुदायरूप मै उन सबको साथ-साथ तथा पृथक्-पृथक् रूप से भी मोक्ष-लक्ष्मी के स्वयंवर-स्वरूप उत्कृष्ट जिनदीक्षा-कल्याणक के अवसरोचित मंगलाचरणभूत कृतिकर्म नामक शास्त्र में प्ररूपित वंदना के नाम से सम्भावना करता हूँ—उसके प्रति प्रमाणादि के रूप मे आदर व्यक्त करता हुआ आराधन करता हुँ ॥३॥

इस प्रकार से अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और समस्त साधुओं को प्रणाम व वंदना के नाम ये प्रवृत्ति मे आये हुये द्विविधतारूप द्वैत द्वारा भाव्य-भावक, आराध्य-आराधक भाव से वृद्धिङ्गत अतिशय गाढ़ आपस में एक-मेक हो जाने के बल से समस्त स्व-पर भेद के विलीन हो जाने पर जिसमें अद्वैतभाव (एकत्व या अभेद) आ चुका है, ऐसे अद्वैत नमस्कार को करके उन्हीं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओं के निर्मल ज्ञान व दर्शन की प्रधानता से स्वभावतः शुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभावरूप आत्मतत्व के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन और उसी के अवबोधरूप सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कराने वाले आश्रम को प्राप्त करके स्वयं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न सम्पत्तिशाली होता हुआ, कुछ कषाय के अंश के जीवित रहने से पुण्यबन्ध की प्राप्ति के कारणभूत सरागचारित्र के क्रम मे आ पडने पर भी उसको दूर लांघकर समस्त कषाय रूप कलि-कलंक से भिन्न होने के कारण जो वीतरागचारित्र नामक समताभाव मुक्ति प्राप्ति का कारणभूत है, उसका आश्रय लेता हूँ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकाग्रता को प्राप्त हुआ हूँ, इस प्रकार प्रतिज्ञा का अभिप्राय है। इस प्रकार यह साक्षात् मोक्षमार्ग को प्राप्त हुआ है ।।४-५।।

विशेषार्थ—यहाँ भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने मुक्ति के कारण-भूत प्रवचनसार नामक इस ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम उन अन्तिम तीर्थकर श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार किया है, जिनका वर्तमान में तीर्थ चल रहा है। इसके पश्चात् उन्होने आदिनाथ प्रभृति उन शेष तेईस तीर्थकरों को भी नमस्कार किया है, जिनका तीर्थ यथासमय भूतकाल में चलता रहा है। साथ ही उन्होंने सिद्धों, आचार्यो, उपाध्यायों और सर्वसाधुओं को भी नमस्कार किया है। अनन्तर उन्होंने मनुष्य लोक में वर्तमान सब ही अरहंतो की समुदाय रूप में और पृथक्-पृथक् भी वंदना की है। अन्त मे उन्होंने यह प्रतिज्ञा की है कि इस प्रकार से मै अरहंतों, सिद्धों, गणधरों और अध्यापक वर्ग के रूप में आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को भी नमस्कार करके उनके विमल दर्शन-ज्ञानादिस्वरूप निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त कराने वाले आश्रम का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और वीतरागचारित्र से सम्पन्न होता हूँ। सरागचारित्र संवर निर्जरा के साथ पुण्य बन्ध का भी कारण है और मोक्ष का परम्परा कारण न होने से उन्होंने उसकी उपेक्षा की है और साम्य नाम से प्रसिद्ध एक वीतरागचारित्र से अपने को सम्पन्न–सम्पत्तिशाली बतलाया है, कारण कि परमानन्द स्वरूप मुक्ति का कारण एकमात्र वही है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिज्ञा का अभिप्राय सूचित किया है कि मै जो

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप एकाग्रता को प्राप्त हुआ हूँ, यही मेरा प्रतिज्ञात अर्थ है। कारण कि उक्त रत्नत्रय की एकतारूप एकाग्रता ही साक्षात मोक्ष का मार्ग है।

यहां वृत्तिकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पाँच परमेष्ठियों के लिये किये गये नमस्कार को द्वैत व अद्वैतरूप दोनो प्रकार का बतलाया है। द्वैत तो उसमें इसलिये है कि प्रणाम व वंदना के कर्ता तो आचार्य कुन्दकुन्द है तथा उस प्रणाम व वंदना के विषय है उपर्युक्त पाँचो परमेष्ठी। इस प्रकार जहाँ उपास्य का भेद है वहां उनको किया गया नमस्कार द्वैत ही हो सकता है। पर जब जीव निश्चय रत्नत्रय की एकतारूप एकाग्रता को प्राप्त होता है, तब उस समय निर्विकल्पसमाधि मे उक्त प्रकार का उपास्य-उपासक आदि किसी प्रकार का द्वैतभाव नही रहता, इसीलिये ऐसा नमस्कार अद्वैत रूप ही होता है ॥१-५॥

तात्पर्यवृत्ति

पणमामीत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यान क्रियते—**पणमामि** प्रणमामि। स क. कर्ता ? **एस** एषोऽह ग्रन्थकरणोद्यतमना स्वसवेदनप्रत्यक्ष। कम् ? **वड्ढमाण** अवसमन्तादृद्ध वृद्ध मान प्रमाण ज्ञान यस्य स भवति वर्धमान, 'अवाप्योरल्लोप' इति लक्षणेन भवत्यकारलोपोऽवशब्दस्यात्र, त रत्नत्रयात्मकप्रवर्तमानधर्मतत्वोपदेशक श्रीवर्धमानतीर्थकरपरमदेवम्। क्व प्रणमामि ? प्रथमत एव। कि विशिष्ट ? **सुरासुरमणुसिदवंदिद** त्रिभुवनाराध्यानन्तज्ञानादिगुणाधारपदाधिष्ठितत्वात्तत्पदाभिलाषिभिस्त्रिभुवनाधीशै सम्यगाराध्यपादारविन्दत्वाच्च सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितम्। पुनरपि किविशिष्ट ? **धोयघाइकम्ममल** परमसमाधिसमुत्पन्नरागादिमलरहितपारमार्थिकसुखामृतरूपनिर्मलनीरप्रक्षालितघातिकर्ममलत्वादन्येषा पापमलप्रक्षालनहेतुत्वाच्च धौतघातिकर्ममलम्। पुनश्च किलक्षणम् ? **तित्थ** दृष्टश्रुतानुभूतविषयसुखाभिलाषरूपनीरप्रवेशरहितेन परमसमाधिपोतेनोत्तीर्णससारसमुद्रत्वात् अन्येषा तरणोपायभूतत्वाच्च तीर्थम्। पुनश्च कि रूपम् ? **धम्मस्स कत्तार** निरुपरागात्मतत्त्वपरिणतिरूपनिश्चयधर्मस्योपादानकारणत्वात् अन्येषामुत्तमक्षमादिबहुविधधर्मोपदेशकत्वाच्च धर्मस्य कर्तारम्। इति क्रियाकारकसम्बन्ध। एवमन्तिमतीर्थंकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥१॥ तदनन्तर प्रणमामि। कान् ? **सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे** शेषतीर्थकरान्, पुन: ससर्वसिद्धान् वृषभादिपार्श्वपर्यन्तान् शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणसर्वसिद्धसहितानेतान् सर्वानपि। कथभूतान् ? **विसुद्धसब्भावे** निर्मलात्मोपलब्धिबलेन विश्लेषिताखिलावरणत्वात्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च विशुद्धसद्भावान्। **समणे य** श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूश्च। किलक्षणान् ? **णाणदसणचरित्ततववीरियायारे** सर्वविशुद्धद्रव्यगुणपर्यायात्मके चिद्वस्तुनि यासौ रागादिविकल्परहितनिश्चलचित्तवृत्तिस्तदन्तर्भूतेन व्यवहारपञ्चाचारसहकारिकारणोत्पन्नेन निश्चयपञ्चाचारेण परिणतत्वात् सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारोपेतानिति। एव शेषत्रयोविशतितीर्थंकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥२॥ अथ **ते ते सव्वे** तास्तान्पूर्वोक्तानेव पञ्चपरमेष्ठिन सर्वान् **वदामि य** वन्दे, अह कर्ता। **कथ ? समगं समग** समुदायवन्दनापेक्षया युगपद्युगपत्। पुनरपि कथ ? **पत्तेयमेव पत्तेय** प्रत्येकवन्दनापेक्षया प्रत्येक प्रत्येकम्। न केवलमेतान् वन्दे। **अरहते** अर्हत। किविशिष्टान् ? **वट्टते माणुसे खेत्ते**

वर्तमानान् । क्व ? मानुषे क्षेत्रे । तथाहि—साम्प्रतमत्र भरतक्षेत्रे तीर्थकराभावात् पञ्चमहाविदेहस्थित सीमन्धरस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रभृतितीर्थकरैः सह तानेव पञ्चपरमेष्ठिनो नमस्करोमि । कया ? करणभूतया मोक्षलक्ष्मीस्वयवरमण्डपभूते जिनदीक्षाक्षणे मङ्गलाचारभूतया अनन्तज्ञानादि-सिद्धगुणभावनारूपया सिद्धभक्त्या, तथैव निर्मलसमाधिपरिणतपरमयोगिगुणभावनालक्षणया योगभक्त्या चेति । एव पूर्वविदेहतीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गतेत्यभिप्रायः ।।३।। अथ **किच्चा** कृत्वा । कम् ? **णमो** नमस्कारम् । केभ्य ? **अरहंताण सिद्धाण तह गणहराणं अज्झावयवग्गाणं साहूण चेव** अर्हत्सिद्धगणधरोपाध्यायसाधुभ्यश्चैव । कतिसख्योपेतेभ्य ? **सव्वेसि** सर्वेभ्यः । इति पूर्वगाथात्रयेण कृतपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारोपसहारोऽयम् ।।४।। एवं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कार कृत्वा कि करोमि ? **उवसपयामि** उपसपद्ये समाश्रयामि । किम् ? **सम्मं** साम्य चारित्रम् । यस्मात् कि भवति ? **जत्तो णिव्वाणसपत्ती** यस्मान्निर्वाणसप्राप्ति । कि कृत्वा पूर्व ? **समासिज्ज** समासाद्य प्राप्य । कम् ? **विसुद्धणाणदसणपहाणासम** विशुद्धज्ञानदशनलक्षणप्रधानाश्रमम् । केषा सम्बधित्वेन ? **तेसि** तेषा पूर्वोक्तपरमेष्ठिनामिति । तथाहि—अहमाराधकः, एते चार्हदादय आराध्या, इत्याराध्याराधक-विकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते । रागाद्युपाधिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनात्मन्येवाराध्याराधक-भाव. पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते । इत्येवलक्षण पूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिसम्बधिन द्वैताद्वैतनमस्कार कृत्वा । ततः कि करोमि ? रागादिभ्यो भिन्नोऽय स्वात्मोत्थसुखस्वभाव. परमात्मेति भेदज्ञान, तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रुचिरूप सम्यक्त्वमित्युक्तलक्षणज्ञानदर्शनस्वभाव, मठचैत्यालयादिलक्षणव्यवहाराश्रमाद्विलक्षण, भावाश्रमरूप प्रधानाश्रम प्राप्य, तत्पूर्वक क्रमायातमपि सरागचारित्र पुण्यबन्धकारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्र-महमाश्रयामीति भावार्थ. । एव प्रथमस्थले नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चक गतम् ।।५।।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एस) यह जो मै ग्रन्थकार इस ग्रन्थ को करने का उद्यमी हुआ हूँ और अपने ही द्वारा अपने आत्मा का अनुभव करने मे लवलीन हूँ सो (सुरासुर-मणुसिदवदिदं) तीन जगत् में पूजने योग्य अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के आधारभूत अर्हंत पद में विराजमान होने के कारण से तथा इस पद के चाहने वाले तीन भुवन के बड़े पुरुषों द्वारा भले प्रकार जिनके चरण कमलों की सेवा की गई है इस कारण से स्वर्गवासी देवो और भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवो के इन्द्रों से वंदनीक, (धोयघाइ-कम्ममलं) परम आत्म-लवलीनतारूप समाधिभाव से जो रागद्वेषादि मलों से रहित निश्चय आत्मीक सुखरूपी अमृतमय निर्मल जल उत्पन्न होता है, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातियाकर्मो के मल को धोने वाले अथवा दूसरो के पापरूपी मल के धोने के लिए निमित्त कारण होने वाले, (धम्मस्स कत्तारं) रागादि से शून्य निज आत्मतत्व मे परिणमन रूप निश्चय धर्म के उपादान कर्त्ता अथवा दूसरे जीवो को उत्तम क्षमा आदि अनेक प्रकार धर्म का उपदेश देने वाले (तित्थं) तीर्थ अर्थात् देखे, सुने, अनुभवे इन्द्रियो के विषय सुख की इच्छा रूप जल के प्रवेश से दूरवर्ती,**

परम समाधिरूपी जहाज पर चढ़कर संसार समुद्र से तिरने वाले अथवा दूसरे जीवों को संसार सागर से पार होने का उपाय-मय एक जहाजस्वरूप (वडढ्माणं) सब तरह अपने उन्नतरूप ज्ञान को धरने वाले तथा रत्नत्रयमय धर्म तत्व के उपदेश करने वाले श्री वर्धमान तीर्थंकर परमदेव को (पणमामि) नमस्कार करता हूँ ॥१॥

(पुण) फिर मै (विसुद्धसब्भावं) निर्मल आत्मा के अनुभव के बल से सर्व आवरण को दूरकर केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव को प्राप्त होने वाले (सेसे तित्थयरे) शेष वृषभ आदि पार्श्वनाथ पर्यंत २३ तीर्थंकरो को (ससब्बसिद्धे) और शुद्ध आत्मा की प्राप्ति-रूप सर्व सिद्ध महाराजो को (य) तथा (णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे) सर्व प्रकार विशुद्धद्रव्य गुण पर्यायमय-चैतन्य वस्तु मे जो रागद्वेष आदि विकल्पों से रहित निश्चल चित्त का वर्तना उसमे अंतर्भूत जो व्यवहारदर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य सहकारी कारण से उत्पन्न निश्चय पंचाचार उसमे परिणमन करने से यथार्थ पंचाचार को पालने वाले (समणे) श्रमण शब्द से वाच्य आचार्य, उपाध्याय, और साधुओ को नमस्कार करता हूँ ॥२॥ (ते ते सव्वे) उन उन पूर्व मे कहे हुए पंच परमेष्ठियो को (समगं समगं) समुदाय रूप वंदना की अपेक्षा एक साथ तथा (पत्तेयं पत्तेयं) प्रत्येक को अलग-अलग वंदना की अपेक्षा प्रत्येक को (य) और (माणुसे खेत्ते) मनुष्यों को रहने के क्षेत्र ढाईद्वीप मे (वट्टंते) वर्तमान (अरहंते) अरहंतो को (वंदामि) मै वन्दना करता हूँ। भाव यह कि वर्तमान में इस भरतक्षेत्र में तीर्थंकरो का अभाव है परन्तु ढाईद्वीप के पाँच विदेहों मे सीमन्धर स्वामी आदि २० तीर्थंकर परमदेव विराजमान है, इन सबके साथ उक्त पहले कहे हुए पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ। नमस्कार दो प्रकार का होता है द्रव्य और भाव, इनमे भाव-नमस्कार मुख्य है। इस भाव नमस्कार को मै मोक्ष की साधन रूप सिद्ध-भक्ति तथा योग-भक्ति से करता हूँ। मोक्ष रूप लक्ष्मी का स्वयंवर मंडप रूप जिनेन्द्र के दीक्षा-काल मे मंगलाचार रूप तो अनन्तज्ञानादि सिद्ध गुणों की भावना करना उसको सिद्ध-भक्ति कहते है। तैसे ही निर्मल समाधि मे परिणमन रूप परम योगियो के गुणों की अथवा परम योग के गुणों की भावना करना सो योग-भक्ति है। इस तरह इस गाथा में विदेहों के तीर्थंकरों के नमस्कार की मुख्यता से कथन किया गया है ॥३॥ (सव्वेसिं) सर्व ही (अरहंताणं) अरहंतों को (सिद्धाणं) आठ कर्म रहित सिद्धो को (गणहराणं) चार ज्ञान के धारी गणधर आचार्यो को (तह) तथा (अज्झावयवग्गाण) उपाध्याय समूह को और (चेव) तैसे ही (साहूणं) साधुओ को (णमो किच्चा) भाव और द्रव्य से नमस्कार

करके आगे कहूँगा जो करना है ॥४॥ (तेसिं) उन पूर्व में कहे हुए पाँच परमेष्ठियों में (विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं) विशुद्ध दर्शन ज्ञानमयी लक्षणधारी प्रधान आश्रम को (समासिज्ज) भले प्रकार प्राप्त होकर (सम्मं) साम्यभाव रूप चारित्र को (उपसंपयामि) भले प्रकार धारण करता हूँ (जत्तो) जिस साम्यभावरूप चारित्र से (णिव्वाणसंपत्ती) निर्वाण की प्राप्ति होती है ॥५॥

यहाँ टीकाकार खुलासा करते है कि मै आराधना करने वाला हूँ तथा ये अर्हत आदिक आराधना करने के योग्य है, ऐसे आराध्य–आराधक का जहाँ विकल्प है, उसे द्वैत नमस्कार कहते है तथा रागद्वेषादि औपाधिक भाव के विकल्पों से रहित जो परम समाधि है, उसके बल से आत्मा में ही आराध्य–आराधक भाव होना अर्थात् दूसरा कोई भिन्न पूज्य-पूजक नहीं है, मै ही पूज्य हूँ, मै ही पूजारी हूँ, ऐसा एकत्वभाव स्थिरतारूप होना, उसे अद्वैत नमस्कार कहते है। पूर्व गाथाओं में कहे गए पाँच परमेष्ठियों को इस लक्षण रूप द्वैत अथवा अद्वैत नमस्कार करके मठ चैत्यालय आदि व्यवहार आश्रम से विलक्षण भावाश्रम रूप जो मुख्य आश्रम है उसको प्राप्त होकर मै वीतरागचारित्र को आश्रय करता हूँ। अर्थात् रागादिकों से भिन्न यह अपने आत्मा से उत्पन्न सुख स्वभाव का रखने वाला परमात्मा है, सो ही निश्चय से मै हूँ। ऐसा भेदज्ञान तथा वही परमात्मस्वभाव सव तरह से ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि रूपी सम्यग्दर्शन है, इस तरह दर्शन ज्ञान स्वभाव-मयी भावाश्रम है। इस भावाश्रम-पूर्वक आचरण में आता हुआ, जो पुण्य-बंध का कारण सरागचारित्र है, उसे हेय जानकर त्याग करके निश्चल शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप वीत-रागचारित्र भाव को ग्रहण करता हूँ।

अथायमेव वीतराग-सरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति—

संप[1]ज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

सपद्यते निर्वाण देवासुरमनुजराजविभवै ।
जीवस्य चारित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ॥६॥

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः, तत एव च सरागाद्देवासुर-मनुजराजभिववलेशरूपो बन्धः । अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफल-त्वात् सरागचारित्रं हेयम् ॥६॥

(1) सपज्जइ (ज० वृ०) ।

भूमिका—आगे स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ही वीतरागचारित्र को अभीष्ट फल (मोक्ष) का जनक होने से उपादेय और सरागचारित्र को अनिष्टफल—स्वर्गादिकी प्राप्ति का कारण होने से हेय बतलाते है—

अन्वयार्थ—[दर्शन-ज्ञानप्रधानात्] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रधानता-युक्त [चारित्रात्] चारित्र से [जीवस्य] जीवो को [देवासुरमनुजराजविभवैः] देवराज, असुरराज (धरणेन्द्र) और मनुजराज (चक्रवर्ती) की विभूतियो के साथ [निर्वाणम्] निर्वाण भी [सपद्यते] प्राप्त होता है ॥६॥

टीका—**दर्शन ज्ञान की प्रमुखता युक्त वीतरागचारित्र से मोक्ष प्राप्त होती है और उस ही (दर्शन-प्रधान) सरागचारित्र से देवराज, असुरराज और मनुजराज के वैभव का, (जो परिणाम में क्लेश-जनक है), सम्बन्ध प्राप्त होता है। इसलिये मुमुक्षु जीव को इष्ट फल वाला होने से वीतराग-चारित्र उपादेय है और अनिष्ट फल वाला होने से सराग-चारित्र हेय है ॥६॥**

विशेषार्थ—**सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ जो सुख का साधक जान संयमाचरण मे अनुराग होता है उसका नाम सराग-चारित्र है और वह पुण्यबन्ध का कारण होने से इन्द्रादिकों की विभूति को प्राप्त कराता है। परन्तु यह सब विभूति वस्तुतः क्लेश-जनक ही होती है। साक्षात् निराकुल सुख की सम्भावना उससे नही है। इसीलिये साक्षात् शाश्वतिक निर्बाध सुख के अभिलाषी उसे हेय ही मानते है। यह बात अलग है कि जब कि जीव की शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति नही होती है तब तक उन्हे अपेक्षाकृत वह भी ग्राह्य होता है, पर उनकी बुद्धि उसमे हेय रूप ही रहती है। इसके विपरीत जो रागभाव के बिना संयम रूप आचरण होता है, वह चूंकि साक्षात् मोक्ष का कारण होता है—अतएव वह सर्वथा उपादेय ही होता है ॥६॥**

तात्पर्यवृत्ति—

अथोपादेयभूतस्यातीन्द्रियसुखस्य कारणत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम्। अतीन्द्रियसुखापेक्षया हेयस्येन्द्रिय सुखस्य कारणत्वात्सरागचारित्र हेयमित्युपदिशति—

सपज्जइ सपद्यते किम् ? **णिव्वाण** निर्वाणम्। कथम् ? सह। कै ? **देवासुरमणुयरायविहवेहि** देवासुरमनुष्यराजविभवैः। कस्य ? **जीवस्स** जीवस्य। कस्मात् ? **चरित्तादो** चारित्रात्। कथभूतात् ? **दंसणणाणप्पहाणादो** सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधानादिति। तत्तथा—आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थान तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते। किम् ? पराधीनेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षण, स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षण निर्वाणम्। सरागचारित्रा-

त्पुनर्देवासुरमनुष्यराजविभूतिजनको मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाण चेति। असुरेषु मध्ये सम्यग्दृष्टि. कथमुत्पद्यते इति चेत्? निदानबन्धेन सम्यक्त्वविराधना कृत्वा तत्रोत्पद्यत इति ज्ञातव्यम्। अत्र निश्चयेन वीतरागचारित्रमुपादेय सराग हेयमिति भावार्थ ॥६॥

उत्थानिका—जिस वीतरागचारित्र का मैने आश्रय लिया है, वही वीतरागचारित्र प्राप्त करने योग्य अतीन्द्रिय सुख का कारण है, इससे ग्रहण करने योग्य है तथा सरागचारित्र अतीन्द्रिय सुख की अपेक्षा से त्यागने योग्य है, क्योकि वह इन्द्रिय सुख का भी कारण है, इससे भी सरागचारित्र छोडने योग्य है, ऐसा उपदेश करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवस्स) इस जीव के (दंसणणाणप्पहाणादो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रधानता पूर्वक (चरित्तादो) सम्यक्चारित्र के पालने से (देवा-सुरमणुयराय- विहवेहिं) कल्पवासी, भवनत्रिक तथा चक्रवर्ती आदि राज्य की विभूतियों के साथ साथ (णिव्वाण) निर्वाण (संपज्जइ) प्राप्त होती है!**

प्रयोजन यह है कि—आत्मा के अधीन निज सहज ज्ञान और सहज आनन्द स्वभाव वाले अपने शुद्ध आत्म द्रव्य में जो निश्चलता से विकार-रहित अनुभूति प्राप्त करना अथवा उसमें ठहर जाना सो ही है, लक्षण जिसका, ऐसे निश्चयचारित्र के प्रभाव से इन जीव के पराधीन इन्द्रियजनित ज्ञान और सुख से विलक्षण तथा स्वाधीन अतीन्द्रिय उत्कृष्ट ज्ञान और अनन्त सुख है लक्षण जिसका, ऐसा निर्वाण प्राप्त होता है तथा सराग चारित्र के कारण कल्पवासी देव, भवनत्रिकदेव, चक्रवती आदि की विभूति को उत्पन्न करने वाला मुख्यता से विशेष पुण्यबंध होता है तथा उससे परम्परा से निर्वाण प्राप्त होता है। असुरो के मध्य मे सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होता है? इसका समाधान यह है कि निदान करने के भाव से सम्यक्त्व की विराधना करके यह जीव भवनत्रिक में उत्पन्न होता है, ऐसा जानना चाहिये। यहाँ भाव यह है कि निश्चयनय से वीतरागचारित्र उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है तथा सरागचारित्र हेय अर्थात त्यागने योग्य है।

तात्पर्य यह है कि **हमको मोक्ष** का साधक **निश्चयरत्नत्रयमयी वीतरागचारित्र को समझना** चाहिये **और व्यवहाररत्नत्रयमयी सरागचारित्र को उसका निमित्तकारण या परम्परा कारण समझना चाहिये।**

अथ चारित्रस्वरूप विभावयति—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।७।।

चारित्र खलु धर्मो धर्मो यस्तत्साम्यमिति निर्दिष्टम् ।
मोहक्षोभविहीन परिणाम आत्मनो हि साम्यम् ।।७।।

स्वरूपे चरणं चारित्रम, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः, शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः । तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम् । साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणाम. ।।७।।

भूमिका—**अब चरित्र के स्वरूप का प्रतिपादन करतो है ।**

अन्वयार्थ—[चारित्रम्] चारित्र [खलु] वास्तव मे [धर्म] धर्म है [य. धर्म] और जो धर्म है [तत् साम्यम्] वह साम्य है [इति] ऐसा [निर्दिष्टम्] जिनेन्द्रो द्वारा कहा गया है । [साम्यम्] साम्य ही वास्तव मे [मोहक्षोभविहीन] मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (राग-द्वेष) रहित [आत्मन. परिणाम] आत्मा का परिणाम है ।।७।।

टीका—**स्वरूप मे चरण करना सो (स्वरूपाचरण) चारित्र है । स्वसमय में प्रवृत्ति करना (परसे भिन्न अपने स्वभाव मे प्रवृत्ति करना) यह इसका अर्थ है, वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है । शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना, यह इसका अर्थ है । वही यथावस्थित आत्मगुण होने से (विषमता रहित सुस्थित आत्मा का गुण होने से) साम्य है, और साम्य, दर्शनमोहनीयकर्म तथा चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ (राग द्वेष) के अभाव के कारण से अत्यन्त निर्विकार जीव का परिणाम है ।।७।।**

तात्पर्यवृत्ति—

अथ निश्चयचारित्रस्य पर्यायनामानि कथयामीत्यभिप्राय मनसि सप्रधार्य सूत्रमिद निरूपयति—,

एवमग्रेऽपि विवक्षितसूत्रार्थ मनसि धृत्वाथवास्य सूत्रस्याग्रे सूत्रमिदमुचित भवत्येव निश्चित्य सूत्रमिद प्रतिपादयतीति पातनिकालक्षण यथासभव सर्वत्र ज्ञातव्यम्—**चारित्तं** चारित्र कर्तृ **खलु धम्मो** खलु- स्फुट धर्मो भवति । **धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो** धर्मो य स तु शम इति निर्दिष्ट । **समो** यस्तु शम स **मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु** मोहक्षोभविहीन परिणाम । कस्य ? आत्मन. । हु स्फुटमिति । तथाहि–शुद्धचित्स्वरूपे चरण चारित्र, तदेव चारित्र मिथ्यात्वरागादिससरणरूपे भावससारे पतन्त प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्म । स एव धर्म स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य ससारदु खदाहस्योपशमकत्वात् शम इति । ततश्च शुद्धात्मश्रद्धानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते । निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधान क्षोभ इत्युच्यते । तयोर्विध्वसकत्वात्स एव शमो मोहक्षोभविहीन शुद्धात्मपरिणामो भण्यत इत्यभिप्राय ।। ७ ।।

उत्थानिका—आगे निश्चयचारित्र का स्वरूप तथा उसके पर्याय नामो का अभिप्राय मन मे धारण करके आगे का सूत्र कहते है—इसी तरह आगे भी एक सूत्र के आगे दूसरा सूत्र कहना उचित है। ऐसा कहते रहेगे, इस तरह की पातनिका यथासम्भव सर्वत्र जाननी चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(चारित्तं) चारित्र (खलु) प्रगटपने (धम्मो) धर्म है (जो धम्मो) जो यह धर्म है (सो समोत्ति) सो ही सम या साम्यभाव है, ऐसा (णिद्दिट्ठो) कहा गया है। (अप्पणो) आत्मा का (मोहक्खोहविहीणा) मोह और क्षोभ से रहित (परिणामो) भाव है (हि) वही निश्चय करके (समो) समता भाव है।**

प्रयोजन यह है कि शुद्धचैतन्य के स्वरूप में आचरण करना चारित्र है। यही चारित्र मिथ्यात्व रागद्वेषादि द्वारा संसरणरूप जो भाव संसार उसमें पड़ते हुए प्राणी का उद्धार करके विकार-रहित शुद्ध चैतन्यभाव में धारण करने वाला है, इससे यह चारित्र ही धर्म है। यही धर्म अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत उस रूप शीतल जल के द्वारा काम क्रोध आदि अग्नि से उत्पन्न संसार के दुःखों की दाह को उपशम करने वाला है, इससे यही शम, शांतभाव या साम्यभाव है। मोह और क्षोभ के ध्वंस करने के कारण से वही शांतभाव मोह क्षोभ रहित शुद्ध आत्मा का परिणाम कहा जाता है। शुद्ध आत्मा के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन को नाश करने वाला जो दर्शनमोहनीय-कर्म है, उसे मोह कहते है। तथा निर्विकार निश्चल चित्त के वर्तनरूप चारित्र को नाश करने वाला है, वह चारित्र मोहनीयकर्म या क्षोभ कहलाता है।

अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं[1] तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो[2] ॥८॥

परिणमति येन द्रव्य तत्काल तन्मयमिति प्रज्ञप्तम्।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ॥८॥

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्यपरिणताय.पिण्डवत्तन्मयं भवति। ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम् ॥८॥

भूमिका—अब, आत्मा चारित्रत्व का निश्चय करते हैं—

---

१ तक्काले (ज० वृ०)। २ मुणेदव्वो (ज० वृ०)

अन्वयार्थ—[द्रव्यम्] द्रव्य [यत्कालम्] जिस समय मे [येन भावेन] जिस भाव से [परिणमति] परिणमन करता है [तत्कालम्] उस समय [तन्मम्) उस रूप है [इति] ऐसा [प्रज्ञप्तम्] श्री जिनेन्द्रो द्वारा कहा है। [तस्मात्] इसीलिये [धर्मपरिणत. आत्मा] धर्म परिणत आमा को [धर्म] धर्म [मन्तव्य.] जानना चाहिये।

टीका—**वास्तव मे जो द्रव्य जिस समय मे जिस भाव से परिणत होता है, वह द्रव्य उस समय से उसी—स्वरूप है, उससे भिन्न नही है। जैसे—उष्णता रूप से परिणत लोहे का गोला उस स्वरूप (उष्णतामय) होता है। इस कारण धर्म रूप से परिणत आत्मा धर्म ही है। इस प्रकार आतमा की चारित्रता सिद्ध हुई (पर्यायदृष्टि से आत्मा का चारित्र से अभेद करके कथन किया है)।**

यहाँ यह विशेषता समझना चाहिये कि पूर्व मे (गाथा ७) मे कहा था कि चारित्र आत्मा का भाव है। पर इस गाथा में अभेद नय से यह कहा गया है कि जैसे उष्णभाव से परिणत लोहे का गोला स्वयं उष्ण है—लोहे का गोला उष्णता से भिन्न नही है, वैसे ही चारित्र भाव से परिणत आतमा भी स्वय चारित्र है—उससे भिन्न नहीं है, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये ॥८॥

तात्पर्यवृत्ति—

अथाभेदनयेन धर्मपरिणत आत्मैव धर्मो भवतीत्यावेदयति—**परिणमदि जेण दव्व तक्काले तम्मय त्ति पण्णत्त** परिणमति येन पर्यायेण द्रव्य कर्तृ तत्काले तन्मय भवतीति प्रज्ञप्तम् यत कारणात्, **तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो** तत: कारणात् धर्मेण परिणत आत्मैव धर्मो मन्तव्य इति। तद्यथा—निजशुद्धात्मपरिणतिरूपोनिश्चयधर्मो भवति। पञ्चपरमेष्ठचयादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहार-धर्मस्तावदुच्यते। यतस्तेन तेन विवक्षिताविवक्षितपर्यायेण परिणत द्रव्य तन्मय भवति, तत पूर्वोक्त-धर्मद्वयेन परिणतस्तप्ताय पिण्डवदभेदनयेनात्मैव धर्मो भवतीति ज्ञातव्यम्। तदपि कस्मात् ? उपादान-कारणसदृश हि कार्यमिति वचनात्। तच्च पुनरुपादानकारण शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा। रागादिविकल्प-रहितस्वसवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यान वा केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादानकारण भवति। अशुद्धात्मा तु रागादीनामशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानकारण भवतीति सूत्रार्थ। एव चारित्रस्य सक्षेप-सूचनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रय गतम् ॥८॥

एव चारित्रस्य सक्षेपसूचनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रय गतम।

उत्थानिका—आगे कहते है कि अभेदनय से इन वीतरागभावरूपी धर्म मे **परिणमन** करता हुआ आत्मा ही धर्म है।

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(दव्वं) द्रव्य (जेण) जिस अवस्था या भाव से (परिण-मदि) परिणमन करता है या वर्तन करता है (तक्काले) उसी समय वह द्रव्य (तम्मयत्ति)**

उस पर्याय या भाव के साथ तन्मय हो जाता है, ऐसा (पण्णत्त) कहा गया है। (तम्हा) इसलिये (धम्मपरिणदो) धर्म रूप भाव से वर्तन करता हुआ (आदा) आत्मा (धम्मो) धर्मरूप (मुणेदव्वो) माना जाना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि अपने शुद्ध आत्मा के स्वभाव में परिणमन होते हुए जो भाव होता है, उसे निश्चय धर्म कहते हैं तथा पञ्चपरमेष्ठी आदि की भक्तिरूपी परिणति या भाव को व्यवहारधर्म कहते हैं। क्योंकि अपनी-अपनी विवक्षित पर्याय से परिणमन करता हुआ द्रव्य उस पर्याय से तन्मय हो जाता है, इसलिये पूर्व में कहे हुए निश्चय धर्म और व्यवहारधर्म से परिणमन करता हुआ आत्मा ही गर्म लोहे के पिंड की तरह अभेद नय से धर्मरूप होता है, ऐसा जानना चाहिये। यह भी इसीलिये कि उपादानकारण के सदृश कार्य होता है, ऐसा सिद्धान्त का वचन है तथा वह उपादानकारण शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। केवलज्ञान की उत्पत्ति में रागद्वेषादि रहित स्वसंवेदनज्ञान तथा आगम की भाषा से शुक्ल-ध्यान शुद्ध उपादानकारण है तथा अशुद्ध आत्मा रागादिरूप से परिणमन करता हुआ अशुद्ध निश्चयनय से अपने रागादि भावों का अशुद्ध उपादानकारण होता है।

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

जीवः परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभः।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभावः ॥९॥

यदाऽयमात्मा शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जपा-तापिच्छराग-परिणतस्फटिकवत् परिणामस्वभावः सन् शुभोऽशुभश्च भवति। यदा पुनः शुद्धेनाराग-भावेन परिणमति तदा शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभावः सन् शुद्धो भवतीति सिद्धं जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम् ॥९॥

[illegible] अब जीव की शुभस्वरूपता, अशुभस्वरूपता और शुद्धस्वरूपता का निश्चय करते हैं—

अन्वयार्थ— [illegible]

अशुभ होता है, और जब वरी [शुद्धेन] शुद्ध भाव से [परिणमति] परिणमन करता है [तदा] तव [शुद्ध भवति] स्वय शुद्ध होता है [हि] क्योकि वह [परिणामसद्भाव] परिणमन स्वभाव वाला है—उत्पाद व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है ।

टीका—**जब यह आत्मा शुभ या अशुभ राग भाव से परिणत होता है, तब जपा कुसुम या तमालपुष्प के लाल या काले रगरूप परिणत स्फटिक की भांति परिणाम स्वभाव होता हुआ स्वयं शुभ या अशुभ होता है और जब वह शुद्ध अराग (वीतराग) भाव से परिणत होता हुआ शुद्ध होता है, तब शुद्ध अराग (वीतराग) स्फटिक की भांति परिणाम स्वभाव होता हुआ शुद्ध होता है (उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध होता है) ।**

इस प्रकार जीव के शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध होते है । तात्पर्य यह है कि वह अपरिणमन स्वभाव कूटस्थ नहीं है ॥९॥

तात्पर्यवृत्ति—

अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयेण परिणतो जीव शुभाशुभशुद्धोपयोगस्वरूपो भवतीत्युपदिशति—**जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा** जीव कर्ता यदा परिणमति शुभेनाशुभेन वा परिणामेन **सुहो असुहो हवदि** तदा शुभेन शुभो भवति, अशुभेन वाऽशुभो भवति । **सुद्धेण तदा सुद्धो हि** शुद्धेन यदा परिणमति तदा शुद्धो भवति, हि स्फुटम् । कथभूत सन् ? **परिणामसब्भावो** परिणामसद्भाव. सन्निति । तद्यथा-यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन रक्तकृष्णश्वेतवर्णो भवति, तथाऽय जीव स्वभावेन, शुद्धबुद्धैकस्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासभव सरागसम्यक्त्वपूर्वकदानपूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनानेक्षया मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणत शुभो ज्ञातव्य इति । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेय. । निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन परिणत शुद्धो ज्ञातव्य इति । किञ्च जीवस्यासख्येयलोकमात्रपरिणामा सिद्धान्ते मध्यमप्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानरूपेण कथिता: । अत्र प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि सक्षेपेणाशुभशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि । कथमिति चेत्—मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोग , तदनन्तरमसयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोग:, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग , तदनन्तर सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थ ॥९॥

उत्थानिका—आगे यह उपदेश करते है कि शुभ, अशुभ तथा शुद्ध ऐसे तीन प्रकार के उपयोग से परिणमन करता हुआ आत्मा शुभ, अशुभ तथा शुद्ध उपयोग स्वरूप होता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदा) जव (परिणाम सब्भावो) परिणमन स्वभावधारी (जीवो) यह जीव (सुहेण) शुभ भाव से (वा असुहेण) अथवा अशुभ भाव से (परिणमदि) परिणमन करता है तब (सुहो असुहो) शुभ परिणामों से शुभ तथा अशुभ**

परिणामो से अशुभ (हवदि) हो जाता है। (सुद्धेण) जब शुद्ध भाव से परिणमन करता है (तदा) तब (हि) निश्चय से (सुद्धो) शुद्ध होता है।

इसी का भाव यह है कि जैसे स्फटिकमणि का पत्थर निर्मल होने पर भी जपा पुष्प आदि लाल, काली, श्वेत उपाधि के वश से लाल, काला, श्वेत रंग रूप परिणम जाता है, तैसे यह जीव स्वभाव से शुद्धबुद्ध एक स्वभाव होने पर भी व्यवहार करके गृहस्थ अपेक्षा यथासंभव राग-सहित सम्यक्त्व-पूर्वक दान पूजा आदि शुभ कार्यो के करने से तथा मुनि की अपेक्षा मूल व उत्तर गुणो को अच्छी तरह पालन रूप वर्तने मे परिणमन करने से शुभ है, ऐसा जानना योग्य है। मिथ्यादर्शन सहित अविरतिभाव, प्रमादभाव, कषायभाव व मन वचन काय योगों के हलन चलनरूप भाव, ऐसे पांच कारणरूप अशुभोपयोग में वर्तन करता हुआ, अशुभ जानना योग्य है तथा निश्चल रत्नत्रयमय शुद्ध उपयोग से परिणमन करता हुआ, शुद्ध जानना चाहिये। इसका क्या प्रयोजन है सो कहते है कि सिद्धान्त में जीव के असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम है। मध्यम वर्णन की अपेक्षा मिथ्यादर्शन आदि १४ गुणस्थान रूप से कहे गए है। इस प्रवचनसार प्राभृतशास्त्र में उन्हीं गुणस्थानो का संक्षेप से शुभ अशुभ तथा शुद्ध-उपयोग रूप से वर्णन किया गया है। सो ये तीन प्रकार के उपयोग १४ गुणस्थानो मे किस तरह घटते है सो कहते है—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानो में तारतम्य से कमती-कमती अशुभ उपयोग है। इसके पीछे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत ऐसे तीन गुणस्थानो में तारतम्य से शुभोपयोग है। उसके पीछे अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय तक छः गुणस्थानो मे तारतम्य से शुद्धोपयोग है। उसके पीछे संयोगिजिन और अयोगिजिन इन दो गुणस्थानों मे शुद्धोपयोग का फल है, ऐसा भाव है।

अथ परिणामं वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति—

णत्थि विणा परिणाणं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१०॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणाम।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्त. ॥१०॥

न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालम्बते वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्नि परिणामस्य खरशृङ्गकल्पत्वाद् दृश्यमानगोरसादिपरिणामविरोधाच्च अन्तरेण वस्तु परिणामोऽपि न सत्तामालम्बते, स्वाश्रयभूतस्य वस्तुनोऽमावे निराश्रयस्य

परिणामस्य शून्यत्वप्रसङ्गात् । वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तितं निर्वृत्तिमच्च । अतः परिणामस्वभावमेव ॥१०॥

भूमिका—अब परिणाम को वस्तु स्वभाव से निश्चय करते है—

अन्वयार्थ—[इह] लोक मे [परिणाम विना] परिणाम के बिना [अर्थ नास्ति] पदार्थ नही है और [अर्थ विना] पदार्थ के बिना [परिणाम] परिणाम [नास्ति] नही है [द्रव्यगुणपर्ययस्थ] द्रव्य, गुण व पर्याय मे रहने वाला [अर्थः] पदार्थ [अस्तित्वनिवृत्तः] (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप) अस्तित्व से बना हुआ है।

टीका—निश्चय से परिणाम के बिना वस्तु अस्तित्व को धारण नहीं करती। अर्थात् परिणाम के बिना आश्रय नही लेती है, उसका सद्भाव सम्भव द्रव्यादि के द्वारा होने वाले (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव द्वारा अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय द्वारा अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा होने वाले) परिणाम से भिन्न प्राप्ति का अभाव है। क्योकि (१) परिणाम-रहित वस्तु की गधे के सीग से समानता है (अर्थात् परिणाम-रहित वस्तु का गधे के सीग के समान अभाव है।) (२) तथा उस वस्तु का, दिखाई देने वाले गोरस इत्यादि (दूध दही आदि) परिणामों के साथ, विरोध आता है।

वस्तु के बिना परिणाम भी अस्तित्व को धारण नहीं करता, क्योकि स्वाश्रय-भूत वस्तु के अभाव मे निराश्रयपरिणाम की शून्यता का प्रसंग आता है।

वस्तु तो ऊर्ध्वता-सामान्य-स्वरूप द्रव्य मे, सहभावी (साथ-साथ रहने वाले) विशेष (भिन्न-भिन्न) स्वरूप वाले गुणों में तथा क्रमभावी (क्रमशः एक के बाद एक होने वाले) विशेष (भिन्न-भिन्न) स्वरूप पर्यायो मे व्यवस्थित है अर्थात् रहने वाली है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्व से बनी हुई है। इसलिये वस्तु परिणाम स्वभाव-वाली ही है।

परिणाम के माने–बिना वस्तु सत्ता का सहारा नही लेती–उसके बिना वस्तु का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, क्योकि द्रव्यादि स्वरूप से वस्तु का ही परिणाम होता है, जिससे कि वह (वस्तु) कभी भिन्न नही उपलब्ध होती–सर्वदा उस परिणाम-मय ही वह उपलब्ध होती है। इस प्रकार जब दोनों मे अभेद है, तब परिणाम के बिना उस वस्तु की कल्पना गधे के सींग के समान ही ठहरती है। इसके अतिरिक्त वैसी अवस्था मे लोक मे जो दूध का परिणाम दही व घृत आदि रूप देखा जाता है उसका भी विरोध अनिवार्य होगा। इसी प्रकार वस्तु के माने बिना केवल परिणाम का भी अस्तित्व नही

रह सकता है। कारण कि उस परिणाम का आश्रय तो वस्तु ही है, सो अपने आश्रयभूत उस वस्तु के बिना निराधार परिणाम के अभाव का प्रसंग अनिवार्य होगा। दूसरे वस्तु ऊर्ध्वता-सामान्य-स्वरूप द्रव्य मे, सहभावी विशेष-स्वरूप गुणों में, तथा क्रमभावी विशेष-स्वरूप पर्यायों मे व्यवस्थित रहने के कारण उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य-स्वरूप अस्तित्व से निष्पन्न है।

विशेषार्थ—वस्तु का लक्षण अर्थ-क्रिया-कारित्व है—जैसे घट का अर्थ-क्रिया-कारित्व जल धारण, वस्त्र का अर्थ क्रिया-कारित्व शरीराच्छादन आदि। सो यह अर्थ-क्रिया तभी बन सकती है जब वस्तु को परिणाम-स्वरूप स्वीकार किया जाय। परिणाम का अर्थ है पूर्व आकार का परित्याग (व्यय), उत्तर आकार का ग्रहण (उत्पाद) और इन दोनों ही अवस्थाओं में द्रव्य (ऊर्ध्वता सामान्य) का समान रूप से अवस्था है, इस प्रकार से वस्तु सामान्य विशेष स्वरूप सिद्ध होती है। सामान्य का अर्थ समानता है। वह सामान्य तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वता-सामान्य के भेद से दो प्रकार का है। इनमें सदृशता रूप जिस धर्म से अनेक वस्तुओं में एकरूपता पायी जाती है, उसका नाम तिर्यक्-सामान्य है। जैसे—काली व लाल आदि अनेक गायों में गोरूपता। तथा एक ही द्रव्य की उत्तरोत्तर निष्पन्न होने वाली अनेक अवस्थाओं में जो द्रव्य-रूपता ज्यों की त्यों अवस्थित रहती है, वह है ऊर्ध्वता-सामान्य। जैसे—एक ही सुवर्ण द्रव्य की उत्तरोत्तर निष्पन्न होने वाली कड़ा व सांकल आदि अनेक अवस्थाओ में सुवर्ण सामान्य का अवस्थान। सामान्य के समान विशेष भी दो प्रकार का है १–पर्याय-विशेष और २–व्यतिरेक-विशेष। उनमें से एक ही द्रव्य में जो क्रम से अनेक अवस्थाये होती है—जैसे आत्मा में हर्ष विषाद आदि, उन्हे पर्याय-विशेष कहते हैं। तथा विविध पदार्थो मे जो विसदृशता दृष्टिगोचर होती है, वह व्यतिरेक-विशेष कहा जाता है। जैसे—गाय, भैस और घोड़ा आदि की विसदृशता। यहाँ वृत्तिकार ने यह अभिप्राय प्रगट किया है कि वस्तु उत्पाद-विनाशरूप होने से जब सहभावी-विशेष रूप गुणों मे—जैसे जीव ज्ञान-दर्शनादि गुणों मे पुद्गल रूप-रसादि गुणों मे तथा क्रमभावी विशेष रूप पर्यायों मे अवस्थित रहने के साथ ही ऊर्ध्वता-सामान्यरूप ध्रौव्य में भी अवस्थित रहती है, तव उसका उत्पादादि तीन रूप परिणाम से कथंचित्-पर्याय की अपेक्षा से जैसे भेद मानना पड़ता है, वैसे ही कथचित्–द्रव्य की अपेक्षा–उससे अभेद भी अनिवार्य है। कारण कि ऐसा मानने के बिना—सर्वथा भेद अथवा अभेद की कल्पना में—उन दोनों का (वस्तु व परिणाम) का अस्तित्व ही नही रह सकता।

तात्पर्यवृत्ति

अथ नित्यैकान्तक्षणिकैकान्तनिषेधार्थं परिणामपरिणामिनो परस्पर कथचिदभेद दर्शयति— **णत्थि विणा परिणाम अत्थो** मुक्तजीवे तावत्कथ्यते, सिद्धपर्यायरूपशुद्धपरिणाम विना शुद्धजीवपदार्थो नास्ति। कस्मात् ? सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात्। **अत्थ विणेह परिणामो** मुक्तात्मपदार्थ विना इह जगति शुद्धात्मोपलम्भलक्षण सिद्धपर्यायरूप शुद्धपरिणामो नास्ति। कस्मात् ? सज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात् **दव्वगुणपज्जयत्थो** आत्मस्वरूप द्रव्य तत्रैव केवलज्ञानादयो गुणा सिद्धरूप पर्यायश्च, इत्युक्तलक्षणणेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु तिष्ठतीति द्रव्यगुणपर्यायस्थो भवति। स क· कर्ता ? **अत्थो** परमात्मपदार्थ., सुवर्णद्रव्यपीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायस्यसुवर्णपदार्थवत्। पुनश्च किरूप. ? **अत्थित्तणिव्वत्तो** शुद्धद्रव्यगुणपर्यायाधारभूत यच्छुद्धास्तित्व तेन निर्वृत्तोऽस्तित्व-निर्वृत्तः, सुवर्णद्रव्यगुणपर्यायास्तित्वनिर्वृत्तसुवर्णपदार्थवदिदि। अयमत्र तात्पर्यार्थ । यथा— मुक्तजीवे द्रव्यगुणपर्यायत्रय परस्पराविनाभूत दर्शित तथा ससारिजीवेऽपि मतिज्ञानादिविभावगुणेपु नरनारकादिविभावपर्यायेषु नयविभागेन यथासभव विज्ञेयम्, तथैव पुद्गलादिष्वपि। एव शुभाशुभशुद्ध-परिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथा द्वय गतम् ॥१०॥

उत्थानिका—आगे जो कोई पदार्थ को सर्वथा अपरिणामी नित्य कूटस्थ मानते है तथा जो पदार्थ को सदा ही परिणमनशील क्षणिक ही मानते है, इन दोनो एकान्त भावो का निराकरण करते हुए परिणाम और परिणामी जो पदार्थ है, उनमे परस्पर कथचित् अभेद-भाव दिखलाते है। अर्थात् जिसमे अवस्थाये होती है, वह द्रव्य तथा उसकी अवस्थाए किसी अपेक्षा से एक ही है, ऐसा बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अत्थो) पदार्थ (परिणामं विना) पर्यायके बिना (णत्थि) नही रहता है। यहाँ वृत्तिकार ने मुक्त जीव मे घटाया है कि सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणाम को छोड़कर शुद्ध जीव कोई अन्य पदार्थ नही होता है क्योंकि यद्यपि परिणाम और परिणामी मे संज्ञा, संख्या, लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा भेद है, तो भी प्रदेश-भेद न होने से अभेद है। तथा (इह) इस जगत में (परिणामी) परिणाम (अत्थ विणा) पदार्थ के बिना नही होता है। अर्थात् शुद्ध आत्मा की प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसी सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणति मुक्तरूप आत्म-पदार्थ के बिना नही होती है, क्योंकि परिणाम परिणामी में संज्ञादिसे भेद होने पर भी प्रदेशों का भेद नही है। (दव्वगुणपज्जयत्थो) द्रव्य गुण पर्यायों मे ठहरा हुआ (अत्थो) पदार्थ (अत्थित्तणिव्वत्तो) अपने अस्तित्व मे रहने वाला अर्थात् अपने अस्तिपने से सिद्ध होता है।**

यहां शुद्ध आत्मा मे लगाकर कहते हैं कि आत्म-स्वरूप द्रव्य है, उसमे केवल ज्ञानादि गुण है तथा सिद्ध रूप पर्याय है। शुद्ध आत्म-पदार्थ इस तरह द्रव्य गुण पर्याय में

ठहरा हुआ है, जैसे स्वर्ण पदार्थ, स्वर्ण द्रव्य पीतपना आदि गुण तथा कुंडलादि पर्यायों में तिष्ठने वाला है। ऐसा शुद्ध द्रव्य गुण पर्याय का आधारभूत जो शुद्ध अस्तिपना उससे 'परमात्मा' पदार्थ सिद्ध है जैसे सुवर्ण पदार्थ, सुवर्ण द्रव्य गुण पर्याय की सत्ता से सिद्ध है। यहां यह तात्पर्य है कि जैसे मुक्त जीव मे द्रव्य गुण पर्याय परस्पर अविनाभूत दिखाए गए है, तैसे ही संसारी जीव मे भी मतिज्ञानादि विभावगुणों के तथा नर नारकादि विभावपर्यायों के होते हुए नय विभाग से यथासम्भव जान लेना चाहिये, तैसे ही पुद्गलादि के भीतर भी। इस तरह शुभ परिणामों की मुख्यता से व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुई ॥१०॥

अथ चारित्रपरिणामसम्पर्कसम्भववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति—,

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
[1]पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व[2] सग्गसुहं ॥११॥

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसप्रयोगयुतः ।
प्राप्नोति निर्वाणसुख शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥११॥

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकारणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति। यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति। अत. शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेयः ॥११॥

भूमिका—अब चारित्र-परिणाम के साथ सम्बन्ध रखने से उत्पन्न होने वाले शुद्ध और शुभ परिणामों के क्रम से ग्रहण और त्याग के लिये शुद्ध-परिणाम के ग्रहण और शुभ-परिणाम के त्याग के लिये उनके फल का विचार करते है—

अन्वयार्थ—[धर्मेण परिणतात्मा] धर्म से (चारित्र) से परिणत स्वरूपवाला [आत्मा] यह आत्मा [यदि] यदि [शुद्धसम्प्रयोगयुत] शुद्ध उपयोग सहित हो जाता है तो वह [निर्वाणमुखम्] मोक्ष मुख को [आप्नोति] पाता है [वा] और यदि वह [शुभोपयुक्त] शुभ उपयोग वाला होता है तो [स्वर्गमुखम्] स्वर्गके सुखको [प्राप्नोति] प्राप्त करना है।

टीका—जब यह आत्मा धर्म-परिणत स्वभाव वाला होकर शुद्धोपयोग रूप परिणति को धारण करता है तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से रहित होने के कारण अपना कार्य

(१) पावइ (ज० वृ०), (२) य(ज० वृ०)

करने में समर्थ चारित्र-वाला होता हुआ साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है। किन्तु जब वही आत्मा धर्म-परिणत स्वभाव वाला होता हुआ भी शुभोपयोग रूप परिणति से सगत (युक्त) होता है—सराग-चारित्र को धारण करता है—तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से सहित होने के कारण अपना कार्य करने मे असमर्थ वह कथंचित् विरूद्ध कार्य करने वाले चारित्र से युक्त होकर स्वर्ग सुखरूप बन्धन को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ—जैसे अग्नि से सन्तप्त घी से सिक्त-जला हुआ पुरुष जलन से दु ख को प्राप्त करता है। इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।

भावार्थ—छठे से बारहवें गुणस्थान तक के मुनि को अभेददृष्टि से चारित्र-परिणत-आत्मा कहते है। उसी को भेद-दृष्टि से सातवे से बारहवे तक शुद्धोपयोगी या वीतरागचारित्र का धारी कहते है, जिसका फल साक्षात् मोक्ष है और छठे मे शुभोपयोगी या सरागचारित्र वाला कहते है, जिसका फल (परम्परा मोक्ष होने पर भी) साक्षात् पुण्यबंध रूप स्वर्ग है। इस सम्बन्ध मे शब्द "कथंचित्" ध्यान देने योग्य है ॥११॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ वीतराग-सरागचारित्रसज्ञयो· शुद्ध-शुभोपयोगपरिणामयो सक्षेपेण फल दर्शयति.—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा धर्मेण परिणतात्मा परिणतस्वरूप सन्नयमात्मा **जदि सुद्धसंपयोगजुदो** यदि चेच्छुद्धोपयोगाभिधानशुद्धसप्रयोगपरिणामयुत परिणतो भवति **पावइ णिव्वाणसुह** तदा निर्वाणसुख प्राप्नोति। **सुहोवजुत्तो य सग्गसुह** शुभोपयोगयुत परिणत सन् स्वर्गसुख प्राप्नोति। इतो विस्तरम्-इह धर्मशब्देनाहिसालक्षण: सागारानगाररूपस्तथोत्तमक्षमादिलक्षणो रत्नत्रयात्मको वा, तथा मोहक्षोभरहित आत्मपरिणाम: शुद्धवस्तुस्वभावश्चेति गृह्यते। स एव धर्म: पर्यायान्तरेण चारित्र भण्यते। **"चारित्तं खलु धम्मो"** इति वचनात्। तच्च चारित्रमपहृतसयमोपेक्षासयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोगशुद्धोययोगभेदेन च द्विधा भवति। तत्र यच्छुद्धसप्रयोगशब्दवाच्य शुद्धोपयोगस्वरूप वीतरागचारित्र तेन निर्वाण लभते। निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपपोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलत्वोत्पादक स्वर्गसुख लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्ष च लभते इति सूत्रार्थ: ॥११॥

उत्थानिका—आगे वीतरागचारित्ररूप शुद्धोपयोग तथा सरागचारित्ररूप शुभोपयोग परिणामो का सक्षेप से फल दिखाते है.—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(परिणदप्पा) परिणमन स्वरूप होता हुआ (अप्पा) यह आत्मा (जदि) यदि (सुद्धसंपयोगजुदो) शुद्धोपयोग नाम के शुद्ध परिणाम मे परिणत होता है (णिव्वाणसुहं) तब निर्माण के सुख को (पावइ) प्राप्त करता है। (व) और यदि (सुहोवजुत्तो) शुभोपयोग में परिणमन करता है तो (सग्गसुहं) स्वर्ग के सुख को पाता है।**

यहां विस्तार यह है कि यहां धर्म शब्द से अहिंसा लक्षणरूप मुनिधर्म, श्रावक का धर्म, उत्तमक्षमादि दशलक्षणधर्म अथवा रत्नत्रय-स्वरूपधर्म वा मोह क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम या शुद्ध वस्तु का स्वभाव ग्रहण किया जाता है। वही धर्म अन्य पर्याय से अर्थात् चारित्रभाव की अपेक्षा चारित्र कहा जाता है। यह सिद्धान्त का वचन है कि "चारित्तं खलु धम्मो" (देखो गाथा ७वी) वही चारित्र अपहृतसंयम तथा उपेक्षा संयम के भेद से वा सराग वीतराग के भेद से वा शुभोपयोग, शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। इनमे से शुद्ध संप्रयोग शब्द से कहने योग्य जो शुद्धोपयोग रूप वीतराग-चारित्र है, उससे निर्वाण प्राप्त होता है। जब विकल्प रहित समाधिमय शुद्धोपयोग की शक्ति नहीं होती है; तब यह आत्मा शुभोपयोग रूप सरागभाव से परिणमन करता है, तब अपूर्व और अनाकुलता लक्षणधारी निश्चय सुख से विपरीत आकुलता को उत्पन्न करने वाला स्वर्ग सुख पाता है। पीछे परमसमाधि के योग्य सामग्री के होने पर मोक्ष को प्राप्त करता है—ऐसा सूत्र का भाव है।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति—

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा[1] अभिद्दुदो[2] भमदि[3] अच्चंतं ॥१२॥

अशुभोदयेन आत्मा कुनरस्तिर्यक् भूत्वा नैरयिक.।
दु खसहस्रै सदा अभिद्रुतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥१२॥

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति। ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति ॥१२॥

भूमिका—अब यहां चारित्र परिणाम के अभाव मे अत्यन्त हेय रूप अशुभ परिणाम के फल की समीक्षा करते है—

अन्वयार्थ—[अशुभोदयेन] अशुभ के उदय से [आत्मा] आत्मा] [कुनर.] हीन मनुष्य [तिर्यक्] तिर्यच या [नैरयिक] नारकी [भूत्वा] होकर [दु खसहस्रै] हजारो दु खो मे [सदा] निरन्तर [अभिद्रुत] पीडित होता हुआ [अत्यन्त भ्रमति] ससार मे अत्यन्त–दीर्घ काल तक–भ्रमण करता है।

---

१ सया (ज० वृ०)। २ भमइ (ज० वृ०)। ३ अभिधुदो (ज० वृ०)।

टीका—जब यह आत्मा लेश मात्र भी धर्म (चारित्र) परिणति को न प्राप्त होकर अशुभोपयोग रूप परिणति का अवलम्बन करता है, तब वह घृणित मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी होकर परिभ्रमण करता हुआ दुःखों के बंध को अनुभव करता है। इसलिए लेशमात्र चारित्र का भी अभाव होने से यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है ।।१२।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ चारित्रपरिणामासभवादत्यन्तहेयस्याशुभोपयोगस्य फल दर्शयति—

असुहोदयेण अशुभोदयेन **आदा** आत्मा **कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो** कुनरस्तिर्यङ्नारको भूत्वा। कि करोति ? **दुक्खसहस्सेहिं सया अभिधुदो भमइ अच्चतं** दुखसहस्रै सदा सर्वकालमभिद्रुतः कर्दथित पीडित सन् ससारे अत्यन्त भ्रमतीति। तथाहि—निर्विकारशुद्धात्मतत्त्व-रुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तत्रैव शुद्धात्मन्यविक्षिप्तचित्तवृत्तिरूपनिश्चयचारित्रस्य च विलक्षणेन विपरीताभिनिवेशजनकेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषतीव्रसक्लेशरूपेण चाशुभोपयोगेन यदुपार्जित पापकर्म तदुदयेनायमात्मा सहजशुद्धात्मानन्दैकलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतेन दुखेन दुखित सन् स्वस्वभावभावनाच्युतो भूत्वा ससारेऽत्यन्त भ्रमतीति तात्पर्यार्थ। एवमुपयोगत्रयफलकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम् ।।१२।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जिस किसी आत्मा मे वीतराग या सरागचारित्र नहीं है उसके भीतर अत्यन्त त्यागने योग्य अशुभोपयोग का फल कटुक होता है।

अन्वय, सहित बिशेषार्थ—**(असुहोदयेण) अशुभ उपयोग के प्रगट होने से जो पाप कर्म बंधता है उसके उदय से (आदा) आत्मा (कुणरो) खोटा दीन दरिद्री मनुष्य (तिरियो) तिर्यंच तथा (णेरइयो) नारकी (भवीय) होकर (अच्चंतं) बहुत अधिक (भमइ) ससार में भ्रमण करता है।**

प्रयोजन यह है कि अशुभ उपयोग, विकार रहित शुद्ध आत्म तत्व की रूचि रूप निश्चय सम्यक्त्व से तथा उस ही शुद्ध आत्मा मे क्षोभ रहित चित्त का वर्तनारूप निश्चय-चारित्र से विलक्षण या विपरीत है। विपरीत अभिप्राय से पैदा होता है तथा देखे, सुने, अनुभव किए हुए पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छा-मय तीव्र संक्लेश रूप है, ऐसे अशुभ उपयोग से जो पाप कर्म बांधे जाते है, उनके उदय होने से यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध आत्मा के आनन्दमयी पारमार्थिक सुखमे बिरुद्ध दुःख से दुःखी होता हुआ व अपने स्वभाव की भावना से गिरा हुआ ससार मे खूब ही भ्रमण करता है। ऐसा तात्पर्य है। इस तरह तीन तरह के उपयोग के फल को कहते हुए चौथे स्थल मे दो गाथाएं पूर्ण हुई ।।१२।।

एवमयमपास्तसमस्तशुभाशुभोपयोगवृत्तिः शुद्धोपयोगवृत्तिमात्मसात्कुर्वाणः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते । तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

अतिशयमात्मसमुत्थं, विषयातीत, अनौपम्यमनन्त ।
अव्युच्छिन्नञ्च सुख शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥१३॥

आसंसारादपूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तमव्युच्छिन्नं च शुद्धोपयोगनिष्पन्नानां सुखमतस्तत्सर्वथा प्रार्थनीयम् ॥१३॥

भूमिका—इस प्रकार यह (श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव), नष्ट कर दिया है समस्त शुभ और अशुभ उपयोग की परिणति को जिन्होंने (ऐसे होते) शुद्धोपयोग परिणति को अंगीकार करते हुए, शुद्धोपयोग अधिकार को प्रारम्भ करते है । उसमें आत्मा के प्रोत्साहन के लिये (सर्व प्रथम) शुद्धोपयोग के फल की प्रशंसा करते है:—

अन्वयार्थ—[शुद्धोपयोगप्रसिद्धाना] शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए (शुद्धोपयोग के फल को प्राप्त हुए) आत्माओ का (अरहंत सिद्धो का) [सुख] सुख [अतिशय] अतिशय, [आत्म-समुत्थ] आत्मा से उत्पन्न, [विषयातीत] बिषयो से रहित (अतीन्द्रिय), [अनौपम्य] अनुपम, अनन्त (अविनाशी) [च] और [अविच्छिन्न] अविछिन्न (अटूट-निरन्तर एक सा रहने वाला) है ।

टीका—(१) अनादि संसार से जो पहले कभी अनुभव मे नही आया ऐसे अपूर्व, परम अद्भुत आल्हाद रूप, होने के कारण से अतिशयवान, (२) आत्मा को ही आश्रय लेकर (स्वाश्रित) प्रवर्तमान होने के कारण से 'आत्मोपन्न', (३) पराश्रय से निरपेक्ष होने के कारण से (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के तथा संकल्प विकल्प के आश्रय की अपेक्षा से रहित होने से) 'विषयातीत', (४) अत्यन्त विलक्षण होने के कारण से (अन्य सुखों से सर्वथा भिन्न लक्षणवाला होने से) 'अनुपम', (५) समस्त आगामी काल में कभी नाश का प्राप्त न होने के कारण से 'अनन्त', और (६) विना ही अन्तर के प्रवर्तमान होने के कारण से 'अविच्छिन्न', ऐसा सुख शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओ के (अरहन्त सिद्धो के)

होता है। इसलिए वह (सुख) **सर्वथा प्रार्थनीय (वाञ्छनीय) है (उपादेयपने से निरन्तर भावना करने योग्य है)** ॥१३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभाशुभोपयोगद्वय निश्चयनयेन हेय ज्ञात्वा शुद्धोपयोगाधिकार प्रारभमाण, शुद्धात्म-भावनामात्मसात्कुर्वाण' सन, स्वस्वभावजीवस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफल प्रकाशयति। अथवा द्वितीयपातनिका—यद्यपि शुद्धोपयोगफलमग्रे ज्ञान सुख च सक्षेपेण विस्तरेण च कथयति तथाप्यत्रापि पीठिकाया सूचना करोति। अथवा तृतीयपातनिकापूर्व शुद्धोपयोगफल निर्वाण भणितमिदानी पुनर्निर्वाण स्य फलमनन्तसुख कथयतीति पातनिकात्रयस्यार्थ मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्रतिपादयति—**अइसयं** आस-साराद्देवेन्द्रादिसुखेभ्योऽप्यपूर्वाद्भुतपरमाह्लादरूपत्वादतिशयस्वरूपं, **आदसमुत्थ** रागादिविकल्प-रहितस्वशुद्धात्मसवित्तिसमुत्पन्नत्वादात्मसमुत्थ, **विसयातीदं** निर्विषयपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूत-पचेन्द्रियविषयातीतत्वाद्विषयातीत, **अणोवम** निरुपमपरमानन्दैकलक्षणत्वेनोपमारहितत्वादनुपमं, **अणत** अनन्तागामिकाले विनाशाभावादप्रमितत्वाद्वाऽनन्त, **अव्वुच्छिण्णं च** असातोदयाभावा-न्निरन्तरत्वादविच्छिन्न च सुह एवमुक्तविशेषणविशिष्ट सुख भवति। केषाम्' **सुद्धुवओगप्प-सिद्धाणं** वीतरागपरमसामायिकशब्दवाच्यशुद्धोपयोगेन प्रसिद्धा उत्पन्ना येऽर्हत्सिद्धास्तेषामिति। अत्रेदमेव सुखमुपादेयत्वेन निरन्तर भावनीयमिति भावार्थ ॥१३॥

उत्थानिका—आगे आचार्य शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनो को निश्चय नय से त्यागने योग्य जान करके शुद्धोपयोग के अधिकार को प्रारम्भ करते हुए तथा शुद्ध आत्मा की भावना को स्वीकार करते हुए अपने स्वभाव मे रहने के इच्छुक जीव का उत्साह बढाने के लिये शुद्धोपयोग का फल प्रकाश करते है अथवा दूसरी पातनिका या सूचना यह है कि यद्यपि आगे आचार्य शुद्धोपयोग का फल ज्ञान और सुख सक्षेप या विस्तार से कहेगे तथापि यहाँ भी इस पीठिका मे सूचित करते है अथवा तीसरी पातनिका यह है कि पहले शुद्धोपयोग का फल निर्वाण बताया था अब यहा निर्वाण का फल अनत सुख होता है ऐसा कहते है। इस तरह तीन पातनिकाओ के भाव को मन मे धरकर आचार्य आगे का सूत्र कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं) शुद्धोपयोग मे प्रसिद्धों को अर्थात् वीतराग परम सामायिक शब्द से कहने योग्य शुद्धोपयोग के द्वारा जो अरहंत और सिद्ध हो गए है उन परमात्माओ को (अइसयं) अतिशयरूप अर्थात् अनादि काल के संसार मे चले आए इन्द्रादि के सुखों से भी अपूर्व अद्भुत परम आल्हाद रूप से होने से आश्चर्यकारी, (आदसमुत्थं) आत्मा से उत्पन्न अर्थात् रागद्वेषादि विकल्प रहित अपने शुद्धात्मा के अनुभव से पैदा होने वाला, (विसयातीदं) विषयों से शून्य अर्थात् इन्द्रिय विषय रहित परमात्म-तत्व के विरोधी पांच इन्द्रियों के विषयो से रहित, (अणोवम) उपमा—रहित अर्थात् दृष्टांत**

रहित परमानन्दमय एक लक्षण को रखने वाला, (अणंतं) अनंत अर्थात् अनन्त भविष्यत-काल मे विनाश रहित अथवा अप्रमाण (च) तथा (अव्वुछिण्णं) विच्छिन्नरहित अर्थात् असाता का उदय न होने से निरन्तर रहने वाला (सुहं) आनन्द रहता है। यही सुख उपादेय है, इसी की निरन्तर भावना करनी योग्य है।

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो[1] सुद्धोवओगो त्ति[2] ॥१४॥

सुविदितपदार्थसूत्रः सयमतप. सयुतो विगतराग ।
श्रमण समसुखदु खो भणित· शुद्धोपयोग इति ॥१४॥

सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः । सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पंचेन्दियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मन शुद्धस्वरूपे संयमनात्, स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च संयमतप संयुतः । सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः । परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुख - दुःख-जनितपरिणामवैषम्यत्वात्समसुख - दुःखः श्रमणः शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ॥१४॥

भूमिका—अब, शुद्धोपयोग रूप परिणत आत्मा के स्वरूप को कहते है :—

अन्वयार्थ—[सुविदितपदार्थसूत्र] भली भांति जान लिये है (१) (निज शुद्ध आत्मा आदि स्व-पर) पदार्थो को और सूत्रो (श्रुत-आगम) को जिसने (२, ३) [सयमतप सयुतः] जो सयम युक्त और तप-युक्त है, (४) [(वीतराग.] राग रहित है, (५) [सममुख-दुःख] समान है सुख दु ख जिसको (साता असाता वेदनीय के उदय से जिसको सुख दु ख का वेदन नही है अर्थात् समानुभव है) ऐसा [श्रमण] श्रमण (मुनि) [शुद्धोपयोग] शुद्धोपयोगी [इति भणित] कहा गया है।

टीका—(१) सूत्रों के अर्थ के ज्ञान के बल से स्व द्रव्य और पर द्रव्य के विभाग के परिज्ञान मे, श्रद्धान मे और विधान में (आचरण मे) समर्थ होने के कारण से (स्वद्रव्य और परद्रव्य की भिन्नता का ज्ञान, श्रद्धान आचरण होने से) भली भाँति जान लिया है पदार्थो को और (उनके प्रतिपादक सूत्रो को जिसने, (२) समस्त छः जीवनिकाय के हनन के विकल्प से और पंचेन्द्रिय (सम्बन्धी) अभिलाषा के विकल्प से (आत्मा) को व्यावृत्त करके आत्मा के शुद्ध-स्वरूप संयम करने से संयम-युक्त है, (३) और स्वरूप विश्रान्त

(१) भणिओ (ज० वृ०) (२) सुद्धोवयोगोति (ज० वृ०)।

निस्तरंग चैतन्य प्रतपन होने से जो तपयुक्त है, (४) सकल मोहनीय के विपाक से भेद की भावना की उत्कृष्टता से (समस्त मोहनीय कर्म के उदय विभिन्नत्व की उत्कृष्ट भावना से) निर्विकार आत्मस्वरूप को प्रगट किया होने से जो वीतरागी है, और (५) परम कला के अवलोकन के कारण (आत्मा मे लीनता के कारण) साता वेदनीय तथा असाता-वेदनीय के विपाक से उत्पन्न होने वाले जो सुख दुःख-उन-सुख-दुख-जनित परिणामो की विषमता का अनुभव नही होने से (परम सुख रस मे लीन निर्विकार स्वसवेदन रूप परम कला के अनुभव के कारण इष्ट अनिष्ट संयोगो मे हर्ष शोक आदि विषम परिणामों का अनुभव न होने से) जो समसुखदु ख है, ऐसे पॉच विशेषण वाला श्रमण शुद्धोपयोगी कहा जाता है।

भावार्थ—**यह शुद्धोपयोग मुख्यतया बारहवे गुणस्थान में परिणत मुनि के होता है परन्तु गौणतया सातवे से बारहवे गुणस्थान तक के मुनि के होता है।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ येन शुद्धोपयोगेन पूर्वोक्तसुख भवति तत्परिणतपुरुषलक्षण प्रकाशयति—**सुविदिदपयत्थसुत्तो** सुष्ठु सशयादिरहितत्वेन विदिता ज्ञाता रोचिताश्च निजशुद्धात्मादिपदार्थास्तत्प्रतिपादकसूत्राणि च येन स सुविदितपदार्थसूत्रो भण्यते। **सजमतवसजुदो** बाह्ये द्रव्येन्द्रियव्यावर्तनेन षड्जीवरक्षणेन चाभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसवित्तिबलेन स्वरूपे सयमनात् सयमयुक्तो, बाह्याभ्यन्तरतपोबलेन काम-क्रोधादिशत्रुभिरखण्डितप्रतापस्य स्वशुद्धात्मनि प्रतपनाद्विजयनात्तप सयुक्त. **विगदरागो** वीतराग-शुद्धात्मभावनाबलेन समस्तरागादिदोषरहितत्वाद्विगत राग। **समसुहदुक्खो** निर्विकारनिर्विकल्प-समाधेरुद्गता समुत्पन्ना तथैव परमानन्दसुखरसे लीना तल्लया निर्विकारस्वसवित्तिरूपा या तु परमकला तदवष्टम्भेनेष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरहितत्वात्समसुखदुःखः **(समणो)** एव गुण-विशिष्टः श्रमणः परममुनिः **भणिओ सुद्धोवयोगोत्ति** शुद्धोपयोगो भणित इत्यभिप्राय.॥१४॥

एव शुद्धोपयोगफलभूतानन्तसुखस्य शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषस्य च कथनरूपेण पञ्चमस्थले गाथाद्वय गतम्॥

इति चतुर्दशगाथाभि' स्थलपञ्चकेन पीठिकाभिधानः प्रथमोन्तराधिकार समाप्तः।

उत्थानिका—आगे जिस शुद्धोपयोग के द्वारा पहले कहा हुआ आनन्द प्रगट होता है उस शुद्धोपयोग मे परिणमन करने वाले पुरुष का लक्षण प्रगट करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सुविदिदपदत्थसुत्तो) भले प्रकार पदार्थ और सूत्रों को जानने वाला, अर्थात् संशय विमोह विभ्रम रहित होकर जिसने अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थो को तथाउनके बताने वाले सूत्रों को जाना है और उनकी रुचि प्राप्त की है, (संजमतवसजुदो) संयम और तप-संयुक्त है अर्थात् जो बाह्य में द्रव्येन्द्रियों से उपयोग हटाते हुए और पृथ्वी आदि छह कायों की रक्षा करते हुए तथा अंतरंग मे अपने शुद्ध आत्मा के**

अनुभव के बल से अपने स्वरूप में संयम रूप ठहरे हुए है तथा बाह्य व अतरंग बारह प्रकार तप के बल से काम, क्रोध आदि शत्रुओं से जिसका प्रताप खडित नही होता है और जो अपने शुद्ध आत्मा में तप रहे है, जो (विगदरागो) वीतराग है अर्थात् शुद्ध आत्मा की भावना के बल से सर्व रागादि दोषों से रहित है (समसुहदुक्खो) सुख-दु ख में समान है अर्थात् विकार-रहित और विकल्प-रहित समाधि से उत्पन्न तथा परमानन्द सुखरस मे लवलीन ऐसी निर्विकार स्वसवेदन रूप जो परम चतुराई उसमें स्थिरीभूत होकर इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियो के विषयों में हर्ष-विषाद को त्याग देने से समता भाव के धारी है ऐसे गुणों को रखने वाला (समणो) परममुनि (सुद्धोवओगो) शुद्धोपयोग स्वरूप (भणिओ) कहा गया है (त्ति) ऐसा अभिप्राय है ।

इस तरह शुद्धोपयोग का फल जो अनंतसुख है, उसके पाने योग्य शुद्धोपयोग मे परिणमन करने वाले पुरुष का कथन करते हुए पॉचवे स्थल में दो गाथाएँ पूर्ण हुई तथा इसी प्रकार चौदह गाथाओं के द्वारा पॉच स्थलों से पीठिका नाम का प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

तात्पर्यवृत्ति

तदनन्तर सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिर्ज्ञानविचार. सक्षेपेण शुद्धोपयोगफल चेति कथनरूपेण गाथासप्तकम् । तत्र स्थलचतुष्टय भवति, तस्मिन् प्रथमस्थले सर्वज्ञस्वरूपकथनार्थ प्रथमगाथा, स्वयम्भूकथनार्थं द्वितीया चेति "उवओगविसुद्धो" इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ तस्यैव भगवत उत्पाद-व्ययध्रौव्यस्थापनार्थं प्रथमगाथा, पुनरपि तस्यैव दृढीकरणार्थ द्वितीया चेति 'भगविहीणो' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ सर्वज्ञश्रद्धानेनानन्तसुख भवतीति दर्शनार्थ त सव्वट्ठवरिट्ठ इत्यादि सूत्रमेकम् । अथातीन्द्रियज्ञानसौख्यपरिणमनकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, केवलिभुक्तिनिराकरणमुख्यत्वेन द्वितीया चेति पक्खीणघाइकम्मो इति प्रभृति गाथाद्वयम् । एव द्वितीयान्तराधिकारे स्थलचतुष्टयेन समुदाय-पातनिका ।

आगे सामान्य से सर्वज्ञ की सिद्धि व ज्ञान का विचार तथा संक्षेप से शुद्धोपयोग का फल कहते हुए गाथाएँ सात है। इनमे चार स्थल है । पहले स्थल मे सर्वज्ञ का स्वरूप कहते हुए पहली गाथा है, स्वयंभू का स्वरूप कहते हुए दूसरी, इस तरह "उवओग विसुद्धो" को आदि लेकर दो गाथाएँ है । फिर उस ही सर्वज्ञ भगवान् के भीतर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-पन स्थापित करने के लिए प्रथम गाथा है । फिर भी इस ही बात को दृढ़ करने के लिये दूसरी गाथा है । इस तरह "भंग विहीणो" को आदि लेकर दो गाथाएँ है । आगे सर्वज्ञ के श्रद्धान करने से अनन्त सुख होता है, इसके दिखाने के लिये "तं सव्वट्ठवरिट्ठ" इत्यादि

सूत्र एक है। आगे अतीन्द्रिय ज्ञान तथा सुख के परिणमन के कथन की मुख्यता से प्रथम गाथा है और केवलज्ञानी को भोजन का निराकरण की मुख्यता से दूसरी गाथा है, इस तरह "पक्खीणघाइकम्मो" को आदि लेकर दो गाथाएँ है। इस तरह दूसरे अन्तर अधिकार मे चार स्थल से समुदाय पातनिका पूर्ण हुयी।

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि पारं णेयभूदाणं ॥१५॥

उपयोगविशुद्ध यः विगतावरणान्तरायमोहरजाः।
भूत स्वयमेवात्मा याति पार ज्ञेयभूतानाम् ॥१५॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रन्थितयात्यन्तनिर्विकारचैतन्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिघविजृम्भितात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति। इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं तत. समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ॥१५॥

भूमिका—**अब, शुद्धोपयोग के लाभ के तुरन्त बाद होने वाले विशुद्ध आत्म-स्वभाव के लाभ की प्रशंसा करते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोग से सर्वज्ञ हो जाता है–यह कहते है)—**

अन्वयार्थ—[य] जो [उपयोगविशुद्ध] उपयोग विशुद्ध है (जो शुद्धोपयोग परिणाम से विशुद्ध होकर वर्त रहा है) [आत्मा] वह आत्मा [विगतावरणान्तरायमोहरजा] नष्ट हो गया है ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीयकर्म जिसका ऐसा [स्वयमेव भूत] स्वयमेव होता हुआ [ज्ञेयभूताना] ज्ञेय-भूत पदार्थो के [पार] पार को [याति] प्राप्त होता है (सब को जानता है)।

टीका—**जो (आत्मा) चैतन्य परिणामस्वरूप उपयोग के द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है, वह (आत्मा) वास्तव मे (१) पद-पद पर प्रगट होती जाती है, विशिष्ट विशुद्धि शक्ति जिसको अर्थात् पद-पद पर विशिष्ट विशुद्धि शक्ति प्रगट हो जाने के कारण अनादि ससार से बंधी हुई दृढतर मोह ग्रन्थि के छूट जाने से अत्यन्त निर्विकार चैतन्य वाला होता हुआ और (२) समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के नष्ट हो**

जाने से निर्विघ्न विकसित आत्मशक्तिवान् स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयता को प्राप्त (पदार्थों) के अन्त को पा लेता है (अर्थात् सब पदार्थों को जान लेता है—सर्वज्ञ हो जाता है)।

सार—यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा का वास्तव मे ज्ञान स्वभाव है, और ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। इस कारण से समस्त ज्ञेयों के भीतर प्रवेश को प्राप्त ज्ञान जिसका स्वभाव है ऐसे आत्मा को आत्मा शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही प्राप्त करता है।

भावार्थ—सातवे गुणस्थान मे शुद्धोपयोग प्रारम्भ होता है। फिर प्रत्येक पद मे (गुणस्थान मे) उसकी शुद्धता की शक्ति बढ़ती चली जाती है, जिससे दसवे गुणस्थान मे मोहनीय कर्म प्रायः नष्ट हो जाता है। जब वह शुद्धोपयोग पूर्ण क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो उस शुद्धता में शेष तीन घातिया कर्मो को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। घातिया कर्मो के नष्ट होने पर स्वभाव स्वयं प्रगट हो जाता है और आत्मा सर्वज्ञ बनकर सब ज्ञेयों को जान लेता है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तर केवलज्ञान भवतीति कथयति। अथवा द्वितीयपातिका—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवा· सम्बोधन कुर्वन्ति, हे शिवकुमारमहाराज! कोप्यासन्नभव्य. सक्षेपरूचि. पीठिकाव्याख्यानमेव श्रुत्वात्मकार्य करोति, अन्य. कोपि पुनर्विस्तररुचि. शुद्धोपयोगेन सजातसर्वज्ञस्य ज्ञानसुखादिक विचार्य पश्चादात्मकार्य करोतीति व्याख्याति.—

उवओगविसुद्धो जो उपयोगेन शुद्धोपयोगेन परिणामेन विशुद्धो भूत्वा वतते य **विगदावरणंतरायमोहरओ भूदो** विगतावरणान्तरायमोहरजोभूत. सन् कथम्? **सयमेव** निश्चयेन स्वयमेव **आदा** स पूर्वोक्त आत्मा **जादि** याति गच्छति कि? **पार** पारमवसानम्। केपाम्? **णेयभूदाण** ज्ञेयभूतपदार्थानाम् सर्व जानातीत्यर्थ। अतो विस्तर:—यो निर्मोहशुद्धात्मसवित्तिलक्षणेन शुद्धोपयागसज्ञनागमभापया पृथक्त्ववितर्कवीचारप्रथमशुक्लध्यानेन पूर्व निरवशेषमोहक्षपण कृत्वा तदनन्तर रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसवित्तिलक्षणेनैकत्ववितर्कवीचारसज्ञद्वितीयशुक्लध्यानेन क्षीणकपायगुणस्थानेन्तर्मुहूर्तकाल स्थित्वा तस्यैवान्त्यसमये ज्ञानदर्शनावरणवीर्यान्तरायाभिधानघातिकर्मत्रय युगपद्विनाशयति। स जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तवस्तुगतानन्तधर्माणा युगपत्प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्नोति। तत: स्थित शुद्धोपयोगात्सर्वज्ञो भवतीति। १५॥

उत्थानिका—आगे यह कहते है कि शुद्धोपयोग के लाभ होने के पीछे केवल ज्ञान होता है अथवा दूसरी पातनिका यह है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव सबोधन करते है कि हे शिवकुमार महाराज! कोई भी निकटभव्य जीव, जिसकी रुचि सक्षेप मे जानने की है, पीठिका के व्याख्यान को ही सुनकर आत्म-कार्य करने लगता है। दूसरा कोई जीव, जिसकी रुचि विस्तार से जानने की है, इस बात को विचार करके शुद्धोपयोग के द्वारा सर्वज्ञपना

होता है और तब अनतज्ञान अनतसुख प्रगट होते है फिर अपने आत्मा का उद्धार करता है, इसीलिये अब विस्तार से व्याख्यान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो उवओगविसुद्धो) जो उपयोग करके विशुद्ध है अर्थात् जो शुद्धोपयोग परिणामो मे रहता हुआ शुद्ध भावधारी हो जाता है सो (आदा) आत्मा (सयमेव) स्वयं ही—अपने आप ही अपने पुरुषार्थ से (विगदावरणांतराय-मोह-रओभूदो) आवरण, अंतराय और मोह की रज से छूटकर अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण, अंतराय, तथा मोहनीय इन चार घातियाकर्मो के बधनों से बिल्कुल अलग होकर (णेयभूदाणं) ज्ञेयपदार्थो के (पारं) अत को (जादि) प्राप्त होता है अर्थात् सर्व पदार्थो का ज्ञाता हो जाता है।**

इसका विस्तार यह है कि जो कोई मोह रहित शुद्ध आत्मा के अनुभव-लक्षणमय शुद्धोपयोग से अथवा आगम भाषा के द्वारा पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम के पहले शुक्लध्यान से पहले सर्वमोह को नाश करके फिर पीछे रागादि विकल्पों की उपाधि से शून्य स्वसंवेदन लक्षणमय एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यान के द्वारा क्षीणकषाय गुणस्थान मे अंतर्मुहूर्त ठहरकर उसी गुणस्थान के अंत समय मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय इन तीन घातियाकर्मो को एक साथ नाश करता है, वह तीन जगत, तीन काल की समस्त वस्तुओं के भीतर रहे हुए अनन्त स्वभावों को एक साथ प्रकाशने वाले केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धोपयोग से सर्वज्ञ हो जाता है।

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षतयाऽत्यन्तमात्मायत्तत्व द्योतयति—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू [1]सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

तथा स लब्धस्वभाव सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहित।
भूत स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्टः ॥१६॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकारः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् संप्रदानत्वं दधानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनादपादानत्वमुपाददान,

---

(१) सव्वलोयपदिमहिदो (ज० वृ०)।

शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमानः, उत्पत्तिव्ययापेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभूरिति निर्दिश्यते। अतो न निश्चयतः परेण सहात्मन कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतंत्रैर्भूयते ॥१६॥

भूमिका—अब, शुद्धोपयोग से उत्पन्न होने वाले शुद्ध आत्म-स्वभाव के लाभ के अन्य कारकों की निरपेक्षता होने से, अत्यन्त स्वात्माधीनपने को प्रगट करते है :—

अन्वयार्थ—[तथा] इस प्रकार [लब्धस्वभाव] स्वभाव को प्राप्त [स. आत्मा] वह आत्मा [सर्वज्ञः] सर्वज्ञ [सर्वलोकपतिमहित] और सर्व (तीन) लोक के अधिपतियो (स्वामियो) से पूजित [स्वयं एव भूत.] स्वयमेव होता हुआ (होने से) [स्वयम्भू भवति] होता है [इति] ऐसा [निर्दिष्टः] कहा गया है।

टीका—शुद्ध उपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्मों के नष्ट हो जाने से प्राप्त किया है शुद्ध अनन्तशक्तिवान् चैतन्य स्वभाव जिसने, ऐसा यह आत्मा वास्तव मे, (१) शुद्ध अनन्त शक्ति (युक्त) ज्ञायक स्वभाव के द्वारा स्वतन्त्र होने के कारण से ग्रहण किया है 'कर्तापने के अधिकार को जिसने, ऐसा (होता हुआ) (२) शुद्ध अनन्त शक्ति (युक्त) ज्ञान रूप से परिणत स्वभाव के द्वारा (स्वय ही) प्राप्य होने के कारण से (स्वयं ही प्राप्त होता होने से) 'कर्मपने' को अनुभव करता हुआ, (३) शुद्ध अनन्त शक्ति (युक्त) ज्ञान रूप से परिणत स्वभाव के द्वारा (स्वयं ही) साधकतम (उत्कृष्ट साधन) होने के कारण से 'करणपने' को धारण करता हुआ, (४) शुद्ध अनन्त-शक्ति (युक्त) ज्ञान रूप से परिणमित स्वभाव द्वारा (स्वयं ही) कर्म द्वारा समाश्रित होने के कारण (अर्थात् कर्म स्वयं को ही देने मे आता होने से) सम्प्रदानपने को धारण करता हुआ, (५) शुद्ध अनन्त शक्ति (मय) ज्ञानरूप से परिणत होने के समय में पूर्व मे प्रवर्तमान विकलज्ञान स्वभाव का नाश होने पर भी सहजज्ञान स्वभाव द्वारा (स्वयं ही) ध्रुवता को अवलम्बन करने से 'अपादानपने' को धारण करता हुआ, और (६) शुद्ध अनन्त शक्ति (युक्त) ज्ञान रूप से परिणमित स्वभाव का (स्वय ही) आधार होने के कारण से 'अधिकरणपने' को आत्मसात् करता हुआ (इस प्रकार) स्वयमेव छः कारकरूप से उत्पन्न होता हुआ ('स्वयंभू' इस नाम से कहा जाता है); अथवा उत्पत्ति अपेक्षा से, द्रव्य-भाव भेद रूप घातिकर्मों को दूर करके, स्वयमेव आविर्भूत होने के कारण से, 'स्वयंभू' इस नाम से कहा जाता है ॥१६॥

सार—इस कारण से निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकपने का सम्बन्ध नहीं है, जिससे शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढने की व्यग्रता से परतन्त्र हुआ जावे।

भावार्थ—अभेदषट्कारकरूप से स्वतः ही परिणमता हुआ, यह आत्मा परमात्म-स्वभाव होने से स्वयंभू है क्योकि केवलज्ञान ही उत्पत्ति के समय में वह भिन्न कारक की अपेक्षा नही रखता, इस कारण से स्वयभू है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य भिन्नकारकनिरपेक्षत्वेनात्माधीनत्व प्रकाशयति—

तह सो लद्धसहावो यथा निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगप्रसादात्सर्वं जानाति तथैव स पूर्वोक्तलब्धशुद्धात्मस्वभावः सन् **आदा** अयमात्मा **हवदि सयभु त्ति णिद्दिट्ठो** स्वयम्भूर्भवतीति निर्दिष्ट कथित। किं विशिष्टो भूत ? **सव्वण्हू सव्वलोयपदिमहिदो भूदो** सर्वज्ञ सर्वलोकपति-महितश्च भूत. सजात। कथम् ? **सयमेव** निश्चयेन स्वयमेवेति। तथाहि—अभिन्नकारकचिदानन्दैकचैतन्यस्वस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति। नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वय प्राप्यत्वात् कर्मकारक भवति। शुद्धचैतन्यस्वभावेन साधकतमत्वात्करणकारक भवति। निर्विकारपरमानन्दैकपरिणतिलक्षणेन शुद्धात्मभावरूपकर्मणा समाश्रियमाणत्वात्सप्रदानं भवति। तथैव पूर्वमत्यादिज्ञानविकल्पविनाशेप्य-खण्डितैकचैतन्यप्रकाशेनाविनश्वरत्वादपादान भवति। निश्चयशुद्धचैतन्यादिगुणस्वभावात्मन स्वमेवा-धारत्वादधिकरण भवतीत्यभेदषट्कारकीरूपेण स्वत एव परिणममान सन्नयमात्मा परमात्मस्वभाव-केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे यतो भिन्नकारक नापेक्षते तत स्वयभूर्भवतीति भावार्थ ॥१६॥

एव सर्वज्ञमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। स्वयभूमुख्यत्वेन द्वितीया चेति प्रथमस्थले गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि शुद्धोपयोग से उत्पन्न जो शुद्ध आत्मा का लाभ है, उसके होने मे भिन्न कारक की आवश्यकता नही है, किन्तु अपने आत्मा ही के अधीन है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तह) तथा (सो आदा) वह आत्मा (सयमेव) स्वयं ही (लद्धसहावो भूदो) स्वभाव का लाभ करता हुआ अर्थात् निश्चय—रत्नत्रय लक्षणमय शुद्धो-पयोग के प्रसाद से जैसे आत्मा सर्व का ज्ञाता हो जाता है वैसा वह शुद्ध आत्मा के स्वभाव का लाभ करता हुआ (सव्वण्हू) सर्वज्ञ व (सव्वलोयपदिमहिदो) सर्व लोक का पति तथा पूजनीय (हवदि) हो जाता है इसलिये वह (सयंभु त्ति) स्वयंभू इस नाम से (णिद्दिट्ठो) कहा गया है।

भाव यह है कि निश्चय से कर्त्ता कर्म आदि छः कारक आत्मा मे ही है। अभिन्न कारक की अपेक्षा यह आत्मा चिदानन्दमयी एक चैतन्य स्वभाव के द्वारा स्वतन्त्रता रखने से स्वयं ही अपने भाव का कर्ता है तथा नित्य आनन्दमय एक स्वभाव से स्वयं अपने स्वभाव को प्राप्त होता है। इसलिये यह आत्मा स्वयं ही कर्म है, शुद्ध चैतन्य स्वभाव से यह आत्मा

आप ही साधकतम है अर्थात् अपने भाव से ही आपका स्वरूप झलकता है इसलिये यह आत्मा आप ही करण है। विकार रहित परमानन्दमयी एक परिणतिरूप लक्षण को रखने वाला शुद्धात्मभाव रूप क्रिया के द्वारा अपने आपको अपना स्वभाव समर्पण करने के कारण यह आत्मा आप ही सम्प्रदान स्वरूप है, तैसे ही पूर्व मे रहने वाले मति श्रुत आदि ज्ञान के विकल्पों के नाश होने पर भी अखंडित एक चैतन्य के प्रकाश के द्वारा अपने अविनाशी स्वभाव से ही यह आत्मा आपका (स्वयं का) प्रकाश करता है, इसलिये यह आत्मा आप ही अपादान है तथा यह निश्चय शुद्धचैतन्य आदि गुण स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से आप ही स्वयं ही अधिकरण होता है। इस तरह अभेदषट्कारक से स्वयं ही परिणमन करता हुआ यह आत्मा परमात्मस्वभाव तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति मे भिन्न कारक की अपेक्षा नही रखता है, इसलिये आप ही स्वयंभू कहलाता है ॥१६॥

इस प्रकार सर्वज्ञ की मुख्यता से प्रथम गाथा और स्वयंभू की मुख्यता से दूसरी गाथा इस तरह पहले स्थल में दो गाथाएँ पूर्ण हुई।

अथ स्वयम्भुवस्यास्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्यात्यन्तमनपायित्वं कथचिदुत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तत्वं चालोचयति—

भंगविहूणो[1] य भवो संभवपरिवज्जिदो[2] विणासो[3] हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो[4] ॥१७॥

भङ्गविहीनश्च भव सभवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसभवनाशसमवाय. ॥१७॥

अस्य खल्वात्मनः शुद्धोपयोगप्रसादात् शुद्धात्मस्वभावेन यो भवः स पुनस्तेन रूपेण प्रलयाभावाद्भङ्गविहीनः। यस्त्वशुद्धात्मस्वभावेन विनाशः स पुनरुत्पादाभावात्सभवपरि-वर्जितः। अतोऽस्य सिद्धत्वेनानपायित्वम्। एवमपि स्थितिसंभवनाशसमवायोऽस्य न विप्रति-षिध्यते, भङ्गरहितोत्पादेन संभववर्जितविनाशेन तद्द्वयाधारभूतद्रव्येण च समवेतत्वात् ॥१७॥

भूमिका—अब, स्वयभू (स्वयं द्वारा उत्पन्न हुए) इस आत्मा के शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के अत्यन्त अविनाशीपने को और कंथञ्चित् (कोई प्रकार से) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तपने का विचार करते है—

अन्वयार्थ—[भगविहीन भव] (उस शुद्ध आत्म स्वभाव को प्राप्त आत्मा के) विनाश रहित उत्पाद है, और [सभवपरिवर्जितः विनाशः हि] उत्पाद रहित विनाश है

---

१ भगविहीणो (ज० वृ०)। २ मभवपरिवज्जिओ (ज० वृ०)। ३ विणामो त्ति (ज० वृ०)। ४ समवाओ (ज० वृ०)।

[च] और [तस्य एव पुन] उसके ही फिर [स्थितिसभवनाशसमवाय विद्यते] ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश का समवाय (एकत्रित समूह) विद्यमान है ।

टीका—**वास्तव मे इस (शुद्धात्मस्वभाव को प्राप्त) आत्मा के शुद्धोपयोग के प्रसाद से शुद्ध आत्मस्वभाव (रूप) से जो उत्पाद हुआ है, वह (उत्पाद) फिर उस रूप से नाश का अभाव होने से, विनाश रहित है, और जो अशुद्ध आत्मस्वभाव से विनाश हुआ है, वह (विनाश), फिर उत्पत्ति का अभाव होने से, उत्पाद रहित है । इस कारण से उस (आत्मा) के सिद्धरूप से अविनाशीपना है । ऐसा होने पर भी ध्रौव्य, उत्पाद, व्यय का समवाय इस (आत्मा) के विरोध को प्राप्त नही होता (क्योकि वह) विनाश रहित उत्पाद के साथ, उत्पाद रहित विनाश के साथ और उन दोनो के आधारभूत द्रव्य के साथ समवेत (तन्मयता से युक्त—एकमेक) है ।**

तात्पर्यवृत्ति

अथास्य भगवतो द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनानित्यत्वमुपादिशति—

भंगविहीणो य भवो भङ्गविहीनश्च भव जीवितमरणादिसमताभावलक्षणपरमोपेक्षासयमरूपशुद्धोपयोगेनोत्पन्नो योसौ भव केवलज्ञानोत्पाद । स किं विशिष्ट ? भङ्गविहीनो विनाशरहित । **सभवपरिवज्जिओ विणासो त्ति** योसौ मिथ्यात्वरागादिससरणरूपससार-पर्यायस्य विनाशः स किं विशिष्ट ? सभवहीन निर्विकारात्मतत्त्वविलक्षणरागादिपरिणामाभावादुत्पत्तिरहितः । तस्माज्ज्ञायते तस्यैव भगवत सिद्धस्वरूपतो द्रव्यार्थिकनयेन विनाशो नास्ति । **विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ** विद्यते तस्यैव पुन स्थितिसभवनाशसमवाय, तस्यैव भगवत. पर्यायार्थिकनयेन शुद्धव्यञ्जनपर्यायापेक्षया सिद्धपर्यायेणोत्पाद, ससारपर्यायेण विनाश., केवलज्ञानादिगुणाधारद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति । तत स्थित द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्यत्रय सभवतीति ॥१७॥

उत्थानिका—आगे उपदेश करते है कि अरहंत भगवान के द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से नित्यपना होने पर भी पर्यायार्थिकनय से अनित्यपना है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(य भंगविहीणो) तथा विनाश रहित (भवो) उत्पाद अर्थात् श्री सिद्ध भगवान् के जीना-मरना आदि में समताभाव है लक्षण जिसका ऐसे परम उपेक्षा रूप शुद्धोपयोग के द्वारा जो केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का प्रकाश हुआ है, वह विनाश रहित है । उनके (संभवपरिवज्जिदो विणासो) उत्पत्ति रहित विनाश है अर्थात् विकार रहित आत्मतत्त्व से विलक्षण रागादि परिणामों के अभाव होने से फिर उत्पत्ति नही हो सकती है, इस तरह मिथ्यात्व व रागादि द्वारा भ्रमण रूप संसार की पर्याय का जिसके नाश हो गया है । (हि) निश्चय करके ऐसा नित्यपना सिद्ध भगवान् के प्रगट हो जाता है, जिससे यह बात जानी जाती है कि द्रव्यार्थिकनय से सिद्ध भगवान् अपने स्वरूप से कभी छूटते**

नही है। ऐसा है (पुणो) तो भी (तस्सेव) उन ही सिद्ध भगवान् के (ठिदिसंभवणाससमवाओ) ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय का समुदाय (विज्जदि) विद्यमान रहता है।

अर्थात् शुद्ध-व्यंजनपर्याय की अपेक्षा पर्यायार्थिकनय से सिद्धपर्याय का जब उत्पाद हुआ है, तब संसार पर्याय का नाश हुआ है तथा केवलज्ञान आदि गुणों का आधार-भूत द्रव्यापना होने से ध्रौव्यपना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि सिद्ध भगवान् के द्रव्यार्थिकनय से नित्यपना है तो भी पर्यायार्थिकनय से उत्पाद व्यय है। इस तरह समुदाय रूप से उत्पाद, व्यय ध्रौव्य तीनों है।

अथोत्पादादित्रयं सर्वद्रव्यसाधारणत्वेन शुद्धात्मनोऽप्यवश्यंभावीति विभावयति—

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि[1] सब्भूदो ॥१८॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य।
पर्यायेण तु केनाप्यर्थ खलु भवति सद्भूत ॥१८॥

यथाहि जात्यजाम्बूनदस्याङ्गदपर्यायेणोत्पत्तिर्दृष्टा। पूर्वव्यवस्थिताङ्गुलीयकादि-पर्यायेण च विनाशः। पीततादिपर्यायेण तूभयत्राप्युत्पत्तिविनाशावनासादयतः ध्रुवत्वम्। एवमखिलद्रव्याणां केनचित्पर्यायेणोत्पादः केनचिद्विनाशः केनचिद्ध्रौव्यमित्यवबोद्धव्यम्। अतः शुद्धात्मनोऽप्युत्पादादित्रयरूपं द्रव्यलक्षणभूतमस्तित्वमवश्यभावि ॥१८॥

भूमिका—अब उत्पाद आदि तीनों (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) सर्व द्रव्यों के साधारणतया (अर्थात् ऐसा नही है कि किसी द्रव्य में हों और किसी मे न हों) अवश्य होने से शुद्धात्मा के भी अवश्यंभावी है, इस बात को व्यक्त करते है—

अन्वयार्थ—[सर्वस्य अर्थजातस्य] सम्पूर्ण पदार्थ-समूह के (प्रत्येक पदार्थ के) [खलु] वास्तव मे [केन अपि पर्यायेण] किसी भी पर्याय से [उत्पाद] उत्पाद [विद्यते] है। [सर्वस्य अर्थजातस्य] सम्पूर्ण पदार्थ समूह के [खलु] वास्तव मे [केन अपि पर्यायेण] किसी भी पर्याय से [विनाश] विनाश [विद्यते] है। [च] और [अर्थः] पदार्थ [खलु] वास्तव मे [केन अपि पयायेण] किसी भी पर्याय से [सद्भूत] ध्रुव [विद्यते] है।

टीका—जैसे इस लोक मे शुद्ध स्वर्ण के, बाजूबन्द (रूप) पर्याय से उत्पाद देखा जाता है, पूर्व अवस्था रूप से वर्तने वाली अगूठी इत्यादि पर्याय से विनाश देखा जाता है और पीलापन आदि पर्याय से तो दोनो मे (बाजूबन्द और अगूठी मे) उत्पत्ति विनाश को प्राप्त न होने वाले (सुवर्ण) ध्रौव्यत्व दिखाई देता है। इसी प्रकार सर्व द्रव्यो के किसी

१ होइ (ज० वृ०)।

पर्याय से उत्पाद, किसी (पर्याय) से विनाश (और) किसी (पर्याय) से ध्रौव्य होता है, ऐसा जानना चाहिए।

सार—इससे [यह कहा गया है कि] शुद्ध आत्मा के भी उत्पाद-आदि-तीन-रूप तथा द्रव्य का लक्षणभूत अस्तित्व अवश्यभावी है।

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादादित्रय यथा सुवर्णादिमूर्तपदार्थेषु दृश्यते तथैवामूर्तेपि सिद्धस्वरूपे विज्ञेय पदार्थत्वादिति निरूपयति —

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स उत्पादश्च विनाशश्च विद्यते तावत्सर्वस्यार्थजातस्य पदार्थसमूहस्य। केन कृत्वा ? **पज्जाएण दु केणवि** पर्यायेण तु केनापि विवक्षितेनार्थव्यञ्जनरूपेण वा। स चार्थ. कि विशिष्ट ? **अट्ठो खलु होइ संभूदो** अर्थ खलु स्फुट सत्ताभूत. सत्ताया अभिन्नो भवतीति। तथाहि—सुवर्णगोरसमृत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु यथोत्पादादित्रय लोके प्रसिद्ध तथैवामूर्तेपि मुक्तजीवे। यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य ससारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्व पदार्थत्वादिति। अथवा ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षण भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति। षट्स्थानगतागुरुलघुकगुणवृद्धिहान्यपेक्षया वा भङ्गत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ॥१८॥

एव सिद्धजीवे द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि विवक्षितपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जैसे सुवर्ण आदि मूर्तिक पदार्थो मे उत्पाद व्यय ध्रौव्य देखे जाते है, वैसे ही अमूर्तिक सिद्ध स्वरूप मे भी जानना चाहिये क्योकि सिद्ध भगवान् भी पदार्थ है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(केणवि दु पज्जाएण) किसी भी पर्याय से अर्थात् किसी भी विवक्षित अर्थ या व्यंजनपर्याय से अथवा स्वभाव या विभावरूप से (सव्वस्स अट्ठजादस्स) सर्व पदार्थ समूह के (उप्पादो य विणासो) उत्पाद और विनाश (विज्जदि) होता है। (अट्ठो) पदार्थ (खलु) निश्चय करके (सब्भूदो होइ) सत्तारूप है, सत्ता से अभिन्न है।**

प्रयोजन यह है कि सुवर्ण, गोरस, मिट्टी, पुरुष आदि मूर्तिक पदार्थों मे जैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य है ऐसा लोक में प्रसिद्ध है, तैसे अमूर्तिक मुक्त जीव मे है। यद्यपि मुक्त होते हुए शुद्ध आत्मा की रुचि उसी का ज्ञान तथा उसी का निश्चलता से अनुभव इस रत्नत्रयमय लक्षण को रखने वाले संसार के अन्त में होने वाले कारणसमयसाररूप

भाव-पर्याय का नाश होता है तैसे ही केवल ज्ञानादि की प्रगटता रूप कार्यसमयसार-रूप भाव-पर्याय का उत्पाद होता है तो भी दोनों ही पर्यायों में परिणमन करने वाले आत्म द्रव्य का ध्रौव्यपना रहता है क्योकि आत्मा भी एक पदार्थ है। अथवा ज्ञेय पदार्थ जो ज्ञान मे झलकते है, वे क्षण-क्षण मे उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणमन करते है, वैसे ही ज्ञान भी उनको जानने की अपेक्षा तीन भंग से परिणमन करता है। अथवा षट्-स्थान-पतित अगुरुलघुगुण में वृद्धि व हानि की अपेक्षा तीन भंग जानने चाहिये, ऐसा सूत्र का तात्पर्य है। ॥१८॥

इस तरह सिद्ध जीव में द्रव्यार्थिक नय से नित्यपना होने पर भी पर्याय की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपने को कहते हुए दूसरे स्थल में दो गाथाएँ पूर्ण हुई ॥१८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ त पूर्वोक्तसर्वज्ञ ये मन्यन्ते ते सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, परम्परया मोक्ष च लभन्त इति प्रतिपादयति,—

> **तं सव्वट्ठवरिट्ठ इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं।**
> **ये सद्दहंति जीवा, तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥१९-१॥**
> त सर्वार्थवरिष्ठ इष्ट अमरासुरप्रधानैः।
> ये श्रद्दधति जीवा. तेषा दुःखानि क्षीयन्ते ॥१९-१॥

त **सव्वट्ठवरिट्ठं** त सर्वार्थवरिष्ठं **इठ्ठ** इष्टमभिमतम्। कै ? **अमरासुरप्पहाणेहिं** अमरासुरप्रधानैः। **ये सद्दहंति** ये श्रद्दधति रोचन्ते **जीवा** भव्यजीवा। **तेसिं** तेषाम्। **दुक्खाणि** दुःखानि। **खीयंति** विनाश गच्छन्ति, इति सूत्रार्थ ॥१९-१॥

एव निर्दोषिपरमात्मश्रद्धानान्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथा गता।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो पूर्व मे कहे हुये सर्वज्ञ को मानते है, वे ही सम्यग्दृष्टि होते है और वे ही परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(ये जीवा)** जो भव्यजीव, **(अमरासुरप्पहाणेहिं)** स्वर्गवासी देव तथा भवनत्रिक के इन्द्रों से **(इट्ठं)** माननीय **(सव्वट्ठवरिट्ठं)** उस सर्व पदार्थो मे श्रेष्ठ परमात्मा को **(सद्दहंति)** श्रद्धान करते है **(तेसिं)** उनके **(दुक्खाणि)** सब दुःख **(खीयंति)** नाश को प्राप्त हो जाते है।

इस तरह निर्दोष परमात्मा के श्रद्धान से मोक्ष होती है ऐसा कहते हुए तीसरे स्थल मे गाथा पूर्ण हुई ॥१९-१॥

सूचना—इस गाथा की टीका श्री अमृतचन्द्रसूरि ने नहीं की है, कुछ विद्वानों के विचार से यह गाथा प्रक्षिप्त है।

अथास्यात्मनः शुद्धोपयोगानुभावात्स्वयम्भुवो भूतस्य कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति संदेहमुदस्यति—

पक्खीणघादिकम्मो[1] अणंतवरवीरिओ[2] अधिकतेजो[3] ।
जादो अदिंदिओ[4] सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥१९॥

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजा ।
जातोऽतीन्द्रिय. स ज्ञान सौख्य च परिणमति ॥१९॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, क्षायोपशमिकज्ञानदर्शनासंपृक्तत्वादतीन्द्रियो भूतः सन्निखिलान्तरायक्षयादनन्तवरवीर्यः कृत्स्नज्ञानादर्शनावरणप्रलयादधिककेवलज्ञानदर्शनाभिधानतेजाः, समस्तमोहनीयाभावादत्यन्तनिर्विकारशुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमासादयन् स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षण सौख्यं च भूत्वा परिणमते । एवमात्मनो ज्ञानानन्दो स्वभाव एव । स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ सम्भवतः ॥१९॥

भूमिका—**अब, जो शुद्धोपयोग के प्रभाव से स्वयंभू हो चुकी ऐसी इस आत्मा के अर्थात् श्री अरहन्त-सिद्ध परमेष्ठी के, इन्द्रियो के विना, ज्ञान और आनन्द कैसे होते है—इस संदेह को दूर करते है—**

अन्वयार्थ—(१) [प्रक्षीणघातिकर्मा] पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके है घातिकर्म जिसके (२) [अतीन्द्रियः जात.] जो अतीन्द्रिय हो गया है (३) [अनन्तवरवीर्य] जिसका अनन्त उत्तम वीर्य (शक्ति) है [च] और [४] [अधिकतेजा] अधिक जिसका (केवलज्ञान और केवल दर्शनरूप) तेज है [स.] वह स्वयभू आत्मा) [ज्ञान सौख्य च] ज्ञान और सुख रूप [परिणमति] परिणमन करता है ।

टीका—**वास्तव मे यह (स्वयभू) आत्मा, (१) शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से, पूर्ण रूप से नष्ट हो चुका है घाति कर्म जिसका, (२) क्षायोपशमिकज्ञान, दर्शन के साथ असपृक्त (सम्बन्ध रहित) हो जाने से अतीन्द्रिय होता हुआ, (३) समस्त अन्तराय का क्षय होने से जिसका अनन्त उत्तम वीर्य है, (४) समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण का नाश हो जाने से अधिक जिसका केवलज्ञान और केवलदर्शन नामक तेज है। (५) समस्त मोहनीय के अभाव के कारण से अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वभाव वाले आत्मा को अनुभव करता**

---

१ पक्खीणघाइकम्मो (ज० वृ०)। २ अणतवरवीरियो (ज० वृ०)। ३ अहियते जो (ज० वृ०)। ४ अणिंदियो (ज० वृ०)।

हुआ, स्वयमेव स्वपर, प्रकाशकता लक्षण वाले ज्ञान और अनाकुलता लक्षण वाले सुखरूप होकर परिणमित होता है।

सार—इस प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द है। स्वभाव के पर का निरपेक्षपना होने के कारण से, इन्द्रियों के विना भी, आत्मा के ज्ञान और आनन्द होते है।

तात्पर्यवृत्ति

अथास्यात्मनो निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणशुद्धोपयोगप्रभावात्सर्वज्ञत्वे सतीन्द्रियैर्विना कथ ज्ञानानन्दाविति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति **पक्खीणघाइकम्मो** ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मद्रव्यभावनालक्षणशुद्धोपयोगबलेन प्रक्षीणघातिकर्मा सन्। **अणंतवरवीरियो** अनन्तवरवीर्य.। पुनरपि किंविशिष्ट ? **अहियतेजो** अधिकतेजा:। अत्र तेज शब्देन केवलज्ञानदर्शनद्वय ग्राह्यम्। **जादो सो** स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा जातः सजात.। कथभूत ? **अणिदियो** अनिन्द्रिय इन्द्रियविषयव्यापाररहितः। अतीन्द्रिय सन् कि करोति ? **णाणं सोक्खं च परिणमदि** केवलज्ञानमनन्तसौख्यं च परिणमतीति। तथाहि—अनेन व्याख्यानेन किमुक्त भवति ? आत्मा तावन्निश्चयेनानन्तज्ञानसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेण ससारावस्थाया कर्मप्रच्छादितज्ञानसुख सन् पश्चादिन्द्रियाधारेण किमप्यल्पज्ञानं सुख च परिणमति ? यदा पुनर्निर्विकल्पस्वसंवित्तिबलेन कर्माभावो भवति तदा क्षयोपशमाभावादिन्द्रियाणि न सन्ति स्वकीयातीन्द्रियज्ञानसुख चानुभवति। तत' स्थित इन्द्रियाभावेऽपि स्वीकायानन्तज्ञान सुख चानुभवति तदपि कस्मात् ? स्वभावस्य परापेक्षा नास्तीत्यभिप्राय.॥१६॥

उत्थानिका—आगे शिष्य ने प्रश्न किया कि इस आत्मा के विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण रूप शुद्धोपयोग के प्रभाव से सर्वज्ञपना प्राप्त होने पर इन्द्रियो के द्वारा उपयोग तथा भोग के विना किस तरह ज्ञान और आनन्द हो सकते है ? इसका उत्तर आचार्य देते है —

अन्वय सहित विशेषार्थ— **(सो) वह सर्वज्ञ आत्मा जिसका लक्षण पहले कहा है (पक्खीणघाइकम्मो) घातियाकर्मों को क्षयकर अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य इन चतुष्टय रूप परमात्मा द्रव्य की भावना के लक्षण को रखने वाले शुद्धोपयोग के बल से ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों को नाशकर (अणंतवरवीरियो) अंत रहित और उत्कृष्ट वीर्य को रखता हुआ (अहियतेजो) व अतिशय तेज को धरता हुआ अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त हुआ (अणिदियो) अतीन्द्रिय अर्थात् इंद्रियो के विषयों के व्यापार से रहित (जादो) हो गया (च) तथा ऐसा होकर (णाणं) केवलज्ञ.न को (सोक्खं) और अनंतसुख को (परिणमदि) परिणमन करता है।**

इस व्याख्यान मे यह कहा है कि आत्मा यद्यपि निश्चय से अनंतज्ञान और अनंतसुख के स्वभाव को रखने वाला है तो भी व्यवहार से ससार की अवस्था मे पड़ा हुआ है, जब इसका केवलज्ञान और अनतसुख स्वभाव कर्मो से ढका हुआ है, तव तक पांच इन्द्रियों के

आधार से कुच अल्प ज्ञान व कुछ अल्प सुख मे परिणमन करता है। फिर जब कभी विकल्प रहित स्वसवेदन या निश्चल आत्मानुभव के बल से कर्मो का अभाव होता है तब क्षयोपशमज्ञान के अभाव होने पर इन्द्रियों के व्यापार नहीं होते है, उस समय अपने ही अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख को अनुभव करता है क्योकि स्वभाव के प्रगट होने मे पर की अपेक्षा नही है, ऐसा अभिप्राय है।

अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखदु ख नास्तीति विभावयति—

सोक्खं वा पुण दुक्ख केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं[1] ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ।।२०।।

सौख्य वा पुनर्दु ख केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम् ।
यस्मादतीन्द्रियत्व जात तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ।।२०।।

यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस इव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरम्परास्थानीयं शरीरगतं सुखदु खं न स्यात् ।।२०।।

भूमिका—अब, अतीन्द्रियपने के कारण से ही शुद्ध आत्मा के शारीरिक सुख-दु ख नही है, इस बात को व्यक्त करते है—

अन्वयार्थ—[केवलज्ञानिन] केवलज्ञानी के [देहगत] शरीर सम्वन्धी [सौख्य] सुख [वा पुन] या [दु ख] दु ख [नास्ति] नही है [यस्मात्] क्योकि [अतीन्द्रियत्व] अतीन्द्रियता [जात] उत्पन्न हुई है [तस्मात् तु तत् ज्ञेयम्] इसलिये ऐसा जानना चाहिये।

टीका—जैसे अग्नि के लोहपिण्ड के तप्त पुद्गलो का समस्त विलास समूह नही है (अर्थात् अग्नि लोहे के गोले के पुद्गलो के विलास से–उनकी क्रिया से भिन्न है) उसी प्रकार शुद्ध आत्मा के इद्रिय समूह नही है, इस ही कारण से जैसे (अग्नि के) घन (लोहपिगु) के घोर आघातों की परम्परा नही है (लोहे के गोले के संसर्ग का अभाव होने पर घन के लगातार आघातों की भयकर मार अग्नि पर नही पड़ती), इसी प्रकार (शुद्ध आत्मा के) शरीर सम्बन्धी सुख-दुःख नही है।

तात्पर्यवृत्ति—

अथातीन्द्रियत्वादेव केवलिन शरीराधारोद्भूत भोजनादिसुख क्षुधादिदु ख च नास्तीति विचारयति —

सोक्खं वा पुण दुक्ख केवलणाणिस्स णत्थि सुख वा पुनर्दु ख वा केवल-

---

१ देहगय (ज० वृ०)।

ज्ञानिनो नास्ति। कथभूतम्? **देहगयं** देहगत देहाधारजिह्वेन्द्रियादिसमुत्पन्न कवलाहारादिसुखम्, असातोदयजनित क्षुधादि दुःख च। कस्मान्नास्ति? **जह्मा अदिदियत्तं जादं** यस्मान्मोहादिघातिकर्माभावे पञ्चेन्द्रियविषयसुखाय व्यापाररहितत्व जातम्। **तह्मा दु तं णेयं** तस्मादतीन्द्रियत्वाद्धेतोरतीन्द्रियमेव तज्ज्ञान सुख च ज्ञेयमिति। तद्यथा—लोहपिण्डसमर्गाभावादग्निर्यथा घनघातपिट्टन न लभते तथायमात्मापि लोहपिण्डस्थानीयेन्द्रियग्रामाभावात् सांसारिकसुखदुःख नानुभवतीत्यर्थः। कश्चिदाह केवलिना भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात्। असद्वेद्यकर्मोदयसद्भावाद्वा। अस्मदादिवत्। परिहारमाह-तद्भगवत शरीरमौदारिक न भवति किन्तु परमौदारिक तथाचोक्त—

शुद्धस्फटिकसकाशं तेजोमूर्तिमय वपु।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्॥

यच्चोक्तमसद्वेद्योदयसद्भावात्तत्र परिहारमाह–यथा व्रीह्यादिबीज जलसहकारिकारणसहितमकुरादिकार्य जनयति तथैवासद्वेद्यकर्म मोहनीयसहकारिकारणसहित क्षुधादिकार्यमुत्पादयति। कस्मात्? '**मोहस्स बलेण घाददे जीव**' इति वचनात्। यदि पुनर्मोहाभावेपि क्षुधादिपरीषह जनयति तर्हि वधरोगादिपरीषहमपि जनयतु न च तथा। तदपि कस्मात्? '**भुक्त्युपसर्गाभावात्**' इति वचनात्। अन्यदपि दूषणमस्ति। यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्य नास्ति। तथैव क्षुधादुःखितस्यानन्तसुखमपि नास्ति। जिह्वेन्द्रियपरिच्छित्तिरूपमतिज्ञानपरिणतस्य केवलज्ञानमपि न सभवति। अथवा अन्यदपि कारणमस्ति। असद्वेद्योदयापेक्षया सद्वेद्योदयोऽनन्तगुणोस्ति। ततः कारणात् शर्कराराशिमध्ये निम्बकणिकावदसद्वेद्योदयो विद्यमानोपि न ज्ञायते। तथैवान्यदपि बाधकमस्ति-यथा प्रमत्तसयतादितपोधनाना वेदोदये विद्यमानेपि मन्दमोहोदयत्वादखण्डब्रह्मचारिणा स्त्रीपरीषहबाधा नास्ति। यथैव च नवग्रैवेयकाद्यहमिन्द्रदेवानां वेदोदये विद्यमानेपि मन्दमोहोदयेन स्त्रीविषयबाधा नास्ति, तथा भगवत्यसद्वेद्योदये विद्यमानेपि निरवशेषमोहाभावात् क्षुधाबाधा नास्ति। यदि पुनरुच्यते भवद्भि—मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवलिपर्यन्तास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जीवा आहारका भवन्तीत्याहारकमार्गणायामागमे भणितमास्ते, तत कारणात् केवलिनामाहारोस्तीति। तदप्ययुक्तम्। परिहारः—

णोकम्म–कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥

इति गाथाकथितक्रमेण यद्यपि षट्प्रकार आहारो भवति तथापि नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वमवबोद्धव्यम्। न च कवलाहारापेक्षया। तथाहि–सूक्ष्मा सुरसा सुगन्धा अन्यमनुजानामसभविन कवलाहार विनापि किञ्चिदूनपूर्वकोटिपर्यन्त शरीरस्थितिहेतव सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीरनोकर्माहारयोग्या लाभान्तरायकर्मनिरवशेषक्षयात् प्रतिक्षण पुद्गला आस्रवन्तीति नवकेवलिलब्धिव्याख्यानकाले भणित तिष्ठति। ततो ज्ञायते नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वम्। अथ मतम्–भवदीयकल्पनया आहारानाहारकत्व नोकर्माहारापेक्षया, न च कवलाहारापेक्षया चेति कथ ज्ञायते नैवम्। "एक द्वौ त्रीन् वानाहारक" इति तत्त्वार्थे कथितमास्ते। अस्य सूत्रस्यार्थ कथ्यते–भवान्तरगमनकाले विग्रहगतौ शरीराभावे सति नूतनशरीरधारणार्थ त्रयाणा शरीराणा षण्णा पर्याप्तीना योग्यपुद्गलपिण्डग्रहण नोकर्माहार उच्यते। न च विग्रहगतौ

कर्माहारे विद्यमानेप्येकद्वित्रिसमयपर्यन्त नास्ति। ततो नोकर्माहारापेक्षयाह रानाहारकत्वमागमे ज्ञायते। यदि पुन कवलाहारापेक्षया तर्हि भोजनकाल विहाय सर्वदैवानाहारक एव, समयत्रयनियमो न घटते। अथ मतम्-केवलिना कवलाहारोऽस्ति मनुष्यत्वात् वर्तमानमनुष्यवत्। तदप्ययुक्तम्। तर्हि पूर्वकालपुरुषाणा सर्वज्ञत्व नास्ति, रामरावणादिपुरुषाणा च विशेषसामर्थ्य नास्ति वतमान-मनुष्यवत्। न च तथा। किंच क्षद्मस्थतपोधना अपि सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरोराभावे 'छट्ठोत्ति **पढमसण्णा'** इति वचनात् प्रमत्तसयतषष्ठगुणस्थानवर्तिनो यद्यप्याहार गृह्णन्ति तथापि ज्ञानसयम-ध्यानसिद्धयर्थ, न च देहममत्वार्थम्। उक्त च—

कायस्थित्यर्थमाहार कायो ज्ञानार्थमिष्यते।
ज्ञान कर्मविनाशाय तन्नाशे परम सुखम्॥
ण बलाउसाहणट्ठ ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठ।
णाणट्ठ सजमट्ठं झाणट्ठ चेव भुजति॥

तस्य भगवतो ज्ञानसयमध्यानादिगुणा स्वभावेनैव तिष्ठन्ति न चाहारबलेन। यदि पुन-र्देहममत्वेनाहार गृह्णाति तर्हि छद्मस्थेभ्योऽप्यसौ हीन. प्राप्नोति। अथोच्यते-तस्यातिशयविशे-षात्प्रकटा भुक्तिर्नास्ति प्रच्छन्ना विद्यते। तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद्भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशया किं न भवति ? तत्र तु प्रच्छन्नोभुक्तौ मायास्थान दैन्यवृत्ति, अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता दोषा बहवो भवन्ति ? ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या.। अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्त इति। अयमत्र भावार्थ – इद वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यमत्राग्रहो न कर्तव्यः। कस्मात् ? दुराग्रहे सति रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मभावनाविघातो भवतीति॥२०॥

एवमनन्तज्ञानसुखस्थापने प्रथमगाथा केवलिभुक्तिनिराकरणे द्वितीया चेति गाथाद्वय गतम्। इति सप्तगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिनामा द्वितीयोन्तराधिकारः समाप्तः

उत्थानिका—आगे कहते है कि अतीन्द्रियपना होने से ही केवलज्ञानी के शरीर के आधार से उत्पन्न होने वाला भोजनादि का सुख तथा क्षुधा आदि का दुख नही होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पुण) तथा (केवलणाणिस्स) केवल ज्ञानी के (देहगय) देह से होने वाला अर्थात् शरीर के आधार मे रहने वाली जिह्वा इन्द्रिय आदि के द्वारा पैदा होने वाला (सोक्खं) सुख (वा दुक्खं) और दुःख अर्थात् असातावेदनीय आदि के उदय से पैदा होने वाला क्षुधा आदि का दुःख (णत्थि) नही होता है। (जम्हा) क्योकि (अदिंदियत्तं) अतीन्द्रियपना अर्थात् मोहनीय आदि घातियाकर्मो के अभाव होने पर पाँचों इन्द्रियों के विषय सुख के लिये व्यापार का अभावपना ऐसा अतीन्द्रियपना (जादं) प्रगट हो गया है (तम्हा) इसलिये (तं दु) वह अर्थात् अतीन्द्रियपना होने के कारण से अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय सुख तो (णेयं) जानना चाहिये।**

भाव यह कि जैसे लोहे के पिंड की सगति को न पाकर अग्नि हथौड़े की चोट नहीं सहती है तैसे यह आत्मा भी लौहपिंड के समान इन्द्रिय ग्रामों का अभाव होने से अर्थात् इन्द्रियजनित ज्ञान के बन्द होने से सांसारिक सुख तथा दुःख को अनुभव नहीं करता है।

यहाँ किसी ने कहा है कि केवलज्ञानी भी भोजन करते है क्योंकि उनके औदारिक शरीर की सत्ता है तथा असातावेदनीयकर्म के उदय का सद्भाव है, जैसे हम लोगों के भोजन होताहै इसका खडन करते है कि श्री केवली भगवान् के औदारिक शरीर नहीं है किन्तु परम औदारिक है, जैसे कि कहा है—

अर्थात् दोष-रहित केवलज्ञानी के शुद्ध स्फटिक मणि के समान परम तेजस्वी तथा सात धातु से रहित शरीर होता है। और जो यह कहा है कि असातावेदनीय के उदय के सद्भाव से केवली के भूख लगती है और वे भोजन करते है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे धान्य, जो आदि का बीज जलादि सहकारी कारण सहित होने पर ही अंकुर आदि कार्य को उत्पन्न करता है तैसे ही असातावेदनीयकर्म मोहनीयकर्मरूप सहकारी कारण के साथ ही क्षुधा आदि कार्य को उत्पन्न करता है क्योंकि कहा है "मोहस्स बलेण घाददे जीवं" वेदनीयकर्म मोह के बल को पाकर जीव को घात करता है। यदि मोहनीयकर्म के अभाव होने पर भी असातावेदनीयकर्म क्षुधा आदि परीषह को उत्पन्न करदे तो वध रोग आदि परीषह भी उत्पन्न हो जावे, सो ऐसा होता नहीं है क्योंकि कहा है "भुक्त्युपसर्गाभावात्" केवली के भोजन व उपसर्ग नहीं होते, और भी दोष यह आता है कि यदि केवली को क्षुधा की बाधा है, तब क्षुधा के कारण शक्ति क्षीण होने से अनन्तवीर्य नहीं बनेगा तैसे ही क्षुधा द्वारा जो दुःखी होगा उसके अनन्तसुख भी नही हो सकेगा तथा रसना इन्द्रिय द्वारा ज्ञान में परिणमन करते हुए मतिज्ञानी के केवलज्ञान का होना भी सम्भव न होगा। अथवा और भी हेतु है। असातावेदनीय के उदय की अपेक्षा केवली के सातावेदनीय का उदय अनन्त-गुणा है। इस कारण से जैसे शक्कर के ढेर में नीम का कण अपना असर नही दिखलाता है वैसे अनन्तगुणे सातावेदनीय के उदय में असातावेदनीय का असर नही प्रगट होता, तैसे ही और भी बाधक हेतु है। जैसे प्रमत्तसंयमी आदि साधुओं के वेद का उदय रहते हुए भी मन्द-मोह के उदय से अखंड ब्रह्मचारियों के स्त्री परीषह की बाधा नहीं होती है तथा नव-ग्रैवेयक आदि के अहमिन्द्रो के वेद का उदय होते हुए भी मन्द मोह के उदय से स्त्री-सेवन-सम्बन्धी बाधा नही होती है, तैसे ही श्री

केवली अरहंत के असातावेदनीय का उदय होते हुए भी सम्पूर्ण स्नेह का अभाव होने से क्षुधा की बाधा नही हो सकती है। यदि ऐसा आप कहें कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आहारक होते हैं, ऐसा आहार मार्गणा के सम्बन्ध में आगम में कहा हुआ है, इस कारणा से केवलियों के आहार है, ऐसा मानना चाहिये। सो ठीक नहीं है, ऐसा मानना चाहिये। सो ठीक नहीं है क्योंकि निम्न गाथा के अनुसार आहार छः प्रकार का होता है—

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥२॥

भाव यह है कि आहार छः प्रकार का होता है, जैसे-कर्म का आहार, कर्मो का आहार, ग्रासरूप कवलाहार, लेपका आहार, ओज आहार तथा मानसिक आहार। आहार उन परमाणुओं के ग्रहण को कहते है जिनसे शरीर की स्थिति रहे। आहरक वर्गणा का शरीर मे प्रवेश सो नोकर्म का आहार है। जिन परमाणुओ के समूह से देवों का, नारकियों का, मनुष्य या तिर्यचों का वैक्रियिक, औदारिकशरीर और मुनियो के आहारकशरीर बनता है उसको आहारक वर्गणा कहते है। कार्माण वर्गणा के ग्रहण को कर्म-आहार कहते है। इन्हीं वर्गणाओं से कर्मो का सूक्ष्मशरीर बनता है। अन्न, पानी आदि पदार्थो को मुंह चलाकर खाना-पीना कवलाहार है। यह साधारण मनुष्यों के व द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के पशुओं के होता है। स्पर्श से शरीर पुष्टिकारक पदार्थो को ग्रहण करना सो लेप आहार है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति कायधारी एकेन्द्रिय जीवों के होता है। अंडों को माता सेती है उससे गर्मी पहुंचाकर अण्डों को पकना सो ओज आहार है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी इन चार प्रकार के देवों के मानसिक आहार होता है। इनके वैक्रियिक दिव्यशरीर होता है, जिसमें हाड़, मांस, रुधिर नही होता है, इसलिये इनके कवलाहार नही है, यह मांस व अन्न नही खाते है। देवों के जब कभी भूख की बाधा होती है तो उनके कण्ठ में से अमृतमयी रस झर जाता है उससे ही उनकी भूख की बाधा मिट जाती है। नारकियों के कर्मो का भोगना यही आहार है तथा वे नरक की पृथ्वी की मिट्टी खाते है परन्तु उससे उनकी भूख मिटती नही है। इन छः प्रकार के आहारों में से केवली अरहंत भगवान् के मात्र नोकर्म्म का आहार है इस ही अपेक्षा से केवली अरहंतों के आहारकपना जानना चाहिये, कवलाहार की अपेक्षा से नही। सूक्ष्म इन्द्रियों के अगोचर, रस वाले सुगन्धित अन्य मनुष्यों के लिए असम्भव, कवलाहार के बिना भी कुछ कम कोटि-

पूर्व तक शरीर की स्थिति के कारण, सात धातुओं से रहित परमौदारिक शरीर रूप नोकर्म्म के आहार के योग्य आहारक वर्गणाओं के पुद्गल लाभान्तराय कर्म्म के पूर्ण क्षय हो जाने से केवली भगवान् के शरीर में योग-शक्ति के आकर्षण से प्रति समय आते है। यही केवली आहार है। यह बात नवकेवललब्धि व्याख्या के अवसर पर कही गई है इसलिये यह जाना जाता है कि केवली अरहंतों के नोकर्म्म के आहार की अपेक्षा से ही आहारकपना है। यदि आप कहो कि आहारकपना नोकर्म्म के आहार की अपेक्षा कहना तथा कवलाहार की अपेक्षा न कहना यह आपकी कल्पना है यदि सिद्धान्त मे है तो कैसे मालूम पड़े तो इसका समाधान यह है कि श्री उमास्वामी महाराज कृत तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में यह वाक्य है। "एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः', ॥३०॥ इस सूत्र का भावरूप अर्थ कहा जाता है। एक शरीर को छोड़कर दूसरे भव में जाने के काल में विग्रहगति के भीतर स्थूलशरीर का अभाव होते हुए नवीन स्थूलशरीर धारण करने के लिये तीन शरीर और छः पर्याप्ति के योग्य पुद्गल पिंड का ग्रहण होना नो-कर्म्म-आहार कहा जाता है। ऐसा नोकर्म आहार विग्रहगति के भीतर कर्मो का ग्रहण या कार्माणवर्गणा का आहार होते हुए भी एक, दो या तीन समय तक नहीं होता है। इसलिये ऐसा जाना जाता है कि आगम में नोकर्म्म आहार की अपेक्षा से आहारकपना कहा है। यदि कहोगे कि कवलाहार की अपेक्षा से है तो ग्रासरूप भोजन के काल को छोड़कर सदा ही अनाहारकपना रहेगा। तव तीन समय अनाहारक है, ऐसा नियम न रहेगा। यदि कहोगे कि वर्तमान के मनुष्यों की तरह केवलियों के कवलाहार है क्योंकि केवली भी मनुष्य है, सो कहना भी ठीक नही है क्योकि ऐसा मानोगे तो वर्तमान के मनुष्यों की तरह पूर्वकाल के पुरुषों के सर्वज्ञपना न रहेगा तथा राम, रावण आदि को विशेष सामर्थ्य थी सो यह बात नही बन सकेगी, और समझना चाहिये कि अल्पज्ञानी छद्मस्थ प्रमत्तसंयतनामा छठे गुणस्थानधारी साधु भी जिनके सात धातु रहित परम औदारिक शरीर नही है इस वचन से कि "छट्ठोत्ति पढम सण्णा" षष्ठ गुणस्थान तक प्रथम आहार सज्ञा है अर्थात् भोजन करने की चाह छठे गुणस्थान तक ही है यद्यपि वे आहार को लेते है तथापि ज्ञान और संयम तथा ध्यान की सिद्धि के लिये लेते है, देह के मोह के लिये नही लेने है। कहा भी है—

कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते,
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखं ॥३॥
ण वलाउ साहणट्ठं ण सरीरस्य य चयट्ठं तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठ झाणट्ठ चेव भुंजंति ॥४॥

भाव यह है कि मुनियों के आहार शरीर की स्थिति के लिये होता है, शरीर को ज्ञान के लिये रखते है, आत्मज्ञान कर्म नाश के लिये सेवन करते हैं क्योंकि कर्मों के नाश से परम सुख होता है। मुनि शरीर के बल आयु, चेष्टा तथा तेज के लिये भोजन नही करते है किन्तु ज्ञान, संयम तथा ध्यान के लिये करते हैं। उन भगवान् केवली के तो ज्ञान, संयम तथा ध्यान आदि गुण स्वभाव से ही पाए जाते हैं आहार के बल से नहीं। उनको संयमादि के लिये आहार की आवश्यकता तो है नहीं क्योंकि कर्मो के आवरण न होने से संयमादि गुण तो प्रगट हो रहे है। फिर यदि कहो कि देह के ममत्त्व से आहार करते है तो वे केवली छद्मस्थ मुनियों से भी हीन हो जायेंगे। यदि कहोगे कि उनके अतिशय की विशेषता से प्रगटरूप से भोजन की मुक्ति नहीं है, गुप्त है, तो परमौदारिक शरीर होने से मुक्ति ही नही है ऐसा अतिशय क्यों नही होता है। क्योंकि गुप्त भोजन में मायाचार का स्थान होता है, दीनता की वृति आती है तथा दूसरे भी पिड शुद्धि में कहे हुए बहुत से दोष होते है जिनको दूसरे ग्रन्थ से व तर्कशास्त्र से जानना चाहिये। अध्यात्म ग्रन्थ होने से यहाँ अधिक नहीं कहा गया है। यहाँ यह भावार्थ है कि ऐसा ही वस्तु का स्वरूप जानना चाहिये। इसमे हठ नहीं करना चाहिये। खोटा आग्रह या हठ करने से रागद्वेष की उत्पत्ति होती है, जिससे निर्विकार चिदानंदमयी एक स्वभाव रूप परमात्मा की भावना का घात होता है। इस तरह अनन्तज्ञान और सुख की स्थापना करते हुए प्रथम गाथा तथा केवली के भोजन का निराकरण करते हुए दूसरी गाथा है। इस तरह दो गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह सात गाथाओं के द्वारा चार स्थलों से सामान्य से सर्वज्ञ-सिद्धि नाम का दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥२०॥

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं सौख्यस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वयेनाभिदधाति। तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति विभावयति—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

परिणममानस्य खलु ज्ञान प्रत्यक्षा. सर्वद्रव्यपर्यायाः।
सो नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः ॥२१॥

यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकप्रक्रमेण केवली विजानाति, स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय

तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्य-क्षेत्रकालभावतया [1]समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति ।।२१।।

भूमिका—अब, ज्ञान के स्वरूप के विस्तार को (गाथा २१ से ५२ तक) और सुख के विस्तार को (गाथा ५३ से ६८ तक) क्रम से प्रवर्तमान दो अधिकारों द्वारा कहते है। उनमें से पहले अधिकार को प्रारम्भ करते हुए, केवली के अतीन्द्रियज्ञान (रूप) परिणत होने से सब प्रत्यक्ष होता है यह प्रगट करते है—

अन्वयार्थ—[ज्ञान परिणममानस्य केवलिन.] (अनन्त पदार्थो के जानने में समर्थ ऐसे) केवलज्ञान रूप से परिणत हुए केवली भगवान् के [सर्वद्रव्यपर्यायाः] सब द्रव्य पर्याये [खलु] वास्तव मे [प्रत्यक्षा·] प्रत्यक्ष है। [सः] वह (केवली भगवान्) [तान्] उन सब (द्रव्य-पर्यायो) को [अवग्रहपूर्वाभिःक्रियाभि.] अवग्रह है पूर्व मे जिनके ऐसे अवग्रह, ईहा अवाय रूप क्रियाओं द्वारा [नैव] नही [विजानाति] जानते है (किन्तु युगपत् जानते है)।

टीका—क्योंकि, वास्तव में, इन्द्रियों को आलम्बन करके अवग्रह, ईहा, अवाय पूर्वक क्रम से केवली नहीं जानते है (किन्तु) समस्त आवरण के नाश के समय में ही, अनादि अनन्त, अहेतुक और असाधारणभूत ज्ञान स्वभाव को ही कारणपने से ग्रहण करके, उसके ऊपर प्रगट होने वाले केवलज्ञानोपयोगी होकर स्वयमेव परिणमते है। इस कारण से उस (केवली) के, समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अक्रमिक (युगपत्) ग्रहण होने से (जानने से) प्रत्यक्ष ज्ञान की आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्याये प्रत्यक्ष ही है। (भवन्ति क्रिया का कर्त्ता समस्त द्रव्य पर्याये है।)

तात्पर्यवृत्ति

उपोद्घातः—अथ ज्ञानप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथा भवन्ति। तत्राष्टौ स्थलानि। तेष्वादौ केवलज्ञानस्य सर्व प्रत्यक्ष भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'परिणमदो खलु' इत्यादि-गाथाद्वयम्, अथात्मज्ञानयोर्निश्चयेनासख्यातप्रदेशत्वेपि व्यवहारेण सर्वगतत्व भवतीत्यादिकथनमुख्यत्वेन "आदा णाणपमाण" इत्यादिगाथापञ्चकम्, ततः पर ज्ञानज्ञेययो. परस्परगमननिराकरणमुख्यतया "णाणी णाणसहावो" इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ निश्चयव्यवहारकेवलिप्रतिपादनादिमुख्यत्वेन "जो हि सुदेण' इत्यादिसूत्रचतुष्टय, अथ वर्तमानज्ञाने कालत्रयपर्यायपरिच्छित्तिकथनादिरूपेण "तक्कालिगेव सव्वे" इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञान बन्धकारण न भवति रागादिविकल्परहित छद्मस्थ-ज्ञानमपि। किन्तु रागोदयो बन्धकारणमित्यादिनिरूपणमुख्यतया "परिणमदि णेय" इत्यादिसूत्र-पञ्चकम्, अथ केवलज्ञान सर्वज्ञान सर्वज्ञत्वेन प्रतिपादयतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन "ज तक्कालियमिदर" इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ ज्ञानप्रपचोपसहारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, नमस्कारकथनेन

१ 'समस्त' इति पाठान्तरम्।

द्वितीया चेति 'णवि परिणमदि" इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं ज्ञानप्रपञ्चाभिधानतृतीयान्तराधिकारे त्रयस्त्रिशद्गाथाभि स्थलाष्टकेन समुदायपातनिका ।तद्यथा—

अथातीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्केवलिनः सर्वप्रत्यक्ष भवतीति प्रतिपादयति ।

पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया सर्वद्रव्यपर्याया प्रत्यक्षा भवन्ति । कस्य ? केवलिनः । कि कुर्वत ? **परिणमदो** परिणममानस्य खलु स्फुटम् । किम् ? **णाण** अनन्तपदार्थपरिच्छित्तिसमर्थ केवलज्ञानम् । तर्हि कि क्रमेण जानाति ? **सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं** स च भगवान्नैव तान् जानात्यवग्रहपूर्वाभि क्रियाभि, किन्तु युगपदित्यर्थ । इतो विस्तरः—अनाद्यनन्तमहेतुक चिदानन्दैकस्वभाव निजशुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा केवलज्ञानोत्पत्तेर्बीजभूतेनागमभाषया शुक्लध्यानसज्ञेन रागादिविकल्पजालरहितस्वसवेदनज्ञानेन यदायमात्मा परिणमति, तदा स्वसवेदनज्ञानफलभूतकेवलज्ञानपरिच्छित्त्याकारपरिणतस्य तस्मिन्नेव क्षणे क्रमप्रवृत्तक्षायोपशमिकज्ञानाभावादक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया सर्वद्रव्यगुणपर्याया अस्यात्मन प्रत्यक्षा भवन्तीत्यभिप्राय ॥२१॥

उत्थानिका—आगे ज्ञान प्रपच नाम के अन्तर अधिकार मे तेतीस गाथाये है, उनमे आठ स्थल है जिनके आदि मे केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कहते हुए 'परिणमदो खलु' इत्यादि गाथाएँ दो है फिर आत्मा और ज्ञान के निश्चय से असख्यात प्रदेश होने पर भी व्यवहार से सर्वव्यापी बना है इत्यादि कथन की मुख्यता से "आदा णाणपमाण" इत्यादि गाथाए पॉच है । उसके पीछे ज्ञान और ज्ञेय पदार्थो का एक-दूसरे मे गमन के निषेध की मुख्यता से "णाणी णाणसहावो" इत्यादि गाथाएँ पॉच है । आगे निश्चय और व्यवहार से केवलो के प्रतिपादन आदि मुख्यता करके "जोहि सुदेण" इत्यादि चार सूत्र है । आगे वर्तमान काल के ज्ञान मे तीन काल की पर्यायो के जानपने को कहने आदि की मुख्यता से "तक्कालिगेव सव्वे" इत्यादि पॉच सूत्र है । आगे केवलज्ञान बन्ध का कारण नही है, न रागादि विकल्परहित 'छद्मस्थ का ज्ञान बन्ध का कारण है किन्तु रागादिक बन्ध के कारण है इत्यादि निरूपण की मुख्यता से "परिणमदि णेय" इत्यदि पॉच सूत्र है । आगे केवलज्ञान सर्वज्ञान है इसी को सर्वज्ञपना करके कहते है इत्यदि व्याख्यान की मुख्यता से "ज तक्कालियमिदर" इत्यादि पॉच गाथाएँ है । आगे ज्ञान प्रपच को सकोच करने की मुख्यता से पहली गाथा है तथा नमस्कार को कहते हुए दूसरी तरह "णवि परिणमदि" इत्यादि दो गाथाएँ है । इस तरह ज्ञान प्रपच नाम के तीसरे अन्तर अधिकार मे तेतीस गाथाओ मे आठ स्थलो से समुदाय पातनिका पूर्ण हुई । आगे कहते है कि केवलज्ञानी अतीन्द्रिय ज्ञान मे परिणमन करते है इस कारण से उनको सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष होते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(खलु) वास्तव मे (णाणं) अनन्त पदार्थो को जानने मे समर्थ केवलज्ञान को (परिणमदो) परिणमन करते हुए केवली अरहंत भगवान् के**

(सव्वदव्वपज्जाया) सर्व द्रव्य और उनकी तीन कालवर्ती सर्व पर्यायें (पच्चक्खा) प्रत्यक्ष हो जाती है। (सः) वह केवली भगवान् (ते) उन सर्व द्रव्य पर्यायों को (ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं) अवग्रहपूर्वक क्रियाओं के द्वारा (णेव विजाणदि) नही जानते है किन्तु युगपत् जानते है, ऐसा अर्थ है।

इसका विस्तार यह है कि आदि और अन्त रहित, बिना किसी उपादानकारण के सत्ता रखने वाले तथा चैतन्य और आनन्दमयी स्वभाव के धारी अपने शुद्ध आत्मा को उपादेय, अर्थात् ग्रहण योग्य समझकर केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीजभूत जिसको आगम की भाषा से शुक्लध्यान कहते है, होने से रागादि विकल्पों के जाल से रहित स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा जब यह आत्मा परिणमन करता है तब स्वसंवेदन ज्ञान के फलस्वरूप केवलज्ञानमयी ज्ञानाकार में परिणमन करने वाले केवली भगवान् के उसी ही क्षण मे, जब केवलज्ञान पैदा होता है, तब क्रम-क्रम से जानने वाले मतिज्ञानादि ज्ञान के अभाव से, बिना क्रम के एक साथ सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल सहित सर्व द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्यक्ष प्रतिभासमान हो जाते है, ऐसा अभिप्राय है।

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा[1] सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२॥

नास्ति परोक्ष किंचिदपि समन्तत' सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य।
अक्षातीतस्य सर्वदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ॥२२॥

अस्य खलु भगवत समस्तावरणक्षयक्षणे एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधान-हेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षाणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः समरसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रिगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनक्षममनश्वरं[2] लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात् ॥२२॥

भूमिका—अब, इस भगवान् के अतीन्द्रियज्ञान (रूप) परिणत होने से ही कुछ भी परोक्ष नही है, इस अभिप्राय को प्रगट करते है। ('सब प्रत्यक्ष है' ऐसा अन्वय रूप से पूर्व सूत्र में कहा था। अब कुछ भी परोक्ष नहीं है, इस प्रकार उस ही अर्थ को व्यतिरेक से दृढ करते है)—

---

१ सया (ज० वृ०)। २ स्वपरप्रकाशनस्य, स्वैर लोको, इति पाठान्तरम्।

अन्वयार्थ—(१) [सर्वदा अक्षातीतस्य] सदा (सर्वकाल) इन्द्रिय व्यापार से रहित (२) [समन्तत सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य] सर्व आत्म–प्रदेशो से या समस्तपने से स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द की जानकारी रूप सर्व इन्द्रिय गुणो से समृद्ध, (३) [स्वयमेव ज्ञानजातस्य] स्वयमेव ज्ञान रूप परिणत (तस्य भगवतः) उस केवली भगवान् के [हि] वास्तव मे [किचित् अपि] कुछ भी हो [परोक्ष नास्ति] परोक्ष नही है ।

टीका—(१) **[सांसारिक-परिच्छित्ति-निष्पत्ति-बलाधान-हेतुभूतानि] जो सांसारिक ज्ञान की उत्पत्ति में बल देने रूप हेतुभूत (निमित्तकारण) है और [प्रतिनियत-विषय-ग्राहीणि] अपने-अपने निश्चित विषय को ग्रहण करने वाली [अक्षाणि] इन्द्रियाँ है [तैः अतीतस्य] उनसे अतीत, (२) [स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्द-परिच्छेद-रूपै सर्वैः इन्द्रियगुणैः] स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द के ज्ञान रूप सर्व इन्द्रिय-गुणों के द्वारा [समन्तत] सब आत्म प्रदेशों से [समरसतया समृद्धस्य] सम-रस-रूप से समृद्ध (अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द को सर्व आत्म-प्रदेशों से समान रूप से जानने वाले), (३) [स्वयमेव सामस्त्येन स्वपर-प्रकाशन-क्षमं] स्वयमेव सम्पूर्ण रूप से स्व-पर-प्रकाशन करने में समर्थ और (अविनश्वरं) अविनाशी (ऐसे) [लोकोत्तरज्ञानजातस्य] लोकोत्तर ज्ञान रूप उत्पन्न हुए, (ऐसे तीन विशेषण युक्त) [अस्य भगवतः] इस केवली भगवान् के [खलु] वास्तव में (समस्तावरणक्षयक्षणे एव) समस्त आवरण के क्षय के समय में ही [अक्रम-समाक्रान्त-समस्त-द्रव्य-क्षेत्र काल-भावतया] समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अक्रमिक (युगपत्) ग्रहण होने से (सब को युगपत् जानने से) [किंचित् अपि] कुछ भी [परोक्षं एव न स्यात्] परोक्ष नही है (साक्षात् जानने से बचा हुआ नही है ॥२२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ सर्वं प्रत्यक्ष भवतीत्यन्वयरूपेण पूर्वसूत्रे भणितमिदानी तु परोक्ष किमपि नास्तीति तमेवार्थं व्यतिरेकेण दृढयति,—**णत्थि परोक्खं किंचिवि** अस्य भगवतः परोक्ष किमपि नास्ति । किंविशिष्टस्य ? **समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स** समन्तत सर्वात्मप्रदेशै सामस्त्येन वा स्पर्शरसगन्धवर्ण-शब्दपरिच्छित्तिरूपसर्वेन्द्रियगुणसमृद्धस्य । तर्हि किमक्षसहितस्य ? नैवम् । **अक्खातीदस्स** अक्षातीतस्येन्द्रियव्यापाररहितस्य, अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य । **सया** सर्वदा सर्वकालम् । पुनरपि किंरूपस्य ? **सयमेव हि णाणजादस्स** स्वयमेव हि स्फुट केवलज्ञानरूपेण जातस्य परिणतस्येति । तद्यथा-अतीन्द्रियस्वभावपरमात्मनो विपरीतानि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानीन्द्रियाण्यतिक्रान्तस्य जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रत्यक्षप्रतीतिसमर्थम-विनश्वरमखण्डैकभासमय केवलज्ञान परिणतस्यास्य भगवत परोक्ष किमपि नास्तीति भावार्थः ॥२२॥

एव केवलिना समस्त प्रत्यक्ष भवतीति कथनरूपेण प्रथमस्थले गाथाद्वय गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते है—केवलज्ञानी को सर्व प्रत्यक्ष होता है, यह बात अन्वय रूप से पूर्व सूत्र मे कही गई । अब केवलज्ञानी को कोई बात भी परोक्ष नही है, इसी बात को व्यतिरेक से दृढ करते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ--(समत) समस्तपने अर्थात् सर्व आत्मा के प्रदेशों के द्वारा (सव्वक्खगुणसमिद्धस्स) सर्व इद्रियों के गुणों से परिपूर्ण अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण शब्द के जानने रूप जो इन्द्रियों के विषय उन सर्व के जानने की शक्ति सर्व आत्मा के प्रदेशों में जिसके प्राप्त हो गई है ऐसे तथा (अक्खातीदस्स) इन्द्रियों के व्यापार से रहित अथवा ज्ञान करके व्याप्त है आत्मा जिसका ऐसे निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण और (सयमेव हि) स्वयमेव ही (णाणजादस्स) केवलज्ञान में परिणमन करने वाले अरहंत भगवान् के (किंचिवि) कुछ भी (परोक्खं) परोक्ष (णत्थि) नही है ।

भाव यह है कि परमात्मा अतीन्द्रिय स्वभाव है । परमात्मा के स्वभाव से विपरीत क्रम-क्रम से ज्ञान में प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियाँ है । उनके द्वारा जानने से जो उल्लंघन कर गये है अर्थात् जिस परमात्मा के पराधीन ज्ञान नहीं है ऐसे परमात्मा तीन कालवर्ती समस्त पदार्थो को एक साथ प्रत्यक्ष जानने को समर्थ अविनाशी तथा अखडपने से प्रकाश करने वाले केवलज्ञान मे परिणमन करते हैं, अतएव उनके लिए कोई भी पदार्थ परोक्ष नहीं । इस तरह केवलज्ञानियों को सर्व प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहते हुए प्रथम स्थल में दो गाथाये पूर्ण हुई ॥२२॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्योतयति--

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु [1]सव्वगदं ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण ज्ञान ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम् ।
ज्ञेय लोकालोक तस्माज्ज्ञान तु सर्वगतम् ॥२३॥

(यतः) आत्मा हि 'समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाण, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं, ज्ञेयं तु लोकालोकविभागविभक्तानन्तपर्यायमालिकालीढस्वरूपसूचिता विच्छेदोत्पादध्रौव्या षड्द्रव्यी सर्वमिति यावत् । ततो निःशेषावरक्षयक्षण एव, लोकालोकविभागविभक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवाप्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात्, ज्ञानं सर्वगतम् ॥२३॥

---

१ सव्वगय (ज० वृ०) ।

भूमिका—**अब, आत्मा के ज्ञान प्रमाणपने को (आत्मा ज्ञान के बराबर है, हीन या अधिक नही है, इस बात को) और ज्ञान के सर्वगतपने को (ज्ञान सब पदार्थो मे रहता है, इस बात को उद्योत करते है (प्रगट करते है)—**

अन्वयार्थ—[आत्मा ज्ञानप्रमाण] आत्मा ज्ञान के बराबर (और) [ज्ञान ज्ञेयप्रमाण] ज्ञान ज्ञेय के बराबर [उद्दिष्ट] कहा गया है। [ज्ञेय] ज्ञेय [लोकालोक] लोक-आलोक है। [तस्मात्] इसलिये [ज्ञान] ज्ञान [तु] तो [सर्वगत] (सर्वव्यापक) है।

टीका—**'समगुणपर्यायद्रव्य' गुण पर्यायों जितना द्रव्य है इस वचन से (इस आगम वचन के अनुसार) आत्मा वास्तव मे ज्ञान के साथ हीनाधिकता–रहितपने से परिणत होने से उसके (ज्ञान के) बराबर है, और ज्ञान तो ज्ञेयो में स्थित होने से, दाह्य मे (जलाने योग्य पदार्थो में) स्थित अग्नि की भांति, ज्ञेयो के बराबर है। ज्ञेय तो लोक और अलोक के विभाग में विभक्त, अनन्त पर्यायमाला से आलिंगित स्वरूप से सूचित (प्रगट-ज्ञात) व्यय उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप ऐसा षट् द्रव्यसमूह रूप सब कुछ है। चूंकि ऐसा है इसलिये सम्पूर्ण आवरण के नाश के समय में ही लोक और अलोक के विभाग में विभक्त समस्त वस्तुओं के आकारों के पार को प्राप्त करके और फिर उसी प्रकार अच्युतरूप (अविनाशी) रहने से ज्ञान सर्वगत है ॥२३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मा ज्ञानप्रमाणो भवतीति ज्ञान च व्यवहारेण सर्वगतमित्युपदिशति—**आदा णाणपमाणं** ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वाभावादात्मा ज्ञानप्रमाणो भवति। तथाहि–"समगुणपर्यायं द्रव्य भवतीति" वचनाद्वर्तमानमनुष्यभवे वर्तमानमनुष्यपर्यायप्रमाण, तदेव मनुष्यपर्यायप्रदेशवर्तिज्ञानगुणप्रमाणश्च प्रत्यक्षेण दृश्यते यथायमात्मा, तथा निश्चयत. सर्वदैवाव्याबाधाक्षयसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतो योसौ केवलज्ञानगुणस्तत्प्रमाणोऽयमात्मा। **णाण णेयप्पमाणमुद्दिट्ठ** दाह्यनिष्ठदहनवत् ज्ञान ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्ट कथितम्। **णेयं लोयालोय** ज्ञेय लोकालोक भवति। शुद्धबुद्धैकस्वभावसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्म-द्रव्यादिषड्द्रव्यात्मको लोक, लोकाद्बहिर्भागे शुद्धाकाशमलोक, तच्च लोकालोकद्वय स्वकीयस्व-कीयानन्तपर्यायपरिणतिरूपेणानित्यमपि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यम्। **तम्हा णाण तु सव्वगय** यस्मान्निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगभावनाबलेनोत्पन्न यत्केवलज्ञान तट्टङ्कोत्कीर्णाकारन्यायेन निरन्तर पूर्वोक्तज्ञेय जानाति, तस्माद्व्यवहारेण तु ज्ञान सर्वगत भण्यते। तत. स्थितमेतदात्मा ज्ञानप्रमाण ज्ञान सर्वगतमिति ॥२३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है तथा ज्ञान व्यवहार से सर्वगत है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(आदा णाणपमाण) आत्मा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् ज्ञान के साथ आत्मा हीन या अधिक नही है इसलिये ज्ञान जितना है उतनी आत्मा है।**

कहा है "समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति" अर्थात् द्रव्य अपने गुण और पर्यायों के समान होता है। इस वचन से वर्तमान मनुष्य भव मे यह आत्मा वर्तमान मनुष्य पर्याय के समान प्रमाण वाला है तैसे ही मनुष्य पर्याय के प्रदेशों मे रहने वाला ज्ञान गुण है। जैसे यह आत्मा इस मनुष्य पर्याय में ज्ञान के गुण के बराबर प्रत्यक्ष में दिखलाई पड़ता है तैसे निश्चय से सदा ही अव्याबाध और अविनाशी सुख आदि अनन्त गुणों का आधारभूत जो यह केवलज्ञान गुण है तिस प्रमाण यह आत्मा है। (णाणं णेयप्पमाणं) ज्ञान ज्ञेय प्रमाण (उद्दिट्ठं) कहा गया है। जैसे ईंधन मे स्थित आग ईंधन के बराबर है वैसे ही ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। (णेयं लोयालोयं) ज्ञेय लोक और अलोक है। शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमयी सर्व तरह से उपादेयभूत ग्रहण करने योग्य परमात्म-द्रव्य को आदि लेकर छः द्रव्यमयी यह लोक है। लोक के बाहरी भाग मे जो शुद्ध आकाश है सो अलोक है। ये दोनों लोकालोक अपने-अपने अनन्त पर्यायों मे परिणमन करते हुए अनित्य है तो भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य है। ज्ञानलोक अलोक को जानता है। (तम्हा) इस कारण से (णाणं तु सव्वगय) ज्ञान सर्वगत है। अर्थात् क्योंकि निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धोपयोग की भावना के बल से पैदा होने वाला केवलज्ञान है वह पत्थर में टांकी से उकेरे हुए न्याय से पूर्व में कहे गये सर्व ज्ञेय को जानता है इसलिए व्यवहार नय से ज्ञान सर्वगत कहा गया है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है ॥२३॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति--

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ[1] वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा [2]तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहिओ[3] वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा।
हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव ॥२४॥
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतन न जानाति।
अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथ जानाति। [illegible]

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते, तदा[illegible]भूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पता[illegible]

१ अहियो (ज० वृ०)। २ त णाणमचेदण (ज० वृ० [illegible]

नादधिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादि-स्थानीयतामापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति। ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माभ्युपगन्तव्यः।

भूमिका—अब, आत्मा के ज्ञान-प्रमाण-पना (आत्मा ज्ञान के बराबर है, यह बात) न मानने मे दो पक्षों को उपस्थित करके, (उन दोनों को) दूषित ठहराते है। (आत्मा को ज्ञान-प्रमाण जो नही मानते है वहाँ हीनाधिकपने में दोष देते हैं)—

अन्वयार्थ—[इह] इस जगत् मे [यस्य] जिस वादी के मत मे [आत्मा] आत्मा [ज्ञानप्रमाण] ज्ञान के बराबर [न भवति] नही है [तस्य] उसके मत मे [सः आत्मा] वह आत्मा [ज्ञानात् हीन] ज्ञान से हीन [वा] अथवा [ज्ञानात् अधिक] ज्ञान से अधिक [ध्रुव एव] अवश्य ही [भवति] है। [यदि] जो [स॰ आत्मा] वह आत्मा [ज्ञानात्हीन] ज्ञान से हीन है तो [तत् ज्ञान] वह ज्ञान [अचेतन] अचेतन (अपने आश्रयभूत चेतनमयी आत्म-द्रव्य के आधार बिना अचेतन होने से) [न जानाति] नही जानता है अथवा जो वह आत्मा [ज्ञानात् अधिक.] ज्ञान से अधिक है तो [ज्ञानेन विना] ज्ञान के बिना [कथ जानाति] (वह आत्मा अचेतन होने से) कैसे जानता है ? (अर्थात् नही जान सकता)।

टीका—**जो वास्तव में 'आत्मा ज्ञान से हीन है' यह स्वीकार किया जाए तो आत्मा से आगे बढ़ा हुआ ज्ञान अपने आश्रयभूत चेतन द्रव्य का समवाय (सम्बन्ध) न रहने से अचेतन होता हुआ, रूपादि जैसा होता हुआ, नही जानता है और जो (यह आत्मा) ज्ञान से अधिक है, ऐसा पक्ष स्वीकार किया जाय तो अवश्य ही (आत्मा) ज्ञान से आगे बढ़ जाने से (ज्ञान से) पृथक्भूत (भिन्न) होता हुआ, घट पट आदि जैसा प्राप्त हुआ, ज्ञान के बिना नहीं जानता है। इस कारण से ज्ञान के बराबर ही यह आत्मा मानने योग्य है ॥२४-२५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मान ज्ञानप्रमाण ये न मन्यन्ते तत्र हीनाधिकत्वे दूषण ददाति,—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्य वादिनो मतेऽत्र जगति **तस्स सो आदा** तस्य मते स आत्मा **हीणो वा अहियो वा णाणादो हवदि धुवमेव** हीनो वा अधिको वा ज्ञानात्सकाशाद् भवति निश्चितमेवेति ॥२४॥ **हीणो जदि सो आदा त णाणमचेदणं ण जाणादि** हीनो यदि स आत्मा तदाग्नेरभावे सति उण्णगुणो यथा शीतलो भवति तथा स्वाश्रयभूतचेतनात्मकद्रव्य-समवायाभावात्तस्यात्मनो ज्ञानमचेतन भवत्सत् किमपि न जानाति। **अहियो वा णाणादो णाणेण विणा कह णादि** अधिको वा ज्ञानात्सकाशात्तर्हि यथोष्णगुणाभावेऽग्नि शीतलो भवन्सन् दहनक्रिया प्रत्यसमर्थो भवति तथा ज्ञानगुणाभावे सत्यात्माप्यचेतनो भवन्सन् कथ जानाति ? न कथमपि। अयमत्र

भावार्थ:—ये केचनात्मानमगुष्ठपर्वमात्र, श्यामाकतण्डुलमात्र, वटककणिकादिमात्र वा मन्यन्ते ते निषिद्धा. । येपि समुद्घातसप्तक विहाय देहादधिक मन्यन्ते तेपि निराकृता इति ॥२४-२५॥

उत्थानिका—अब जो आत्मा को ज्ञान के बराबर नही मानते है, ज्ञान से कमती-बढती मानते है उनको दूषण देते हुए कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(इह) इस जगत में (जस्स) जिस वादी के मत में (आदा) आत्मा (णाणपमाणं) ज्ञान प्रमाण (ण हवदि) नही होता है (तस्स) उसके मत में (सो आदा) वह आत्मा (णाणदो) ज्ञान गुण से (हीणो वा) या तो हीन अर्थात् छोटा (अहियो वा) या अधिक अर्थात् बड़ा (हवदि) होता है (धुवम् एव) यह निश्चय ही है ।

(जदि) यदि (सो आदा) वह आत्मा (हीणो) हीन या छोटा होता है तब (तं णाणं) सो ज्ञान (अचेदणं) चेतन रहित होता हुआ (ण जाणादि) नही जानता है अर्थात् यदि वह आत्मा ज्ञान से कम या छोटा माना जाय तब जैसे अग्नि के बिना उष्ण गुण ठंडा हो जायेगा और अपने जलाने के काम को न कर सकेगा तैसे आत्मा के बिना जितना ज्ञान गुण बचेगा वह ज्ञान गुण अपने आश्रयभूत चैतन्यमयी द्रव्य के बिना जिस आत्म-द्रव्य के साथ ज्ञान गुण का समवाय सम्बन्ध है, अचेतन या जड़रूप होकर कुछ भी नही जान सकेगा ।

(वा णाणदो) अथवा ज्ञान से (अहियो) अधिक या बड़ा आत्मा को माने तब (णाणेण विणा) ज्ञान के बिना (कहं) कैसे (णादि) जान सकता है । अर्थात् यदि यह माने कि ज्ञान गुण से आत्मा बड़ा है तब जितना आत्मा ज्ञान से बड़ा है, उतना आत्मा जैसे उष्ण गुण के बिना अग्नि ठंडी होकर अपने जलाने के काम को नही कर सकती है तैसे ज्ञान गुण के अभाव में अचेतन होता हुआ किस तरह कुछ जान सकेगा अर्थात् कुछ भी न जान सकेगा ।

यहाँ यह भाव है कि जो कोई आत्मा को अंगूठे की गांठ के बराबर या श्यामाक तंदुल के बराबर या बड़ के बीज के बराबर आदि रूप से मानते है उनका निषेध किया गया तथा जो कोई सात समुद्घात के बिना आत्मा को शरीर प्रमाण से अधिक मानते हैं उनका भी निराकरण किया गया है ॥२४-२५॥

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा ।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा[1] ॥२६॥

(१) भणिया (ज० वृ०)

सर्वगतो जिनवृषभ सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्था ।
ज्ञानमयत्वाच्च जिने विषयत्वात् तस्य ते भणिता ।।२६।।

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव। एवं सर्वगतज्ञानविषयत्वात्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति। तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते। तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्वगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात्। अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः ।।२६।।

भूमिका—अब आत्मा के भी, ज्ञान की तरह, सर्वगतपना न्याय से प्राप्त हुआ, इस बात को दिखलाते है—

अन्वयार्थ—[जिनवृषभ] जिनेश्वर (सर्वज्ञ) [सर्वगत] सर्वगत है (ज्ञान की अपेक्षा सब पदार्थो मे व्यापक है)। [जिन· ज्ञानमयत्वात्] क्योकि जिन ज्ञानमय है [च] और [जगति] जगत मे [सर्वे अपि अर्था] सब ही पदार्थ [तद्गता] (दर्पण मे बिम्ब की तरह) उस जिनवर–गत है (जिनमे प्राप्त है) (क्योकि) [ते] वे पदार्थ [विषयत्वात्] ज्ञान के विषय (ज्ञेय) होने से [तस्य] जिनराज मे उनके विषय (ज्ञेय) [भणिता] कहे गये हैं।

टीका—ज्ञान वास्तव मे, तीन काल में व्याप्त सब द्रव्य पर्याय रूप से व्यवस्थित विश्व के ज्ञेयाकारों को ग्रहण करता हुआ (जानता हुआ) सर्वगत कहा गया है और ऐसे (सर्वगत ज्ञान से) ज्ञानमय होकर रहने से भगवान् भी सर्वगत ही है। इस प्रकार सर्वगत ज्ञान के विषय (ज्ञेय) होने से सब पदार्थ भी सर्वगत ज्ञान से अभिन्न भगवान् के वे विषय है, ऐसा (शास्त्र मे) कथन होने से वे सब पदार्थ भगवान्-गत ही है (अर्थात् भगवान् में प्राप्त ही है)। (अब टीकाकर इसके अर्थ को विशेष रूप से समझाते है)—यहॉ (ऐसा समझना कि) निश्चयनय से अनाकुलता लक्षण सुख का जो सवेदन उस सुख-सवेदन की अधिष्ठानता जितनी हो, आत्मा है, और उस आत्मा के बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्व है। उस निजस्वरूप आत्म-प्रमाण ज्ञान को छोड़े बिना, विश्व के ज्ञेयाकारो के निकट गये बिना, भगवान् (सर्व पदार्थो को) जानते हुए भी, व्यवहारनय से "भगवान् सर्वगत" है ऐसा तथा नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारो को आत्मा मे स्थित (आत्मा मे रहते हुए) देखकर सर्व पदार्थ

उस-गत (आत्मगत) है, ऐसा उपचार किया जाता है किन्तु उनका (आत्मा और ज्ञेय पदार्थों का) परमार्थ से एक-दूसरे मे गमन नही है, क्योकि सर्व द्रव्यों के स्वरूप-निष्ठपना है (क्योकि सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वरूप मे निश्चल अवस्थित है)। यही क्रम ज्ञान मे भी निश्चित करने योग्य है (अर्थात् जिस प्रकार आत्मा और ज्ञेयों के सम्बन्ध मे निश्चय व्यवहार से कहा गया है, उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेयों के सम्बन्ध मे भी निश्चय-व्यवहार से वैसा ही निश्चय करना चाहिये)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ यथा ज्ञान पूर्व सर्वगतमुक्त तथैव सर्वगतज्ञानापेक्षया भगवानपि सर्वगतो भवतीत्यावेदयति,—

सव्वगदो सर्वगतो भवति। स क कर्ता ? **जिणवसहो** जिनवृषभ. सर्वज्ञ। कस्मात् ? सर्वगतो भवति। **जिणो** जिन **णाणमयादो य** ज्ञानमयत्वाद्धेतो: **सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा** सर्वेपि च ये जगत्यर्थास्ते दर्पणे बिम्बवद् व्यवहारेण तत्र भगवति गता भवन्ति। कस्मात्! ते **भणिया** तेऽर्थास्तत्र गता भणिता **विसयादो** विषयत्वात्परिच्छेद्यत्वाद् ज्ञेयत्वात्। कस्य ? **तस्स** तस्य भगवत: इति। तथाहि—यदनन्तज्ञानमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुख च तदाधारभूतस्तावदात्मा इत्थभूतात्मप्रमाण ज्ञानमात्मन स्वस्वरूप भवति। इत्थभूत स्वस्वरूप देहगतमपरित्यजन्नेव लोकालोक परिच्छिनत्ति। तत कारणाद्व्यवहारेण सर्वगतो भण्यते भगवान्। येन च कारणेन नीलपीतादिबहि पदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति तत कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते। ते च ज्ञाने तिष्ठन्तीत्युच्यमाने दोषो नास्तीत्यभिप्राय. ॥२६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जैसे ज्ञान को पहले सर्वव्यापक कहा गया है वैसे ही सर्वव्यापक ज्ञान की अपेक्षा भगवान् अरहत आत्मा भी सर्वगत है।

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(णाणमयादो य) तथा ज्ञानमयी होने के कारण से (जिनवसहो) जिन जो गणधरादिक उनमे वृषभ अर्थात् प्रधान (जिणो) जिन अर्थात् कर्मो को जीतने वाला अरहत या सिद्ध भगवान् (सव्वगदो) सर्वगत या सर्वव्यापक है, (तस्स) उस भगवान् के ज्ञान के (विसयादो) विषयपने को प्राप्त होने के कारण से अर्थात् ज्ञेयपने को प्राप्त होने के कारण से अर्थात् ज्ञेयपने को रखने के कारण से (सव्वेवि य जगति ते अट्ठा) सर्व ही जगत मे जो पदार्थ है सो (तग्गया) उस भगवान् मे प्राप्त या व्याप्त (भणिया) कहे गए है।**

जैसे दर्पण मे पदार्थ का बिंब पड़ता है तैसे व्यवहारनय मे पदार्थ भगवान् के ज्ञान मे प्राप्त है। भाव यह है कि जो अनन्तज्ञान है तथा अनाकुलपने के लक्षण को रखने वाला अनन्त सुख है उनका आधारभूत जो है सो ही आत्मा है, इस प्रकार के आत्मा का

जो प्रमाण है वही आत्मा ज्ञान का प्रमाण है और वह ज्ञान आत्मा का अपना स्वरूप है। ऐसा अपना निज स्वभाव देह के भीतर प्राप्त आत्मा को नही जोड़ता हुआ भी लोक अलोक को जानता है। इस कारण से व्यवहारनय से भगवान् को सर्वगत कहा जाता है। और क्योंकि जैसे नीले, पीले आदि बाहरी पदार्थ दर्पण मे झलकते हैं ऐसे ही बाह्य पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते है इसलिये व्यवहार से ज्ञान-आकार भी पदार्थ कहे जाते है। इसलिये वे पदार्थ ज्ञान में तिष्ठते है ऐसा कहने मे दोष नहीं है, यह अभिप्राय है ॥२६॥

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति—

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं वा[1] अण्णं वा ॥२७॥

ज्ञानमात्मेति मत वर्तते ज्ञान विना नात्मानम्।
तस्मात्-ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञान वा अन्यद्वा ॥२७॥

यतः [2]शेषसमस्तचेतनवस्तुसमवायसंबन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसंबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात्। आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात्। किं चानेकान्तोऽत्र बलवान्। एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात्। सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव, आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात् ॥२७॥

भूमिका—अब आत्मा और ज्ञान के एकत्व और अन्यत्व का विचार करते है (अर्थात् आत्मा और ज्ञान एक पदार्थ है या दो भिन्न-भिन्न पदार्थ है—इसका विचार करते है।)

अन्वयार्थ—[ज्ञान आत्मा] ज्ञान आत्मा है [इति मत] ऐसा जिनेन्द्र देव द्वारा माना गया है (क्योकि) [आत्मान विना] आत्मा को छोडकर (अन्य किसी भी जड द्रव्य मे) [ज्ञान न वर्तते] ज्ञान नही पाया जाता है। [तस्मात्] उस कारण से [ज्ञान आत्मा] ज्ञान आत्मा है। [आत्मा] आत्मा [ज्ञान] (ज्ञान गुण की अपेक्षा से) ज्ञान है [वा] अथवा (सुख, वीर्य, आदि अन्य गुणो की अपेक्षा से) [अन्यत्] अन्य-अन्य (भी) है।

टीका—**शेष समस्त अचेतन वस्तुओं के साथ समवाय सम्बन्ध न होने से तथा जिसके साथ अनादि अनन्त स्वभाव-सिद्ध समवाय सम्मन्ध है, ऐसे एक आत्मा को सर्वथा**

---

१ व (ज० वृ०)।   २ शेषसमस्तचेतनाचेतन इति पाठान्तरम्।

अवलम्बन करके प्रवर्तमान होने से चूंकि उस आत्मा के बिना ज्ञान अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है, इसलिये ज्ञान आत्मा ही है और आत्मा तो अनन्त धर्मों का अधिष्ठान (आधार-स्थान) होने से ज्ञान धर्म के द्वार (अपेक्षा) से ज्ञान है और अन्य धर्म के द्वार (अपेक्षा) से अन्य भी है।

और फिर (उसके अतिरिक्त यह विशेष समझना कि) यहाँ अनेकान्त बलवान है। एकान्त से ज्ञान आत्मा है यदि यह माना जाय तो, (१) (ज्ञान गुण आत्म-द्रव्य हो जाने से) ज्ञान का अभाव हो जायेगा, और (२) (ज्ञान का अभाव हो जाने से) आत्मा के अचेतनपना आ जायेगा, अथवा (३) आत्मा के विशेष गुण का अभाव हो जाने से आत्मा का (ही) अभाव हो जायेगा।

सर्वथा (एकान्त से) आत्मा ज्ञान है यदि यह माना जाय तो, (आत्म-द्रव्य एक ज्ञान गुण रूप ही हो जायेगा। इसलिये, ज्ञान का कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहेगा। अतः (निराश्रयता के कारण से) ज्ञान का (ही) अभाव हो जायेगा, अथवा (आत्म द्रव्य के एक ज्ञान गुण रूप हो जाने से) आत्मा की शेष पर्यायों का (सुख वीर्य आदि गुणों का) अभाव हो जायेगा, और (उनके साथ ही) उन गुणों से अविनाभावी सम्बन्ध वाले उस आत्मा का भी अभाव हो जायेगा (क्योंकि सुख, वीर्य इत्यादि गुण न हों तो आत्मा भी नहीं हो सकता।)

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानमात्मा भवति, आत्मा तु ज्ञानं सुखादिकं वा भवतीति प्रतिपादयति,—

णाणं अप्पत्ति ज्ञानमात्मा भवतीति मदं सम्मतं । कस्मात् । वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ज्ञानं [illegible]

[illegible]

[illegible]

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णाणं) ज्ञानगुण (अप्पत्ति) आत्मा रूप है ऐसा (मदं) माना गया है, कारण कि (णाण) ज्ञान गुण (अप्पाणं) आत्मद्रव्य के (विणा) विना अन्य किसी घट-पट आदि द्रव्य मे (ण वट्टदि) नही रहता है (तम्हा) इसलिये यह जाना जाता है कि किसी अपेक्षा से अर्थात् गुण-गुणी की अभेद दृष्टि से (णाणं) ज्ञानगुण (अप्पा) आत्मारूप ही है। किन्तु (अप्पा) आत्मा (णाणं व) ज्ञानगुण रूप भी है, जब ज्ञान स्वभाव की अपेक्षा विचारा जाता है। (अण्णं वा) तथा अन्य गुणरूप भी है।

अब आत्मा के अन्दर पाए जाने वाले सुख वीर्य आदि स्वभावों की अपेक्षा विचारा जाता है। यह नियम नही है कि मात्र ज्ञानरूप ही आत्मा है। यदि एकान्त से ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहा जाय तब ज्ञानगुण मात्र ही आत्मा प्राप्त हो गया फिर सुख आदि स्वभावों का अवकाश नही रहा। तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावों के समुदाय का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायगा। जब आधारभूत आत्मा का अभाव हो गया तब उसका आधेयभूत ज्ञानगुण का भी अभाव हो गया इस तरह एकान्त मत मे ज्ञान और आत्मा दोनों का ही अभाव हो जायगा। इसलिये किसी अपेक्षा से ज्ञानस्वरूप आत्मा है सर्वथा ज्ञानस्वरूप ही नही है। यहाँ यह अभिप्राय है कि आत्मा व्याप्य है। इसलिये ज्ञान-स्वरूप आत्मा हो सकता है। तथा आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और अन्य स्वभाव रूप भी है। तैसा ही कहा है "व्यापक तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च' व्यापक मे व्याप्य एक और दूसरे अनेक रह सकते है जबकि व्याप्य व्यापक में ही रहता है ॥२७॥

इस तरह आत्मा और ज्ञान की एकता तथा ज्ञान के व्यवहार से सर्वव्यापकपना है, इत्यादि कथन करते हुए दूसरे स्थल मे पाँच गाथाएं पूर्ण हुई।

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवाण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः।
रूपाणीव चक्षुषोः नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥२८॥

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किन्तु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसम्बन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति चक्षुरूपवत्। यथा हि चक्षूंषि तद्विषय-भूतरूपिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्यो-न्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः ॥२८॥

भूमिका—अब, ज्ञान (ज्ञानी-आत्मा) और ज्ञेय के परस्पर गमन का निषेध करते है–(अर्थात् ज्ञानी और ज्ञेय एक-दूसरे मे प्रवेश नहीं करते, यह कहते है):—

अन्वयार्थ—[ज्ञानी] आत्मा (सर्वज्ञ) [ज्ञानस्वभाव] (केवल) ज्ञानस्वभाव वाला है। (अर्था हि) और (जगत्त्रय कालत्रय–वर्ती) पदार्थ (ज्ञानिनः) केवलज्ञानी के [ज्ञेयात्मका.] ज्ञेयस्वरूप ही है। [रूपाणि इव चक्षुषो·] जैसे कि रूपी पदार्थ आखो के ज्ञेय होते है। (वे ज्ञानी और ज्ञेय) [अन्योन्येषु] एक-दूसरे मे [न एव वर्तन्ते] नही रहते, (नही जाते)।

टीका—ज्ञानी (आत्मा) और ज्ञेय पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्व (अपने-अपने लक्षण की अपेक्षा भिन्नत्व) के कारण से एक-दूसरे में वृत्ति (प्रवेश) को ग्रहण नही करते, किन्तु उसके ज्ञान-ज्ञेय-स्वभाव-सम्बन्ध से होने वाली वृत्ति मात्र एक-दूसरे में है, आंख और रूपी पदार्थ की तरह। जैसे आंखे और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना भी ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने और समर्पण करने के स्वभाव वाले है, (आंखे ज्ञेयाकारो को ग्रहण करने के स्वभाव वाली है और पदार्थ अपने ज्ञेयाकारों को समर्पण करने के स्वभाव वाले है)। उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ एक दूसरे मे वृत्ति बिना (गये बिना) भी समस्त ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने और समर्पण करने के स्वभाव वाले है अर्थात आत्मा समस्त ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने के स्वभाव वाला है और समस्त पदार्थ अपने ज्ञेयाकारों को समर्पण करने के स्वभाव वाले है ॥२८॥

तात्पयवृत्ति

अथ ज्ञान ज्ञेयसमीपे न गच्छतीति निश्चिनोति—**णाणी णाणसहावो** ज्ञानी सर्वज्ञः केवलज्ञानस्वभाव एव। **अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्था ज्ञेयात्मका एव भवन्ति न च ज्ञानात्मका। कस्य ? ज्ञानिन.। **रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति** ज्ञानी पदार्थाश्चान्योन्य परस्परमेकत्वे न वर्तन्ते। कानीव केषा सबन्धित्वेन ? रूपाणीव चक्षुषामिति। तथाहि—यथा रूपिद्रव्याणि चक्षुषा सह परस्परं सबन्धाभावेपि स्वाकारसमर्पणे समर्थानि। चक्षूंषि च तथाकारग्रहणे समर्थानि भवन्ति, तथा त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्था. कालत्रयपर्यायपरिणता ज्ञानेन सह परस्परप्रदेशससर्गाभावेऽपि स्वकीयाकारसमर्पणे समर्था भवन्ति। अखण्डैकप्रतिभासमय केवलज्ञान तु तदाकारग्रहणे समर्थमिति भावार्थ ॥२८॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि ज्ञान ज्ञेयो के समीप नही जाता है ऐसा निश्चय है—

अन्वय सहित विशेपार्थ—(हि) निश्चय से (णाणी) केवलज्ञानी भगवान् आत्मा (णाणसहावा) केवलज्ञान स्वभावरूप है तथा (णाणिस्स) उस ज्ञानी जीव के भीतर (अत्था)

तीन जगत् के तीन कालवर्ती पदार्थ ज्ञेयस्वरूप पदार्थ (चक्खूणं) आंखो के भीतर (रूवाणि व) रूपी पदार्थो की तरह (अण्णोण्णेषु) परस्पर एक-दूसरे के भीतर (णेव वट्टंति) नहीं रहते हैं।

जैसे आंखों के साथ रूपी मूर्तिक द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है अर्थात् आंख शरीर मे अपने स्थान पर है और रूपी पदार्थ अपने आकार का समर्पण आंखों में कर देते है तथा आंखे उनके आकारो को जानने में समर्थ होती है तैसे ही तीन लोक के भीतर रहने वाले पदार्थ तीन काल की पर्यायों मे परिणमन करते हुए ज्ञान के साथ परस्पर प्रदेशों का सम्बन्ध न रखते हुए भी ज्ञानी के ज्ञान मे अपने आकार के देने में समर्थ होते हैं तथा अखडरूप से एक स्वभाव झलकने वाला केवलज्ञान उन आकारों को ग्रहण करने में समर्थ होता है, ऐसा भाव है ॥२८॥

अथार्थेष्ववृत्तस्यापि ज्ञानिनस्तद्वृत्तिसाधकं शक्तिवैचित्र्यमुद्योतयति—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः ।
जानाति पश्यति नियत अक्षातीतो जगदशेषम् । २९॥

यथाहि चक्षू रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्टं परिच्छेद्यमाकारमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्टं जानाति च, एवमात्माप्यक्षातीतत्वात्प्राप्यकारिताविचारगोचरदूरतामवाप्तो ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसंस्पृशन्न-प्रविष्टः, शक्तिवैचित्र्यवशतो वस्तुवर्तिनः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कवलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च । एवमस्य विचित्र-शक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ॥२९॥

भूमिका—अब, पदार्थो मे नहीं प्रवृत्त होने वाले भी ज्ञानी के उन पदार्थो मे वृत्ति को सिद्ध करने वाली शक्ति-वैचित्र्य को (अद्भुत शक्ति को) प्रगट करते है।

अन्वयार्थ—[चक्षु· रूप इव] जैसे आँख रूप को (प्रदेशो की अपेक्षा प्रविष्ट न किन्तु ज्ञेय-आकारो की अपेक्षा अप्रविष्ट न रहकर अर्थात् प्रविष्ट होकर जानती और देखती है) [उसी प्रकार] अक्षातीत इन्द्रियातीत [ज्ञानी] केवलज्ञानी आत्मा [अशेष जगत्] समस्त जगत् को (समस्त लोकालोक को) [ज्ञेयेषु] ज्ञेयो मे [न प्रविष्ट] प्रविष्ट न होकर [न अप्रविष्ट तथा अप्रविष्ट न रहकर (अर्थात् प्रविष्ट होकर) [नियत] निश्चित रूप से [जानाति पश्यति] जानते और देखते है।

टीका—जिस प्रकार आंख रूपी द्रव्यों को अपने प्रदेशों के द्वारा स्पर्श न करता हुआ (इस अपेक्षा से) अप्रविष्ट होकर तथा ज्ञेय के आकारों को आत्मसात् (निजरूप) करता हुआ (इस अपेक्षा से) न अप्रविष्ट रहकर (प्रविष्ट होकर) जानता और देखता है, उसी प्रकार आत्मा भी, इन्द्रिय-अतीत होने के कारण से प्राप्यकारिता की विचार-गोचरता से दूर होता हुआ, ज्ञेयता को प्राप्त समस्त वस्तुओं को अपने प्रदेशों से स्पर्श नही करता हुआ, प्रविष्ट न होकर तथा शक्ति-वैचित्र्य (अद्‌भुत शक्ति) के वश से वस्तु मे वर्तते समस्त ज्ञेयाकारों को मूल में से ही उखाड कर ग्रास कर लेने की भांति, न अप्रविष्ट रहकर (अर्थात् प्रविष्ट होकर) जानता और देखता है। इस प्रकार विचित्र शक्ति वाले इस केवल-ज्ञानी के पदार्थो में अप्रवेश की भांति प्रवेश भी सिद्धि को धारण करता है ॥२९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानी ज्ञेयपदार्थेषु निश्चयनयेनाप्रविष्टोपि व्यवहारेण प्रविष्ट इव प्रतिभातीति शक्ति-वैचित्र्य दर्शयति—

ण पविट्ठो निश्चयनयेन न प्रविष्टः, **णाविट्ठो** व्यवहारेण च नाप्रविष्ट, किन्तु प्रविष्ट एव। स कः कर्ता ? **णाणी** ज्ञानी। केषु मध्ये ? **णेयेसु** ज्ञेयपदार्थेषु। किमिव ? **रूवमिव चक्खू** रूपविषये चक्षुरिव। एवभूतस्सन् कि करोति। **जाणदि पस्सदि** जानाति पश्यति च **णियद** निश्चित सशयरहित। कि विशिष्टः सन् ? **अक्खातीदो** अक्षातीत। कि जानाति पश्यति ? **जगमसेस** जगद-शेषमिति। तथाहि—यथा लोचन कर्तृ रूपिद्रव्याणि यद्यपि निश्चयेन न स्पृशति तथापि व्यवहारेण स्पृशतीति प्रतिभाति लोके। तथायमात्मा मिथ्यात्वरागाद्यास्रवाणामात्मनश्च सबन्धि यत्केवलज्ञानात्पूर्व विशिष्टभेदज्ञान तेनोत्पन्न यत्केवलज्ञानदर्शनद्वय तेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थान्निश्चयेनास्पृशन्नपि व्यवहारेण स्पृशति- तथा स्पृशन्निव ज्ञानेन जानाति दर्शनेन पश्यति च। कथभूतस्सन् ? अतीन्द्रियसुखा-स्वादपरिणतः सन्नक्षातीत इति। ततो ज्ञायते निश्चयेनाप्रवेश इव व्यवहारेण ज्ञेयपदार्थेषु प्रवेशोऽपि घटत इति ॥२९॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि ज्ञानी आत्मा ज्ञेय पदार्थो मे निश्चय नय से प्रवेश नही करता हुआ भी व्यवहार से प्रवेश किये हुए है, ऐसा झलकता है, ऐसी आत्मा के ज्ञान की विचित्र शक्ति है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अक्खातीदो) इन्द्रियों से रहित अतीन्द्रिय (णाणी) ज्ञानी आत्मा (चक्खू) आंख (रूवम् इव) जैसे रूप के भीतर वैसे (णेयेसु) ज्ञेय पदार्थो मे (ण पविट्ठो) निश्चय से प्रवेश न करता हुआ अथवा (ण अविट्ठो) व्यवहार से अप्रविष्ट न होता हुआ अर्थात् प्रवेश करता हुआ (णियदं) निश्चित रूप से व संशय रहितपने से (असेसं) सम्पूर्ण (जगम्) जगत् को (पस्सदि) देखता है (जाणदि) जानता है।

जैसे नेत्र रूपी द्रव्यों को यद्यपि निश्चय से स्पर्शन नही करता है तथापि व्यवहार से

स्पर्श कर रहा है ऐसा लोकमे झलकता है। तैसे यह आत्मा मिथ्यात्व रागद्वेष आदि आस्रव भावों के और आत्मा के सम्बन्ध मे जो केवलज्ञान होने के पूर्व विशेष भेदज्ञान होता है, उससे उत्पन्न जो केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा तीन जगत् और तीनकालवर्ती पदार्थो को निश्चय से स्पर्श न करता हुआ भी व्यवहार से स्पर्श करता है तथा स्पर्श करता हुआ ही ज्ञान से जानता है और दर्शन से देखता है। वह आत्मा अतीन्द्रिय सुख के स्वाद मे परिणमन करता हुआ इन्द्रियों के विषयों से अतीत हो गया है। इसलिये जाना जाता है कि निश्चय से आत्मा पदार्थो में प्रवेश न करता हुआ ही व्यवहार से ज्ञेय पदार्थो में प्रवेश हुआ ही घटता है ॥२९॥

अथैवं ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति—

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं [1]वट्टदि तह णाणमत्थेसु[2] ॥३०॥

रत्नमिह इन्द्रनील दुग्धाध्युषित यथा स्वभासा।
अभिभूय तदपि दुग्ध वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥३०॥

यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं दृष्टं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन, कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते ॥३०॥

भूमिका—**अब, ज्ञान पदार्थो मे इस प्रकार रहता है, यह स्पष्ट करते हैः—**

अन्वयार्थ—[यथा] जैसे [इह] इस जगत् मे [दुग्धाध्युषित] दूध मे पडा हुआ [इन्द्रनील रत्न] इन्द्रनील रत्न [स्वभासा] अपनी प्रभा के द्वारा [तत् अपि दुग्ध] उस दूध को (मे) [अभिभूय] तिरस्कृत करके [वर्तते] रहता है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञान] ज्ञान (अर्थात् ज्ञातृ द्रव्य) [अर्थेषु] ज्ञेय पदार्थो मे व्याप्त होकर [वर्तते] रहता है।

टीका—**जैसे वास्तव मे दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा से उस (दूध) को तिरस्कार करके रहता हुआ देखा गया है, उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न होने के कारण कर्त्ता-अंश से आत्मा को प्राप्त होता हुआ, ज्ञानपने को प्राप्त करण-अंश द्वारा कारणभूत पदार्थो (बाह्यज्ञेय-पदार्थो) के कार्यभूत-समस्त-ज्ञेयाकारो (ज्ञान में ज्ञेयाकारो) को व्याप्त हुआ वर्तता है। इसलिये कार्य मे कारणपने से (ज्ञेयाकारो में पदार्थो का)**

---

१ वट्टइ (ज० वृ०)। २ तह णाणमट्ठेसु (ज० वृ०)।

उपचार करके यह कहना कि ज्ञान पदार्थो को व्याप्त करके रहता है, विरोध को प्राप्त नही होता है ।३०।

तात्पर्यवृत्ति

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति,—

रयणमिह रत्नमिह जगति । किं नाम ? इंदणील इन्द्रनीलसंज्ञं । किं विशिष्टं ? दुद्धज्झसियं दुग्धे निक्षिप्तं जहा यथा सभासाए स्वकीयप्रभया अभिभूय तिरस्कृत्य । किं ? तंपि दुद्धं तत्पूर्वोक्तं दुग्धमपि वट्टइ वर्तते । इति दृष्टान्तो गतः । तह णाणमट्ठेसु तथा ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति । तद्यथा–यथेन्द्रनालरत्नं कर्तृ स्वकीयनीलप्रभया करणभूतया दुग्धं नीलं कृत्वा वर्तते, तथा निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकसंयमेन यदुत्पन्नं केवलज्ञानं तत् स्वपरपरिच्छित्तिसामर्थ्येन समस्ताज्ञानान्धकारं तिरस्कृत्य युगपदेव सर्वपदार्थेषु परिच्छित्त्याकारेण वर्तते । अयमत्र भावार्थः— कारणभूतानां सर्वपदार्थानां कार्यभूताः परिच्छित्त्याकारा उपचारेणार्था भण्यन्ते, तेषु च ज्ञानं वर्तत इति भण्यमानेपि व्यवहारेण दोषो नास्तीति ।।३०।।

उत्थानिका—आगे ऊपर कही हुई बात को दृष्टान्त के द्वारा दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(इह) इस जगत् मे (जहा) जैसे (इंदणीलं रयणम्) इन्द्र-नील नाम का रत्न (दुद्धज्झसियं) दूध मे डुबाया हुआ (सभासाए) अपनी चमक से (तंपि दुद्धं) उस दूध को भी (अभिभूय) तिरस्कार करके (वट्टदि) वर्तता है (तह) तैसे (णाणम्) ज्ञान (अट्ठेसु) पदार्थो में वर्तता है ।

भाव यह है कि जैसे इन्द्रनील नाम का प्रधानरत्न कर्त्ता होकर अपनी नीलप्रभा-रूपी कारण से दूध नीला करके वर्तन करता है तैसे निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परम सामा-यिक नामा संयम के द्वारा जो उत्पन्न हुआ केवलज्ञान सो आपा–पर को जानने की शक्ति रखने के कारण सर्व अज्ञान के अंधेरे को तिरस्कार करके एक समय में ही सर्व पदार्थो मे ज्ञानाकार से वर्तता है–यहाँ यह मतलब है कि कारणभूत पदार्थो के कार्य जो ज्ञानाकार ज्ञान में झलकते है उनको उपचार से पदार्थ कहते है । उन पदार्थो में ज्ञान वर्तन करता है ऐसा कहते हुए भी व्यवहार से दोष नही है ।।३०।।

अथैवमर्था ज्ञाने वर्तन्त इति संभावयति—

[1]जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि[2] सव्वगदं[3] ।
[4]सव्वगदं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ।।३१।।

यदि ते न सन्त्यर्था ज्ञाने ज्ञानं न भवति सर्वगतम् ।
सर्वगतं वा ज्ञानं कथं न ज्ञानस्थिता अर्था ।।३१।।

---

१ जइ (ज० वृ०) । २ होइ (ज० वृ०) । ३ सव्वगय (ज० वृ०) । ४ सव्वगय (ज० वृ०) ।

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णा. सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्येत। अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम्। तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्द-भूमिकावतीर्णप्रतिबिम्बस्थानीयस्वीयस्वीयसवेद्याकारकारणानि, परम्परया प्रतिबिम्बस्थानी-यसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते ।।३१।।

भूमिका—**अब, ज्ञान पदार्थ मे इस प्रकार रहते है, यह व्यक्त करते है:—**

अन्वयार्थ—[यदि] जो [ते अर्था:] वे पदार्थ [ज्ञाने न सन्ति] (अपनी परिछित्ति के आकारो के समर्पण द्वारा, दर्पण मे बिम्ब की तरह) केवलज्ञान मे नही है तो [ज्ञान] ज्ञान [सर्वगत] सर्वगत [न भवति] नही हो सकता [वा] और [सर्वगत ज्ञान] सर्वगत ज्ञान माना गया है, तो [ज्ञानस्थिता अर्था] पदार्थ (अपने ज्ञेयाकारो के परिच्छित्ति-समर्पण द्वारा) ज्ञान मे स्थित [कथ न भवन्ति] कैसे नही है (किन्तु है ही)।

टीका—**जो वास्तव मे समस्त अपने ज्ञेयाकारों के समर्पण द्वारा से अवतरित सभी पदार्थ ज्ञान मे प्रतिभासित नही होते है, तो वह (ज्ञान) सर्वगत नहीं माना जा सकता और (ज्ञान तो) सर्वगत माना गया है। तो फिर साक्षात् ज्ञान दर्पण भूमिका में अवतरित बिम्ब की भांति अपने-अपने क्षेयाकारों के कारण (होने से) और परम्परा से प्रतिबिम्ब के समान क्षेयाकारों के समान होने से कैसे पदार्थ ज्ञान में स्थित निश्चित न किये जांए (अवश्य ही ज्ञान में पदार्थ स्थित निश्चित होते है) ।।३१।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वसूत्रेण भणित ज्ञानमर्थेषु वर्तते व्यवहारेणात्र पुनरर्था ज्ञाने वर्तन्त इत्युपदिशन्ति,—

जइ यदि चेत् **ते अट्ठा ण सति** ते पदार्था· स्वकीयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेणादर्शे बिम्बवन्न सन्ति यदि चेत्। क्व ? **णाणे** केवलज्ञाने **णाणं ण होइ सव्वगय** तदा ज्ञानं सर्वगत न भवति। **सव्वगयं वा णाण** व्यवहारेण सर्वगत ज्ञान सम्मत चेद्भवता **कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा** तर्हि व्यवहारनयेन स्वकीयज्ञेयाकारपरिच्छित्तिसमर्पणद्वारेण ज्ञानस्थिता अर्था: कथ न भवन्ति ? किन्तु भवन्त्येव। अत्रायम-भिप्राय —यत एव व्यवहारेण ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारग्रहणद्वारेण ज्ञान सर्वगत भण्यते, तस्मादेव ज्ञेयपरि-च्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेण पदार्था अपि व्यवहारेण ज्ञानगता भण्यन्त इति ।।३१।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्र से यह बात कही गई कि व्यवहार से ज्ञान पदार्थो मे वर्तन करता है अब यह उपदेश करते है कि पदार्थ ज्ञान मे वर्तते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (ते अट्ठा) वे पदार्थ (णाणे) केवलज्ञान मे (ण सति) नही हों अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकता है इस तरह पदार्थ अपने ज्ञानाकार को समर्पण करने के द्वारा ज्ञान में न झलकते हों तो (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगय)**

सर्वगत (ण होई) नही होवे। (वा) अथवा यदि व्यवहार से (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत आपकी सम्मति से है तो व्यवहारनय से (अट्ठा) पदार्थ अर्थात् अपने ज्ञेयकार को ज्ञान में समर्पण करने वाले पदार्थ (कहं ण) किस तरह नहीं (णाणट्ठिया) केवलज्ञान में स्थित है—किन्तु ज्ञान मे अवश्य तिष्ठते है, ऐसा मानना होगा।

यहां यह अभिप्राय है क्योंकि व्यवहारनय से ही जब ज्ञेयों के ज्ञानाकार को ग्रहण करने के द्वारा ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है इसीलिये सब ज्ञेयों के ज्ञानाकार समर्पण द्वार से पदार्थ भी व्यवहार से ज्ञान में प्राप्त है, ऐसा कह सकते है। पदार्थो के आकार को जब ज्ञान ग्रहण करता है, तब पदार्थ अपना आकार ज्ञान को देते हैं, यह कहना होगा ॥३१॥

अथैवं ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्यतोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥३२॥

गृण्हाति नैव न मुञ्चति न पर परिणमति केवली भगवान्।
पश्यति समन्तत. स. जानाति सर्वं निरवशेषम् ॥३२॥

अय खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्ज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव नि.शेषतयात्मानमात्मनि संचेतयते। अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणक्रियाविरामः, प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुन. परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव ॥३२॥

भूमिका—अब, इसप्रकार केवलज्ञानी के साथ एक-दूसरे मे वृत्ति वाले होने पर भी, पर को ग्रहण, त्याग किये बिना तथा परद्रव्य रूप परिणत हुए बिना सबको देखने-जानने वाले केवली के (पदार्थो के साथ) अत्यन्त भिन्नपने को बतलाते हैः—

अन्वयार्थ—[केवली भगवान्] केवली भगवान (सर्वज्ञ) [पर] पर-द्रव्य को-ज्ञेय पदार्थ को [न एव गृह्णाति] न ग्रहण करते है, [न मु चति] न छोडते है, [न परिणमति] और न परद्रव्य रूप-ज्ञेयरूप परिणत होते है। इससे जाना जाता है कि उनका परद्रव्य के साथ भिन्नत्व ही है, तो क्या परद्रव्य को जानते भी नही ? उत्तर—तथापि [समन्तत]

सर्व द्रव्य क्षेत्र-काल-भावो से [सर्वं] सब ज्ञेयो को [निरवशेषं] निरवशेष [पश्यति जानाति] देखते-जानते है।

टीका—**वह आत्मा वास्तव में, स्वभाव से ही परद्रव्य के ग्रहण त्याग का तथा परद्रव्य रूप के परिणत होने का (उसके) अभाव होने से, स्वतत्त्वभूत केवलज्ञान स्वरूप से परिणत होकर (तथा) निष्कंप निकलने वाली ज्योति वाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ, (एवं) जिसके सब आत्म-प्रदेशो से दर्शन ज्ञान शक्ति स्फुरित है, ऐसा होता हुआ, निःशेष रूप से परिपूर्ण आत्मा को आत्मा से आत्मा मे सचेतता (जानता-अनुभव करता) है।**

अथवा एक साथ ही सर्व पदार्थो के समूह को साक्षात् करने से, ज्ञप्ति परिवर्तन का अभाव होने से, (तथा) जिसके ग्रहण त्याग रूप क्रिया विराम को प्राप्त हुई है ऐसा होता हुआ, (एवं) पहले समय मे ही समस्त ज्ञेयाकार रूप परिणत होने से, फिर दूसरे आकारान्तर रूप नही परिणत होता हुआ, सर्व प्रकार से सम्पूर्ण विश्व को देखता जानता है।

सार—**इस प्रकार (पूर्वोक्त दोनों प्रकार से) उसका (आत्मा का पदार्थो से) अत्यन्त भिन्नपना ही है।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानिन. पदार्थैं सह यद्यपि व्यवहारेण ग्राह्यग्राहकसम्बन्धोऽस्ति तथापि सश्लेषादिसम्बन्धो नास्ति, तेन कारणेन ज्ञेयपदार्थैं. सह भिन्नत्वमेवेति प्रतिपादयति,—

गेण्हदि णेव ण मु चदि गृह्णाति नैव मुञ्चति **नैवण पर परिणमदि** पर परद्रव्य ज्ञेयपदार्थ नैव परिणमति। स क कर्ता ? **केवली भगव** केवली भगवान् सर्वज्ञ·। ततो ज्ञायते परद्रव्येण सह भिन्नत्वमेव तर्हि कि परद्रव्य न जानाति ? **पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस** तथापि व्यवहारनयेन पश्यति समन्ततः सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च सर्व निरवशेषम्। अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अभ्यन्तरे कामक्रोधादि बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिकं बहिर्द्रव्यं न गृह्णाति, स्वकीयानन्तज्ञानादि-चतुष्टय च न मुञ्चति यतस्ततः कारणादय जीव केवलज्ञानोत्पत्तिक्षण एव युगपत्सर्वं जानन्सन् पर विकल्पान्तर न परिणमति। तथाभूत सन् कि करोति ? स्वतत्वभूतकेवलज्ञानज्योतिषा जात्यमणि-कल्पो नि कम्पचैतन्यप्रकाशो भूत्वा स्वात्मान स्वात्मनि जानात्यनुभवति। तेनापि कारणेन परद्रव्यै· सह भिन्नत्वमेवेत्यभिप्राय ॥३२॥

एव ज्ञान ज्ञेयरूपेण न परिणमतीत्यादिव्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चक गतम्।

उत्थानिका—आगे यह समझाते है कि यद्यपि व्यवहार से ज्ञानी का ज्ञेय पदार्थो के साथ ग्राह्य-ग्राहक अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है तथापि निश्चय से स्पर्श आदि का सम्बन्ध नही है इसलिये ज्ञानी का ज्ञेय पदार्थो के साथ भिन्नपना ही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(केवली भगवं) केवली भगवान सर्वज्ञ (परं) पर द्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थ को (णेव गिण्हदि) न तो ग्रहण करते है, (ण मुंचदि) न छोड़ते हैं (ण परिणमदि) न उस रूप परिणमन करते है। इससे जाना जाता है कि उनकी परद्रव्य से भिन्नता ही है। तब क्या वे परद्रव्य को नही जानते है ? उसके लिये कहते है कि यद्यपि भिन्न है तथापि व्यवहारनय से (सो) वह भगवान् (णिरवसेसं सव्वं) बिना अवशेष के सबको (समंतदो) सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के साथ (पेच्छदि) देखते है तथा (जाणदि) जानते है।

अथवा इसी का दूसरा व्याख्यान यह है कि केवली भगवान् भीतर तो काम, क्रोधादि भावो को और बाहर में पांचों इन्द्रियों के विषयरूप पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं, न अपने आत्मा के अनन्तज्ञानादि चतुष्टय को छोड़ते है। यही कारण है जो केवलज्ञानी आत्मा केवलज्ञान की उत्पत्ति के काल मे ही एक साथ सर्व को देखते-जानते हुए भी अन्य विकल्परूप परिणमन नही करते है। ऐसे वीतरागी होते हुए क्या करते है ? अपने स्वभाव रूप केवलज्ञान की ज्योति से निर्मल स्फटिकमणि के समान निश्चल चैतन्य प्रकाश रूप होकर अपने आत्मा के द्वारा आत्मा में जानते है, अनुभव करते है। इसी कारण से उनकी परद्रव्यों के साथ एकता नही है भिन्नता ही है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये ॥३२॥

इसी तरह ज्ञान-ज्ञेय रूप से परिणमन नही करता है, इत्यादि व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थल में पांच गाथाएं पूर्ण हुई ॥३२॥

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकांक्षाक्षोभं क्षपयति—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण ।
तं [1]सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा[2] ॥३३॥

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मान ज्ञायक स्वभावेन ।
त श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकरा ॥३३॥

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपयचैतन्यविशेषशालिना श्रुतज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभवेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि सचेतनात् श्रुतकेवली। अलं विशेषाकांक्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते ॥३३॥

---

१ सुयकेवलिमिसिणो (ज० वृ०)। २ लोयप्पदीवयरा (ज० वृ०)।

भूमिका—अब केवलज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी के अविशेष (समानता अन्तररहितता) दिखलाते हुये, विशेष आकांक्षा के क्षोभ को नष्ट करते है (अर्थात् केवलज्ञानी में और श्रुत-ज्ञानी मे अन्तर नहीं है, यह दिखाकर विशेष जानने की इच्छा की आकुलता को नष्ट करते है):—

अन्वयार्थ—[य) जो [हि] वास्तव मे [श्रुतेन] श्रुतज्ञान से (निर्विकार-स्वसवित्ति रूप भावश्रुत परिणाम से) [स्वभावेन] स्वभाव से (समस्त विभाव रहित स्वभाव से) [ज्ञायक] ज्ञायक स्वभावी (भावज्ञान स्वरूप) [आत्मान] आत्मद्रव्य को [विजानाति] जानता है, [लोकप्रदीपकरा] लोक के प्रकाशक [ऋषय] ऋषीश्वरगण [त] उसको [श्रुतकेवलिन] श्रुतकेवली [भणन्ति] कहते है।

टीका—**जैसे भगवान्, युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्य-विशेष-युक्त केवलज्ञान द्वारा, अनादि निधन-निष्कारण (अहेतुक) असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव से एकत्व होने से केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है, ऐसे आत्मा का आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण से केवली है, उसी प्रकार यह (छद्मस्थ) पुरुष भी क्रमशः परिणमित होते हुए कुछ चैतन्य विशेषों से युक्त श्रुतज्ञान के द्वारा, अनादिनिधन निष्कारण-असाधारण-स्वसवेद्यमान-चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव के द्वारा एकत्व होने से केवल (अकेला) है, ऐसे आत्मा का आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली है। (इसलिये) विशेष आकांक्षा के क्षोभ से (अधिक जानने की इच्छा रूप आकुलता से) समाप्त हो। (हमारे द्वारा) स्वरूप से निश्चल ही ठहरा जाता है।**

भावार्थ—**छद्मस्थ जीव भाव-श्रुतज्ञान द्वारा निज शुद्ध-आत्मा का अनुभव करते है तथा केवली भगवान् केवल-ज्ञान द्वारा निज शुद्ध-आत्मा का अनुभव करते है। इसलिये दोनों मे कोई अन्तर नहीं है। पर-पदार्थ का हीनाधिक ज्ञान आत्म-अनुभव में प्रयोजनवान नहीं है। इसलिये पर-द्रव्य के अधिक ज्ञान को करने की आकुलता छोड़कर आत्म-अनुभव करने का अभ्यास कर, उसमें तेरा भला है। आत्म-अनुभव करने वाले जीवों को निश्चय से श्रुतकेवली कहते है जबकि सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के जानकार को व्यवहार से श्रुतकेवली कहते है। ऐसी आत्म-अनुभव की अटूट महिमा है। देखिये श्री समयसार जी मे गाथा नं० ९ बिलकुल यही गाथा है।**

मूल गाथा मे केवल श्रुतकेवली की बात है और टीकाकार केवलज्ञानी तथा श्रुत-केवली दोनों की बात कर रहे है। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर यह है कि गाथा २१ से ५२ तक ज्ञान-प्रज्ञापन (केवलज्ञान या केवलज्ञान स्वरूपी आत्मा) के कथन करने की प्रतिज्ञा है। श्रुतकेवली की गाथा क्यों आई है ? इसमे से टीकाकार ने यह भाव निकाला है कि सूत्रकार दोनो का अविशेष दिखलाना चाहते है ॥३३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ यथा निरावरणसकलव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेनात्मपरिज्ञानं भवति तथा सावरणैकदेश-व्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन स्वसंवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेनाप्यात्मपरिज्ञान भवतीति निश्च नोति ।अथवा द्वितीयपातनिका—यथा केवलज्ञान प्रमाण भवति तथा केवलज्ञानप्रणीतपदार्थप्रकाशक श्रुतज्ञानमपि परोक्षप्रमाण भवतीति पातनिकाद्वय मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्रतिपादयति,—

जो य· कर्ता हि स्फुट **सुदेण** निर्विकारस्वसवित्तिरूपभावश्रुतपरिणामेन **विजाणदि** विजानाति विशेषेण जानाति विषयसुखानन्दविलक्षणनिजशुद्धात्मभावनोत्थपरमानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादेनानु-भवति। कम् ? **अप्पाण** निजात्मद्रव्य। कथम्भूत ? **जाणग** ज्ञायक केवलज्ञानस्वरूप। केन कृत्वा ? **सहावेण** समस्तविभावरहितस्वभावेन **त सुयकेवलि** त महायोगीन्द्र श्रुतकेवलिन **भणंति** कथयन्ति। के कर्तार ? **इसिणो** ऋषय:। कि विशिष्टा ? **लोयप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति। अतो विस्तर: युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यशालिना केवलज्ञानेन अनाद्यनन्तनि.कारणान्यद्रव्यासाधारण-स्वसवेद्यमानपरमचैतन्यसामान्यलक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवलस्यात्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान् केवलि भवति, तथाय गणधरदेवादिनिश्चयरत्नत्रयाराधकजनोपि पूर्वोक्तलक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसवेदनान्निश्चयश्रुतकेवली भवतीति। किञ्च–यथा कोपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्ष-पर्याये भगवानात्मान पश्यति। ससारी विवेकिजन पुनर्निशास्थानीयससारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मान पश्यतीति। अयमत्राभिप्राय;—आत्मा परोक्ष:, कथं ध्यान क्रियते इति सन्देह कृत्वा परमात्मभावना न त्याज्येति। ३३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जैसे सर्व आवरण रहित सर्व को प्रगट करने वाले लक्षण को धारने वाले केवलज्ञान से आत्मा का ज्ञान होता है तैसे आवरण सहित एक देश प्रकट करने वाले लक्षण को धरने वाले तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति का वीज रूप स्वसवेदन ज्ञानमयी भाव श्रुतज्ञान से भी आत्मा का ज्ञान होता है अर्थात् जैसे केवलज्ञान से आत्मा का जानपना होता है वैसा श्रुतज्ञान से भी आत्मा का ज्ञान होता है। आत्मज्ञान के लिये दोनो ज्ञान वरावर है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि जैसे केवलज्ञान प्रमाण रूप है तैसे ही केवलज्ञान द्वारा दिखलाए हुए पदार्थो को प्रकाश करने वाला श्रुतज्ञान भी परोक्ष प्रमाण है। इस तरह दो पातनिकाओ को मन मे रखकर आगे का सूत्र कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई पुरुष (हि) निश्चय से (सुदेण) निर्विकार स्वसंवेदन रूप भाव–श्रुत परिणाम के द्वारा (सहावेण) समस्त विभावों से रहित स्वभाव से ही (जाणगं) ज्ञायक अर्थात् केवलज्ञानरूप (अप्पाणं) निज आत्मा को (विजाणदि) विशेष करके जानता है अर्थात् विषयो के सुख से विलक्षण अपने शुद्धात्मा की भावना से पैदा होने वाले परमानन्दमई एक लक्षण को रखने वाले सुख रस के आस्वाद से अनुभव करता है। (लोयप्पदीवयरा) लोक के प्रकाश करने वाले (इसिणो) ऋषि (तं) उस महायोगीन्द्र को (सुयकेवलिं) श्रुतकेवली (भणंति) कहते है।

इसका विस्तार यह है कि एक समय में परिणमन करने वाले सर्व चैतन्यशाली केवलज्ञान के द्वारा आदि अंत रहित, अन्य किसी कारण के बिना दूसरे द्रव्यों में न पाइये ऐसे असाधारण अपने आप से अपने में अनुभव आने योग्य परमचैतन्यरूप सामान्य लक्षण को रखने वाले तथा परद्रव्य से रहितपने के द्वारा केवल ऐसे आत्मा का आत्मा मे स्वानुभव करने से जैसे भगवान् केवली होते है वैसे यह गणधर आदि निश्चयरत्नत्रय के आराधक पुरुष भी पूर्व में कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी आत्मा का भाव-श्रुतज्ञान के द्वारा अनुभव करने से श्रुतकेवली होते है। प्रयोजन यह है कि जैसे कोई भी देवदत्त नाम का पुरुष सूर्य के उदय होने से दिवस मे देखता है और रात्रि को भी दीपक के द्वारा कुछ देखता है वैसे सूर्य के उदय के समान केवलज्ञान के द्वारा दिवस के समान मोक्ष अवस्था के होते हुए भगवान् केवली आत्मा को देखते है और ससारी विवेकी जीव रात्रि के समान संसार-अवस्था में दीप के समान रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि के द्वारा अपने आत्मा को देखते है। अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है। उसका ध्यान कैसे किया जाय, ऐसा सन्देह करके परमात्मा की भावना को छोड़ न देना चाहिये ॥३॥

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

सूत्र जिनोपदिष्ट पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनै।
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञान सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥३४॥

श्रुतं हि तावत्सूत्रम्, तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञ स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्मतज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात्, ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव। एव सति, सूत्रस्य ज्ञप्तिः श्रुत-

ज्ञानमित्यायाति। अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते। ज्ञप्तिरेवावशिष्यते। सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ॥३४॥

भूमिका—अब ज्ञान के श्रुत-उपाधि (कृत) भेद को दूर करते है (अर्थात् यह दिखाते है कि श्रुतज्ञान भी ज्ञान है, श्रुत रूप उपाधि के कारण ज्ञान मे कोई भेद नहीं होता:—

अन्वयार्थ—[पुद्गलद्रव्यात्मकैः वचनैः] पुद्गल द्रव्यात्मक दिव्यध्वनि वचनो के द्वारा [जिनोपदिष्ट] जिनेन्द्र भगवान् से उपदिष्ट [सूत्र] सूत्र है (द्रव्यश्रुत है) [तज्ज्ञप्तिः हि ज्ञान] उसकी ज्ञप्ति (जानना) ज्ञान है (उस पूर्वोक्त शब्दश्रुत के आधार से जो ज्ञप्ति है—अर्थपरिच्छित्ति है वह ज्ञान कहा जाता है) [च] और (उस ज्ञान को) [सूत्रस्य ज्ञप्ति.] सूत्र की ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) [भणिता] कहा गया है।

टीका—पहले तो (श्रुतज्ञान इस शब्द में) श्रुत वास्तव में सूत्र है और वह सूत्र भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ के द्वारा कहा हुआ, स्यात्कार चिन्हयुक्त, पौद्गलिक शब्दब्रह्म है। (श्रुतज्ञान इस शब्द मे ज्ञान शब्द से वाच्य) उस (सूत्र) की ज्ञप्ति सो ज्ञान है। (श्रुतज्ञान इस शब्द मे) श्रुत (सूत्र) तो उसका (ज्ञान का) कारण होने से ज्ञान रूप से उपचार ही किया जाता है (उपचार से ज्ञान कहा जाता है जैसे कि अन्न को प्राण कहा जाता है)। ऐसा होने पर "सूत्र की ज्ञप्ति सो श्रुतज्ञान है" ऐसा ठहरता है (सिद्ध होता है)। अब सूत्र को उपाधिपना होने से उसका आदर न किया जाए तो ज्ञप्ति ही शेष रह जाती है (सूत्र की ज्ञप्ति कहने पर सूत्र आश्रय या निमित्त मात्र होने से उपाधि ही है। किन्तु ज्ञप्ति स्वयं आत्मा का ही परिणमन है। इसलिये यदि सूत्र को न गिना जाय तो 'ज्ञप्ति' ही शेष रहती है) और वह (ज्ञप्ति) केवली के और श्रुतकेवली के आत्म-अनुभव मे समान ही है। इसलिये ज्ञान के श्रुत-उपाधि (कृत) भेद नही है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ शब्दरूप द्रव्यश्रुत व्यवहारेण ज्ञान निश्चयेनार्थपरिच्छित्तिरूप भावश्रुतमेव ज्ञानमिति कथयति। अथवात्मभावनारतो निश्चयश्रुतकेवली भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम्, अय तु व्यवहारश्रुत-केवलीति कथ्यते,—

सुत्तं द्रव्यश्रुत। कथम्भूत ? **जिणोवदिट्ठ** जिनोपदिष्ट। कै. कृत्वा ? **पोग्गलदव्वप्पगेहि वयणेहि** पुद्गलद्रव्यात्मकैर्दिव्यध्वनिवचनै **त जाणणा हि णाण** तेन पूर्वोक्त—शब्दश्रुताधारेण ज्ञप्तिरर्थ-परिच्छित्तिर्ज्ञान भण्यते हि स्फुट **सुत्तस्स य जाणणा भणिया** पूर्वोक्तद्रव्यश्रुतस्यापि व्यवहारेण ज्ञानव्यपदेशो भवति न तु निश्चयेनेति। तथाहि—यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीव. पश्चाद्व्यव-हारेण नरनारकादिरूपोपि जीवो भण्यते। तथा निश्चयेनाखण्डैकप्रतिभासरूप समस्तवस्तुप्रकाशक ज्ञान भण्यते, पश्चाद्व्यवहारेण मेघपटलावृतादित्यस्यावस्थाविशेषवत्कर्मपटलावृताखण्डैकज्ञानरूप-जीवस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिव्यपदेशो भवतीति भावार्थः ॥३४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि शब्द रूप द्रव्यश्रुत व्यवहारनय से ज्ञान है। निश्चय करके अर्थ जानने रूप भावश्रुत ही ज्ञान है। अथवा आत्मा की भावना मे लवलीन पुरुष निश्चय श्रुतकेवली है, ऐसा पूर्व सूत्र मे कहा है, अव व्यवहार श्रुतकेवली को कहते है अथवा ज्ञान के साथ जो श्रुत की उपाधि है उसे दूर करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सुत्त) द्रव्यश्रुत (पोग्गल–दव्वप्पगेहिं वयणेहिं) पुद्गल द्रव्यमयी दिव्य ध्वनि के वचनों से (जिणोवदिट्ठं) जिन भगवान् के द्वारा उपदेश किया गया है। (हि) निश्चय करके (तज्जाणणा) उस द्रव्यश्रुत के आधार से जो जानपना है (णाणं) सो अर्थज्ञान रूप भावश्रुत ज्ञान है। (य) और (सुत्तस्स) उस द्रव्यश्रुत को भी (जाणणा) जानपना या ज्ञान संज्ञा (भणिया) व्यवहार नय से कही गई है।

भाव यह है कि जैसे निश्चय से यह जीव शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव रूप है, पीछे व्यवहारनय से जीव नर-नारक आदि रूप भी कहा जाता है। तैसे निश्चय से ज्ञान सर्व वस्तुओं को प्रकाश करने वाला अखंड एक प्रतिभासरूप कहा जाता है, सो ही ज्ञान फिर व्यवहारनय से मेघों के पटलों से आच्छादित सूर्य की अवस्था विशेष की तरह कर्म पटल से आच्छादित अखंड एक ज्ञानरूप होकर मतिज्ञान श्रुतजान आदि नामवाला हो जाता है ॥३४॥

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृतं भेदमपनुदति।

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥३५॥

यो जानाति तज्ज्ञान ज्ञायक आत्मा।
ज्ञान परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिता सर्वे ॥३५॥

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतंत्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत्। न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा ज्ञानेन ज्ञायको भवत्यात्मा। तथा सत्युभयोरचेतनत्वमचेतनयोः संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिष्पत्तिः। पृथक्त्ववर्तिनोरपि परिच्छेदाभ्युपगमे परपरिच्छेदेन परस्य परिच्छित्तिर्भूतिप्रभृतीनां च परिच्छित्तिप्रसूतिरनङ्कुशा स्यात्। किंच–स्वतोऽव्यतिरिक्तसमस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतं ज्ञानं स्वयं परिणममानस्य, कार्यभूतसमस्तज्ञेयाकारकारणीभूताः सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद्भवन्ति, किं ज्ञातृज्ञानविभागक्लेशकल्पनया ॥३५॥

भूमिका–अब आत्मा और ज्ञान के कर्तृत्व करणत्व कृत भेद को दूर करते है (प्रदेश-भेद लिये हुए ज्ञान भिन्न पदार्थ हो और आत्मा भिन्न पदार्थ हो, तथा आत्मा का फिर ज्ञान से समवाय हो जाने पर आत्मा ज्ञानी बनता हो, ऐसा नही है, यह उपदेश करते है)।

अन्वयार्थ—[य. जानाति] जो (कर्ता) जानता है [तत् ज्ञान] वह ज्ञान है (जो ज्ञायक है वही ज्ञान है) [ज्ञानेन] ज्ञान के द्वारा (सर्वथा भिन्न ज्ञान नामा पदार्थ से जुड कर) [आत्मा] आत्मा [ज्ञायक न भवति] ज्ञायक नही होता है। [स्वय] स्वय ही आत्मा [ज्ञान परिणमते] ज्ञान रूप परिणत होता है और [सर्वे अर्था] सब पदार्थ [ज्ञान-स्थिता.] ज्ञान मे स्थित हो जाते है।

टीका—आत्मा के अपृथग्भूत (अभिन्न) कर्तृत्व और कारणत्व की शक्ति-रूप पारमैश्वर्य-योगिपना (सहितपना) होने से जो स्वयं ही जानता है (जो ज्ञायक है) वह ही ज्ञान है, जैसे जिसमे साधकतम उष्णत्व शक्ति अन्तर्लीन है ऐसी स्वतन्त्र अग्नि के, दहन-क्रिया की प्रसिद्धि होने से, 'उष्णता' कहीजाती है। परन्तु ऐसा नही है कि जैसे पृथग्वर्ती दांती (हसिया)से देवदत्त काटने वाला है, उसी प्रकार (पृथग्वर्ती) ज्ञान से आत्मा ज्ञायक (जानने वाला) है। ऐसा होने पर, दोनों मे (ज्ञान और आत्मा मे) अचेतनपना (आ जायेगा) और दो अचेतनो का संयोग होने पर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नही होगी। (आत्मा और ज्ञान के) पृथग्वर्ती होने पर भी (आत्मा के) ज्ञप्ति मानी जाने पर ज्ञान के द्वारा पर के ज्ञप्ति (होगी) (और इस प्रकार) राख इत्यादिक के भी ज्ञप्ति की उत्पत्ति निरंकुश (अबाधित) होगी। (यदि ऐसा माना जायगा कि आत्मा और ज्ञान पृथक्-पृथक् पदार्थ है किन्तु ज्ञान आत्मा के साथ युक्त हो जाता है इसलिये आत्मा जानने का कार्य करता है, तो ज्ञान के युक्त होने से पूर्व आत्मा जड़ था और जैसे ज्ञान जड़ आत्मा के साथ युक्त होता है, उसी प्रकार राख, घड़ा, खम्भा इत्यादि समस्त जड़ पदार्थो के साथ भी युक्त हो जाये और उससे वे सब पदार्थ भी जानने का कार्य करने लगें, किन्तु ऐसा नही होता। इसलिये आत्मा और ज्ञान पृथक्-पृथक् पदार्थ नही है।) और विशेष–अपने से अभिन्न समस्त ज्ञेयाकार रूप परिणत जो ज्ञान है उस रूप स्वयं परिणत होने वाले आत्मा के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारो के कारणभूत समस्त पदार्थ कथंचित् ज्ञानवर्ती ही है। (इसलिये) ज्ञाता और ज्ञान के विभाग की क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन है, कुछ नही ॥३५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञानी न भवतीत्युपदिशति,—

जो जाणदि सो णाणं य. कर्ता जानाति स ज्ञान भवतीति । तथाहि—यथा सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि सति पश्चादभेदनयेन दहनक्रियासमर्थोष्णगुणेन परिणतोऽग्निरप्युष्णो भण्यते, तथार्थक्रिया परिच्छित्तिसमर्थेन ज्ञानगुणेन परिणत आत्मापि ज्ञान भण्यते । तथा चोक्तम्– **'जानातीति ज्ञानमात्मा' ण हवदि णाणेण जाणगो आदा** सर्वथैव भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञायको न भवतीति । अथ मतम्—यथा भिन्नदात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा भिन्नज्ञानेन ज्ञायको भवतु को दोष इति । नैवम् । छेदनक्रियाविषये दात्र बहिरङ्गोपकरण तद्भिन्न भवतु अभ्यन्तरोपकरण तु देवदत्तस्य छेदनक्रियाविषये शक्तिविशेषस्तच्चाभिन्नमेव भवति । तथार्थपरिच्छित्तिविषयेज्ञानमेवाभ्यन्तरोपकरण तथाभिन्नमेव भवति, उपाध्यायप्रकाशादिवहिरङ्गोपकरणतद्भिन्नमपि भवतु दोषो नास्ति । यदि च भिन्नज्ञानेन ज्ञानी भवति तर्हि परकीयज्ञानेन सर्वेपि कुम्भस्तम्भादिजडपदार्था ज्ञानिनो भवन्तु न च तथा । **णाणं परिणमदि सयं** यत एव भिन्नज्ञानेन ज्ञानी न भवति तत एव घटोत्पत्तौ मृतपिण्ड इव स्वयमेवोपादानरूपेणात्मा ज्ञानं परिणमति । **अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे** व्यवहारेण ज्ञेयपदार्था आदर्शे विम्बमिव परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने तिष्ठन्तीत्यभिप्राय. ॥३५॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि आत्मा अपने से भिन्न किसी ज्ञान के द्वारा ज्ञानी नही होता है अर्थात् ज्ञान और आत्मा का सर्वथा भेद नही है, किसी अपेक्षा से भेद है । वास्तव मे ज्ञान और आत्मा अभिन्न है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो जाणदि) जो कोई जानता है (सो णाणं) सो ज्ञान गुण अथवा ज्ञानी आत्मा है । जैसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के कारण अग्नि और उसके उष्ण गुण का भेद होने पर भी अभेद नय से जलाने की क्रिया करने को समर्थ उष्ण गुण के द्वारा परिणमती हुई अग्नि भी उष्ण कही जाती है तैसे संज्ञा लक्षणादि के द्वारा ज्ञान और आत्मा का भेद होने पर भी पदार्थ और क्रिया के जानने को समर्थ ज्ञान गुण के द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा भी ज्ञान या ज्ञानरूप कहा जाता है ऐसा ही कहा गया है । "जानातीति ज्ञानमात्मा" कि जो जानता है सो ज्ञान है और सो ही आत्मा है । (आदा) आत्मा (णाणेण) भिन्न ज्ञान के कारण से (जाणगो) जानने वाला ज्ञाता (ण हवदि) नही होता है । किसी का ऐसा मत है कि जैसे भिन्न दन्तीले (हसिया) से देवदत्त घास का काटने वाला होता है वैसे भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञाता होवे तो कोई दोष नही है । उसके लिये कहते है कि ऐसा नही हो सकता है । घास छेदने की क्रिया के सम्बन्ध मे दंतीला (हसिया) बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सकता है परन्तु भीतरी उपकरण देवदत्त की छेदन क्रिया सम्बन्धी शक्ति विशेष है सो देतदत्त से अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है । तैसे ही ज्ञान की क्रिया मे उपाध्याय, प्रकाश, पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न हैं, तो हों, इसमे कोई**

दोष नही है। परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मा से अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी हो जाता है तब दूसरे के ज्ञान से अर्थात् भिन्न ज्ञान से सर्व ही कुंभ, खंभा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी हो जायेगे सो ऐसा होता नही। (णाण) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी नही होता है तब जसे घट की उत्पत्ति मे मिट्टी का पिंड स्वयं उपादान-कारण से परिणमन करता है वैसे पदार्थो के जानने मे ज्ञान स्वयं उपादानकारण से परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्ठा) व्यवहारनय से सब ही ज्ञेय पदार्थ (णाणट्ठिया) ज्ञान में स्थित है अर्थात् जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान मे झलकते है, ऐसा अभिप्राय है ॥३५॥

अथ किं ज्ञानं किं ज्ञेयमिति व्यनक्ति—

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
[1]दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

तस्मात् ज्ञान जीवो ज्ञेय द्रव्य त्रिधा समाख्यातम्।
द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसबद्धः ॥३६॥

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणस्य स्वतन्त्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तुं चाशक्ते.। ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाण-विचित्रपर्यायपरम्पराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं, तत्तु ज्ञेयतामापद्य-मानं द्वेधात्मपरविकल्पात्। इष्यते हि स्वपरपरिच्छेकत्वादवबोधस्य बोध्यस्यैवंविधं द्वैविध्यम्।

ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथं नामात्मपरिच्छेदकत्वम्। का हि नाम क्रिया कीदृशश्च विरोधः। क्रिया ह्यत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्तिरूपा वा। उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाद्विरुद्धैव। ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशनक्रिययेव प्रत्य-वस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतारः। यथा हि प्रकाशकस्य प्रदीपस्य परं प्रकाश्य-तामापन्नं प्रकाशयत स्वस्मिन् प्रकाश्यते न प्रकाशान्तरं मृग्यं, स्वयमेव प्रकाशनक्रियायाः समुपलम्भात्। तथा परिच्छेदकस्यात्मनः पर परिच्छेद्यतामापन्नं परिच्छिन्दत स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेदकान्तरं मृग्यं, स्वमेव परिच्छेदनक्रियायाः समुपलम्भात्।

ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानस्वरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च। परिणामसं-

१ दव्वनि (ज० वृ०)।

बन्धत्वात् । यतः खलु आत्मा द्रव्याणि च परिणामैः सह संबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रतपति ॥३६॥

भूमिका—अब क्या ज्ञान है और क्या ज्ञेय है, यह व्यक्त करते हैं—

अन्वयार्थ—[तस्मात् जीव. ज्ञान] इस कारण से (पूर्व सूत्र अनुसार) आत्मा ही ज्ञान है। [ज्ञेय द्रव्य] ज्ञेय द्रव्य है (कि जो द्रव्य) [त्रिधा समाख्यात] (तीन काल की पर्याय की परिणति रूप से,) तीन प्रकार कहा गया है [द्रव्य इति पुन. आत्मा परं च] और वह ज्ञेय-भूत-द्रव्य आत्मा स्व और पर है, (आत्मा के स्व-पर-द्रव्यो का जानपना और द्रव्यो के आत्मा का ज्ञेयरूपपना किस कारण से है ? उत्तर) [परिणामसवद्ध.] वे अपने-अपने ज्ञान और ज्ञेय परिणामो से सम्बन्धित है—परिणाम वाले है । उस रूप परिणत होते है।

आत्मा और द्रव्य कूटस्थ नही है। वे समय-समय पर परिणमन किया करते है। इसलिये आत्मा ज्ञान-स्वभाव से और द्रव्य ज्ञेय-स्वभाव से परिणत होते है। इस प्रकार ज्ञान स्वभाव से परिणत आत्मा के ज्ञान के आलम्वनभूत द्रव्यो को जानता है और ज्ञेय-स्वभाव से परिणत द्रव्य, ज्ञेय के आलम्बनभूत ज्ञान मे (—आत्मा मे) ज्ञात होते है।

टीका—**क्योंकि पूर्व गाथा के कथनानुसार (जीव) ज्ञान रूप से स्वय परिणत होकर स्वतन्त्र ही जानता है इसलिये 'जीव ही ज्ञान है' क्योंकि अन्य द्रव्यों के इस प्रकार (ज्ञान रूप) परिणत होने के लिये तथा जानने के लिये असमर्थता है। ज्ञेय तो पहले वर्त चुकी (भूत) अब वर्त रही (वर्तमान) और आगे वर्तने वाली (भविष्यत्) ऐसी विचित्र (विभिन्न) पर्यायो की परम्परा के प्रकार से तीन प्रकार काल-कोटि को स्पर्शपना होने से, अनादि अनन्त द्रव्य है। ज्ञेयपने को प्राप्त हुआ वह द्रव्य आत्मा स्व और पर भेद से दो प्रकार है। वास्तव मे ज्ञान के स्व-पर का जानपना होने से ज्ञेय की इस प्रकार द्विविधता कही जाती है।**

प्रश्न—**अपने मे ही क्रिया (हो सकने) का विरोध होने से (आत्मा के) अपना जानपना कैसे है ? (अर्थात् ज्ञान स्वप्रकाशक कैसे है ?)**

उत्तर—**क्रिया क्या है और किस प्रकार का विरोध है ? यहाँ (प्रश्न मे) जो विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप क्रिया होगी या ज्ञप्ति रूप होगी। प्रथम, उत्पत्ति-रूप क्रिया, 'अकेला स्वयं अपने मे से उत्पन्न नही हो सकता' इस आगम-कथन अनुसार, विरुद्ध ही है। (परन्तु) ज्ञप्ति रूप क्रिया के, प्रकाशन क्रिया की भांति, उत्पत्ति क्रिया से**

विरुद्धपना (भिन्नपना) होने से विरोध का प्रसंग नहीं है। जैसे वास्तव में प्रकाश्यता को प्राप्त पर (द्रव्यो) को प्रकाशित करने वाले प्रकाशक दीपक के अपने प्रकाशित करने में, अन्य प्रकाशक को ढूँढने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि (उसके) स्वयमेव प्रकाशक क्रिया की प्राप्ति है (अर्थात् वह ज्ञान स्वयं प्रकाशमय है) इस ही प्रकार ज्ञेयता को प्राप्त पर (पदार्थों) को जानने वाले ज्ञाता आत्मा के अपने ज्ञेय मे (अपने को जानने-पने में अन्य जानने वाले (ज्ञायक) को ढूँढने की आवश्यकता नही है, क्योकि (उसके) स्वयमेव ज्ञान-क्रिया की प्राप्ति है (अर्थात् वह स्वयं ज्ञानमय है)। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्व को भी जानता है।

प्रश्न—आत्मा के द्रव्यों की ज्ञानरूपता (जानपना) और द्रव्यों के आत्मा की ज्ञेय-रूपता (जानपना) किस कारण से है ?

उत्तर—वे (ज्ञायक आत्मा और द्रव्य) परिणाम वाले होने से। क्योंकि वास्तव मे आत्मा और द्रव्य परिणामों के साथ संबन्धित है, इसलिये आत्मा के, द्रव्य जिसका आलम्बन है ऐसे, ज्ञानरूप से परिणति और द्रव्यों के, ज्ञान को आलम्बन लेकर ज्ञेयाकार रूप से परिणति अबाधित रूप से बनती है।

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मा ज्ञान भवति शेष तु ज्ञेयमित्यावेदयति,—

तम्हा णाणं जीवो यस्मादात्मैवोपादानरूपेण ज्ञान परिणमति तथैव पदार्थान् परिच्छिनत्ति, इति भणित पूर्वसूत्रे। तस्मादात्मैव ज्ञान **णेयं दव्व** तस्य ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञेय भवति। कि ? द्रव्यम्। **तिहा समक्खादं** तच्च द्रव्य कालत्रयपर्यायपरिणतिरूपेण द्रव्यगुणपर्यायरूपेण वा तथैवोत्पादव्ययध्रौव्य-रूपेण च त्रिधा समाख्यातम्। **दव्वत्ति पुणो आदा परं च** तच्च ज्ञेयभूत द्रव्यमात्मा भवति। पर च। कस्मात् ? यतो ज्ञान स्व जानाति पर चेति प्रदीपवत्। तच्च स्वपरद्रव्य कथभूत ? **परिणामसवद्धं** कथचित्परिणामीत्यर्थ। नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य प्रमेयत्वात् घटादिवत् परिहारमाह-प्रदीपेन व्यभिचार, प्रदीपस्तावत्प्रमेय परिच्छेद्यो ज्ञेयो भवति न च प्रदीपान्तरेण प्रकाश्यते, तथा ज्ञानमपि स्वयमेवात्मान प्रकाशयति न च ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते। यदि पुनर्ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते। तर्हि गगनावलम्बिनी महती दुर्निवारानवस्था प्राप्नोतीति सूत्रार्थ ॥३६॥

एव निश्चयश्रुतकेवलिव्यवहारश्रुतकेवलिकथनमुख्यत्वेन भिन्नज्ञाननिराकरणेन ज्ञानज्ञेयस्व-रूपकथनेन च चतुर्थस्थले गाथाचतुष्टय गतम्।

उत्थानिका—आगे बताते है कि आत्मा ज्ञान रूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रगट करते है—

बन्धत्वात् । यतः खलु आत्मा द्रव्याणि च परिणामैः सह संबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रतपति ॥३६॥

भूमिका—**अब क्या ज्ञान है और क्या ज्ञेय है, यह व्यक्त करते हैं—**

अन्वयार्थ—[तस्मात् जीव ज्ञान] इस कारण से (पूर्व सूत्र अनुसार) आत्मा ही ज्ञान है । [ज्ञेय द्रव्य] ज्ञेय द्रव्य है (कि जो द्रव्य) [त्रिधा समाख्यात] (तीन काल की पर्याय की परिणति रूप से,) तीन प्रकार कहा गया है [द्रव्य इति पुन आत्मा पर च] और वह ज्ञेय-भूत द्रव्य आत्मा स्व और पर है, (आत्मा के स्व-पर-द्रव्यो का जानपना और द्रव्यो के आत्मा का ज्ञेयरूपपना किस कारण से है ? उत्तर) [परिणामसवद्ध.] वे अपने-अपने ज्ञान और ज्ञेय परिणामो से सम्बन्धित है—परिणाम वाले है । उस रूप परिणत होते है ।

आत्मा और द्रव्य कूटस्थ नही है । वे समय-समय पर परिणमन किया करते है । इसलिये आत्मा ज्ञान-स्वभाव से और द्रव्य ज्ञेय-स्वभाव से परिणत होते है । इस प्रकार ज्ञान स्वभाव से परिणत आत्मा के ज्ञान के आलम्बनभूत द्रव्यो को जानता है और ज्ञेय-स्वभाव से परिणत द्रव्य, ज्ञेय के आलम्बनभूत ज्ञान मे (—आत्मा मे) ज्ञात होते है ।

टीका—**क्योंकि पूर्व गाथा के कथनानुसार (जीव) ज्ञान रूप से स्वय परिणत होकर स्वतन्त्र ही जानता है इसलिये 'जीव ही ज्ञान है' क्योंकि अन्य द्रव्यों के इस प्रकार (ज्ञान रूप) परिणत होने के लिये तथा जानने के लिये असमर्थता है । ज्ञेय तो पहले वर्त चुकी (भूत) अब वर्त रही (वर्तमान) और आगे वर्तने वाली (भविष्यत्) ऐसी विचित्र (विभिन्न) पर्यायो की परम्परा के प्रकार से तीन प्रकार काल-कोटि को स्पर्शपना होने से, अनादि अनन्त द्रव्य है । ज्ञेयपने को प्राप्त हुआ वह द्रव्य आत्मा स्व और पर भेद से दो प्रकार है । वास्तव मे ज्ञान के स्व-पर का जानपना होने से ज्ञेय की इस प्रकार द्विविधता कही जाती है ।**

प्रश्न—**अपने में ही क्रिया (हो सकने) का विरोध होने से (आत्मा के) अपना जानपना कैसे है ? (अर्थात् ज्ञान स्वप्रकाशक कैसे है ?)**

उत्तर—**क्रिया क्या है और किस प्रकार का विरोध है ? यहाँ (प्रश्न मे) जो विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप क्रिया होगी या ज्ञप्ति रूप होगी । प्रथम, उत्पत्ति-रूप क्रिया, 'अकेला स्वयं अपने मे से उत्पन्न नही हो सकता' इस आगम-कथन अनुसार, विरुद्ध ही है । (परन्तु) ज्ञप्ति रूप क्रिया के, प्रकाशन क्रिया की भांति, उत्पत्ति क्रिया से**

विरुद्धपना (भिन्नपना) होने से विरोध का प्रसंग नहीं है। जैसे वास्तव में प्रकाश्यता को प्राप्त पर (द्रव्यों) को प्रकाशित करने वाले प्रकाशक दीपक के अपने प्रकाशित करने में, अन्य प्रकाशक को ढूँढने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि (उसके) स्वयमेव प्रकाशक क्रिया की प्राप्ति है (अर्थात् वह ज्ञान स्वयं प्रकाशमय है) इस ही प्रकार ज्ञेयता को प्राप्त पर (पदार्थों) को जानने वाले ज्ञाता आत्मा के अपने ज्ञेय मे (अपने को जानने-पने में अन्य जानने वाले (ज्ञायक) को ढूंढने की आवश्यकता नही है, क्योंकि (उसके) स्वयमेव ज्ञान-क्रिया की प्राप्ति है (अर्थात् वह स्वयं ज्ञानमय है)। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्व को भी जानता है।

प्रश्न—आत्मा के द्रव्यों की ज्ञानरूपता (जानपना) और द्रव्यों के आत्मा की ज्ञेय-रूपता (जानपना) किस कारण से है?

उत्तर—वे (ज्ञायक आत्मा और द्रव्य) परिणाम वाले होने से। क्योंकि वास्तव में आत्मा और द्रव्य परिणामों के साथ संबन्धित है, इसलिये आत्मा के, द्रव्य जिसका आलम्बन है ऐसे, ज्ञानरूप से परिणति और द्रव्यों के, ज्ञान को आलम्बन लेकर ज्ञेयाकार रूप से परिणति अबाधित रूप से बनती है।

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मा ज्ञान भवति शेष तु ज्ञेयमित्यावेदयति,—

तम्हा णाणं जीवो यस्मादात्मैवोपादानरूपेण ज्ञानं परिणमति तथैव पदार्थान् परिच्छिनत्ति, इति भणित पूर्वसूत्रे। तस्मादात्मैव ज्ञान **णेयं दव्व** तस्य ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञेय भवति। कि ? द्रव्यम्। **तिहा समक्खादं** तच्च द्रव्य कालत्रयपर्यायपरिणतिरूपेण द्रव्यगुणपर्यायरूपेण वा तथैवोत्पादव्ययध्रौव्य-रूपेण च त्रिधा समाख्यातम्। **दव्वत्ति पुणो आदा परं च** तच्च ज्ञेयभूत द्रव्यमात्मा भवति। पर च। कस्मात्? यतो ज्ञान स्व जानाति पर चेति प्रदीपवत्। तच्च स्वपरद्रव्य कथभूत? **परिणामसंबद्धं** कथचित्परिणामीत्यर्थ। नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य प्रमेयत्वात् घटादिवत् परिहारमाह-प्रदीपेन व्यभिचार, प्रदीपस्तावत्प्रमेय: परिच्छेद्यो ज्ञेयो भवति न च प्रदीपान्तरेण प्रकाश्यते, तथा ज्ञानमपि स्वयमेवात्मान प्रकाशयति न च ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते। यदि पुनर्ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते। तर्हि गगनावलम्बिनी महती दुर्निवारानवस्था प्राप्नोतीति सूत्रार्थ ॥३६॥

एव निश्चयश्रुतकेवलिव्यवहारश्रुतकेवलिकथनमुख्यत्वेन भिन्नज्ञाननिराकणेन ज्ञानज्ञेयस्व-रूपकथनेन च चतुर्थस्थले गाथाचतुष्टय गतम्।

उत्थानिका—आगे बताते है कि आत्मा ज्ञान रूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रगट करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—क्योंकि आत्मा ही अपने उपादान रूप से ज्ञानरूप परिणमन करता है तैसे ही पदार्थों को जानता है ऐसा पूर्व सूत्र मे कहा गया है (तम्हा) इसलिये (जीवः) आत्मा ही (णाणं) ज्ञान है। (णेयं दव्व) उस ज्ञानस्वरूप अतमा का ज्ञेय द्रव्य (तिहा) तीन प्रकार अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान पर्याय मे परिणमन रूप से या द्रव्य गुण पर्याय रूप से या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से ऐसे तीन प्रकार (समक्खादं) कहा गया है। (पुणे) तथा (परिणामसंबद्धः) किसी अपेक्षा परिणमनशील (आदा च पर) आत्मा और पर द्रव्य (दव्वं ति) द्रव्य है तथा क्योंकि ज्ञान दीपक के समान अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है इसलिये आत्मा भी ज्ञेय है।

यहां पर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान से जाना जाता है क्योकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि। अर्थात् ज्ञान स्वयं आपको नही जानता है। इसका समाधान करते है कि ऐसा कहना दीपक के साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है उसके प्रकाश के लिये अन्य की आवश्यकता नहीं है। तैसे ही ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्मा को प्रकाश करता है उसके लिये अन्य ज्ञान के होने की जरूरत नही है। ज्ञान स्वयं स्व-पर-प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है तब वह ज्ञान फिर दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है ऐसा माना जायगा तो अनंत आकाश में फैलने वाली व जिसका दूर करना अति कठिन है, ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायगी सो होना सम्मत नही है। इसलिये ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है, ऐसा सूत्र का अर्थ है।

इस तरह निश्चय श्रुतकेवली, व्यवहार–श्रुतकेवली के कथन की मुख्यता से आत्मा के ज्ञान स्वभाव के सिवाय भिन्न ज्ञान को निराकरण करते हुए तथा ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप कथन करते हुए चौथे स्थल मे चार गाथाएं पूर्ण हुईं ॥३६॥

अथातिवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणां तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्योतयति—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायतासाम्।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥३७॥

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूपसंपद. सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्तः पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरे-

णाप्यवधारितविशेषलक्षणा एकक्षण एवावबोधसौधस्थितिमवतरन्ति । न खल्वेतदयुक्तं-दृष्टाविरोधात् । दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः । किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविद । यथा हि चित्रपटयामति-वाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि । किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकत्वाविरोधात् । यथा हि प्रध्वस्ता-नामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा, वर्तमाना एव भवन्ति ॥३७॥

भूमिका—अब, अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) द्रव्यपर्यायों की भी, तात्-कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भांति, पृथक् रूप से ज्ञान मे वृत्ति को उद्योत करते है (प्रगट करते है) (अतीत और अनागत पर्याये ज्ञान में वर्तमान पर्यायों की तरह देखी जाती है–ऐसा निरूपण करते है)—

अन्वयार्थ—[तासां द्रव्यजातीना] उन प्रसिद्ध जीवादिक द्रव्य जातियो की [ते सर्वे] वे समस्त [सदसद्भूताः पर्याया.] सद्भूत (विद्यमान-वर्तमान) और असद्भूत (अविद्यमान भूत, भविष्यत्) पर्याये [तात्कालिका इव] वर्तमान पर्यायो की भाति [विशेषतः] विशेषता से (अपने-अपने भिन्नस्वरूप सहित) [ज्ञाने] केवलज्ञान मे [वर्तन्ते] वर्तती है प्रतिभासित होती है—स्फुरायमान होती है ।

टीका—वास्तव मे समस्त ही (जीवादिक) द्रव्य-जातियों की पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा तीनों काल की मर्यादा जितनी होने से (वे तीनों कालों में उत्पन्न हुआ करती है इसलिये) क्रम पूर्वक तपती हुई स्वरूप-सम्पदा वाली (एक के बाद दूसरी प्रगट होने वाली), विद्यमानता और अविद्यमानता को प्राप्त जो जितनी पर्याये है, वे सब, अत्यन्त मिश्रित होने पर भी विशेष लक्षण को धारण किये हुए एक समय में ही, वर्तमान कालीन पर्यायों की भांति, ज्ञान-मन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती है ।

यह (तीनों काल की पर्यायों का वर्तमान पर्यायों की भांति ज्ञान में ज्ञात होना) अयुक्त (भी) नही है क्योंकि (१) (उसका) दृष्ट के साथ (जगत् में जो दिखाई देता है–अनुभव मे आता है उसके साथ) अविरोध है । (जगत् मे) दिखाई देता है कि जैसे वर्तमान वस्तु को चिन्तवन करते हुए छद्मस्थ के, ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है उसी प्रकार भूत, भविष्यत् वस्तु का चिन्तवन करते हुए छद्मस्थ के भी, ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है (जानता है)। (२) ज्ञान चित्रपट के समान है ।

जैसे वास्तव में चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार (चित्र) साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते है, इसी प्रकार ज्ञान-भित्ति में भी (ज्ञान भूमिका में भी, ज्ञान-पट में भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण मे ही भासित होते है) (३) सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता (वर्तमानता) अविरुद्ध है। जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही है, इसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार वर्तमान ही है।

तात्पर्यवृत्ति

अथातीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने साम्प्रता इव दृश्यन्त इति निरूपयति,—

सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया सर्वे सद्भूता असद्भूता अपि पर्याया ये हि स्फुट **वट्टंते** ते पूर्वोक्ता पर्याया वर्तन्ते प्रतिभासन्ते प्रतिस्फुरन्ति। क्व ? **णाणे** केवलज्ञाने। कथभूता इव ? **तक्कालिगेव** तात्कालिका इव वर्तमाना इव। कासा सम्बन्धिन ? **तासिं दव्वजादीणं** तासा प्रसिद्धाना शुद्धजीवद्रव्यजातीनामिति। व्यवहित सम्बन्ध. कस्मात् ? **विसेसदो** स्वकीयस्वकीयप्रदेशकालाकारविशेषैः सङ्करव्यतिकरपरिहारेणेत्यर्थः।

किंच—यथा छद्मस्थपुरुषस्यातीतानागतपर्याया मनसि चिन्तयत प्रतिस्फुरन्ति, यथा च चित्रभित्तौ बाहुबलिभरतादिव्यतिक्रान्तरूपाणि श्रेणिकतीर्थकरादिभाविरूपाणि च वर्तमानानीव प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते तथा चित्रभित्तिस्थानीयकेवलज्ञाने भूतभाविनश्च पर्याया युगपत्प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते, नास्ति विरोधः। यथाय केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूत स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति, तथासन्नभव्यजीवेनापि निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयपर्याय एव सर्वतात्पर्येण ज्ञातव्य इति तात्पर्यम् ॥३७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि आत्मा के वर्तमान ज्ञान मे अतीत और अनागत पर्याये वर्तमान के समान दिखती है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**तासिं दव्वजादीणं**) उन प्रसिद्ध शुद्ध जीव द्रव्यों की व अन्य द्रव्यों की (ते) वे पूर्वोक्त (सव्वे) सर्व (सदसब्भूदा) सद्भूत और असद्भूत अर्थात् वर्तमान और भूत तथा भविष्य काल की (पज्जया) पर्याये (हि) निश्चय से या स्पष्ट रूप से (णाणे) केवलज्ञान में (विसेसदो) विशेष करके अर्थात् अपने-अपने प्रदेश, काल, आकार आदि भेदो के साथ संकर व्यतिकर दोष के बिना (तक्कालिगेव) वर्तमान पर्यायों के समान (वट्टंते) वर्तती है, अर्थात् प्रतिभासती है या स्फरायमान होती है।

भाव यह है कि जैसे छद्मस्थ अल्पज्ञानी मति श्रुतज्ञानी पुरुष के भी अंतरंग में मन से विचारते हुए पदार्थो की भूत और भविष्य पर्याये प्रगट होती है अथवा जैसे चित्र-

भर्ती भीत पर बाहुबलि भरत आदि के भूतकाल के रूप तथा श्रेणिक तीर्थंकर आदि भावी-काल के रूप वर्तमान के समान प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं वैसे भीत के चित्र समान केवलज्ञान में भूत और भावी अवस्थाएँ भी एक साथ प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा जैसे यह केवली भगवान् परद्रव्यों की पर्यायों को उनके ज्ञानाकार मात्र से जानते हैं, तन्मय होकर नहीं जानते हैं, परन्तु निश्चय करके केवलज्ञान आदि गुणों का आधार भूत अपनी ही सिद्ध पर्याय को ही स्वसंवेदन या स्वानुभव रूप से तन्मयी हो जानते हैं, वैसे निकट भव्य जीव को भी उचित है कि अन्य द्रव्यों का ज्ञान रखते हुए भी अपने शुद्ध आत्म-द्रव्य की सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र रूप निश्चयरत्नत्रयमयी अवस्था को ही सर्व तरह से तन्मय होकर जाने तथा अनुभव करे, यह तात्पर्य है।

भावार्थ—श्री सर्वज्ञदेव भूतकाल के निश्चित प्रमाण को और सर्व पर्यायों को जानते हैं। इससे भूतकाल का या भूत पर्यायों की आदि नहीं हो जाती, क्योंकि भूतकाल के निश्चित प्रमाण के साथ ज्ञान हो जाने से भूतकाल का आदि अथवा भूत पर्यायों का आदि नहीं हो जाता। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने से आदि मान लिया जावे तो असत् द्रव्य के उत्पाद का अथवा ईश्वर-कर्तृत्व का प्रसंग आ जायगा। इसी प्रकार भविष्य पर्याय केवली द्वारा ज्ञात हो जाने से सब पर्यायें सर्वथा नियत या क्रमबद्ध नहीं हो जातीं क्योंकि सर्व पर्यायों को सर्वथा नियत मान लेने पर मोक्षमार्ग के उपदेश के अभाव का प्रसंग आ जायगा। दृष्टिवाद अङ्ग में सर्वज्ञ के द्वारा नियतिवाद एकान्त-मिथ्यात्व कहा गया है, उससे विरोध आ जायेगा। नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप श्री पंचसंग्रह में निम्न प्रकार कहा है—

यदा यदा यत्र यतोऽस्ति येन यत् तदा तदा तत्र ततोऽस्ति तेन तत्।
स्फुटं नियत्येह नियन्त्र्यमाणं परो न शक्तः किमपीह कर्तुम् ॥३१०॥

अर्थ—जिसका जहाँ जब जिस प्रकार जिससे जिसके द्वारा जो होना होता है तब वहाँ तिसका तिस प्रकार उससे उसके द्वारा वह होना नियत है। अन्य कोई कुछ नहीं कर सकता। ऐसा मानना एकान्त नियतिवाद मिथ्यात्व है।

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु॥ [गो० क०]

अर्थ—जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होना है वह उस समय उससे वैसे उसके ही होना है। ऐसा सब वस्तु मानना नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व है।

सर्व पर्यायो को सर्वथा नियत (क्रमबद्ध) मानने से सयम के अभाव का भी प्रसंग आता है। भोगभूमिया मनुष्यों में क्षायिकसम्यग्दृष्टि भी है, वज्रवृषभनाराच संहनन वाले भी हैं और शुभलेश्या वाले है फिर भी वे संयम धारण नही कर सकते, क्योंकि उनकी आहार पर्याय नियत है। यदि इसी प्रकार कर्मभूमिया आर्य मनुष्यों के भी आहार पर्याय नियत होती तो वे भी संयम धारण न कर सकते और संयम के अभाव से मोक्ष भी न होती। कर्म-भूमिया मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर है कि वे दिन मे कई बार भोजन करे, रात को भी भोजन करे, अथवा एक-दो दिन या पक्ष मासोपवास करे। सप्त व्यसन को सेवन करे या उसका त्याग करे। यह सब कर्म-भूमिया मनुष्यो की इच्छा के अधीन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सर्व पर्याये सर्वथा नियत नही है। इसलिए सर्वज्ञदेव ने नियतिवाद को मिथ्यात्व कहा है।

जो पर्याय जैसी है उसको उसी रूप से सर्वज्ञ जानता है। अनादि (जिसके काल की आदि नही है) उसको अनादि रूप से, अनन्त (जिसके क्षेत्र, संख्या या काल का अन्त नही है) उसको अनन्त रूप से और अनियत (जिसका काल नियत नही) उसको अनियत रूप से जानता है, इससे सर्वज्ञ की कुछ हानि नही होती है। अन्यथा जानने मे सर्वज्ञ व सम्यग्ज्ञान की हानि होती है।

अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति—

जे णेव हि संजादा[1] जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा[2] पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

ये नैव हि सजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः।
ते भवन्ति असद्भूताः पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षाः ॥३८॥

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनु भवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्ण भूतभाविदेववदप्रकम्पार्पितस्वरूपाः सद्भूता एव भवन्ति ॥३८॥

भूमिका—अब, अविद्यमान (भूत भविष्यत्) पर्यायों की भी कथचित् (कोई प्रकार से, कोई अपेक्षा से) विद्यमान को बतलाते है—

अन्वयार्थ—[ये पर्याया] जो पर्याये [हि] वास्तव मे [नैव सजाता] उत्पन्न नही हुई है (भविष्य) तथा [ये पर्याया] जो पर्याये [खलु] वास्तव मे [भूत्वा नष्टा]

---

१ सजाया (ज० वृ०)। २ असब्भूया (ज० वृ०)।

अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढ़यति—

जदि[1] पच्चक्खमजादं[2] पज्जायं पलयिदं[3] च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति ॥३९॥

यदि प्रत्यक्षोऽजात. पर्याय· प्रलयितश्च ज्ञानस्य ।
न भवति वा तत् ज्ञान दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥३९॥

यदि खल्वसंभावितभावं संभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डित-प्रतापप्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात् । अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम् ॥३९॥

भूमिका—**अब, अविद्यमान (भूत, भविष्यत्) पर्यायों के इस ही (वर्तमान) ज्ञान प्रत्यक्षपने को दृढ़ करते है—**

अन्वयार्थ—[यदि] जो [अजात पर्याय.] अनुत्पन्न (भावी) पर्याय [च] तथा [प्रलयित] नष्ट (भूत) पर्याय [ज्ञानस्य] केवलज्ञान के [प्रत्यक्षः न भवति] प्रत्यक्ष न हो तो [तत् ज्ञानं] वह ज्ञान [दिव्य] दिव्य है [इति] ऐसा [के प्ररूपयन्ति] कौन प्ररूपेगे (अर्थात् कोई नही कहेगे) ।

टीका—**जिसने अस्तित्व का अनुभव नहीं किया, और जो अस्तित्व का अनुभव कर चुकी है, तथा जिसने स्वरूप सर्वस्व को युगपत् समर्पित कर दिया है, ऐसे (अनुत्पन्न और नष्ट) पर्याय-समूह को, यदि वास्तव मे ज्ञान, निर्विघ्न विकसित अखण्डित प्रतापयुक्त शक्ति के द्वारा बलात् ही अत्यन्त आक्रान्त करके (प्राप्त करके), अपने नियत न करे (प्रत्यक्ष न जाने), तो उस ज्ञान की कौन सी दिव्यता होवे (अर्थात् कोई दिव्यता न होवे)। इससे (यह कहा गया है कि) पराकाष्ठा को प्राप्त ज्ञान के लिये यह सब योग्य (ही) है॥३९॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथासद्भूतपर्यायाणा वर्तमानज्ञानप्रत्यक्षत्व दृढयति,—

जइ पच्चक्खमजाय पज्जायं पलइयं च णाणस्स ण हवदि वा यदि प्रत्यक्षो न भवति । स क ? अजातपर्यायो भाविपर्याय । न केवल भाविपर्यायः प्रलयितश्च वा । कस्य ? ज्ञानस्य **त णाण दिव्वं त्ति हि के परूवेंति** तद्ज्ञान दिव्यमिति के प्ररूपयन्ति ? न केपीति । तथाहि—यदि वर्तमानपर्यायवदतीता-नागतपर्याय ज्ञान कर्तृ क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन साक्षात्प्रत्यक्ष न करोति, तर्हि तत् ज्ञान दिव्य न भवति । वस्तुतस्तु ज्ञानमेव न भवतीति । यथाय केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रण जानाति तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्ति करोति, तथा निर्मलविवेकीजनोपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञान करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञान करोतीति सूत्रतात्पर्यम् ॥३९॥

---

१ जइ (ज० वृ०) । २ पच्चक्खमजाय (ज० वृ०) । ३ पलइय (ज० वृ०) ।

उत्थानिका—आगे इसी बात को दृढ करते है कि असद्भूत पर्याये ज्ञान मे प्रत्यक्ष है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (अजादं) अनुत्पन्न–जो अभी पैदा नहीं हुई है ऐसी भावी (च पलइय) तथा जो चली गई ऐसी भूत (पज्जायं) पर्याय (णाणस्स) केवलज्ञान के (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष (ण हवदि) न हो (वा) तो (तं णाणं) उस ज्ञान को (दिव्वंत्ति) दिव्य अर्थात् अलौकिक अतिशय रूप (हि) निश्चय से (के) कौन (परूविंति) कहे ? अर्थात् कोई भी न कहे । भाव यह है कि यदि वर्तमान पर्याय की तरह भूत और भावी पर्याय को केवलज्ञान क्रमरूप इन्द्रियज्ञान के विधान से रहित हो साक्षात् प्रत्यक्ष न करे तो वह ज्ञान दिव्य न होवे । वस्तु स्वरूप की अपेक्षा विचार करे तो वह शुद्ध ज्ञान भी न होवे । जैसे यह केवली भगवान् पर द्रव्य व उसकी पर्यायो को यद्यपि ज्ञानमात्रपने से जानते है तथापि निश्चय करके सहज ही आनदमयी एक स्वभाव के धारी अपने शुद्ध तन्मयी पने से ज्ञान क्रिया करते है तैसे निर्मल विवेकी मनुष्य भी यद्यपि व्यवहार से परद्रव्य व उसके गुण पर्याय का ज्ञान करते है तथापि निश्चय से विकार रहित स्वसंवेदन पर्याय मे अपना विषय रखने से उसी पर्याय का ही ज्ञान या अनुभव करते हैं यह सूत्र का तात्पर्य है ॥३९॥

अथेन्द्रियज्ञानस्यैव प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति—

[1]अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥४०॥

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वैर्यः विजानन्ति ।
तेषा परोक्षभूत ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ॥४०॥

ये खलु विषयविषयिसन्निपातलक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादिकप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वकालमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं वा यथोदितलक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंबन्धस्यासंभवत परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति ॥४०॥

भूमिका—अब, इन्द्रियज्ञान के द्वारा नष्ट और अनुत्पन्न को जानना अशक्य है, ऐसा न्याय से निश्चित करते है ।

अन्वयार्थ—[अक्षनिपतित] इन्द्रिय गोचर [अर्थ] पदार्थ को [ईहा-पूर्वै] ईहा-पूर्वक [ये] [विजानन्ति] जानते है [तेषा] उनके [परोक्षभूत] परोक्षभूत पदार्थ को [ज्ञातु] जानना [अशक्य] अशक्य है [इति प्रज्ञप्त] ऐसा कहा गया है ।

---

१ अट्ठं (ज० वृ० ४१)

टीका—जो वास्तव मे, विषय और विषयी का सन्निपात (सम्बन्ध होना) जिसका लक्षण है, ऐसे इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष को प्राप्त करके क्रम से उत्पन्न होने वाले ईहा आदि के क्रम से जानते है, वे वास्तव मे, जिसका स्व-अस्तित्व काल बीत चुका है उस (भूत पदार्थ) को तथा जिसका स्व अस्तिव काल उपस्थित नहीं हुआ है उस (भविष्यत् पदार्थ) को, यथोक्त (उपरोक्त) लक्षण वाले ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध के असम्भवता के कारण जानने के लिये समर्थ नही है ॥४०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथातीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थानिन्द्रियज्ञान न जानातीति विचारयति,—

अट्ठं घटपटादिज्ञेयपदार्थ कथभूत ? **अक्खणिवदिदं** अक्षनिपतित इन्द्रियप्राप्त इन्द्रियसवद्ध **ईहापुव्वेहिं जे विजाणति** ईहापूर्वक ये विजानन्ति । अवग्रहेहावायादिक्रमेण ये पुरुषा विजानन्ति हि स्फुट **तेंसि परोक्खभूदं** तेषा सम्बन्धि ज्ञान परोक्षभूत सत् **णादुमसक्कत्ति पण्णत** सूक्ष्मादिपदार्थान् ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्त कथितम् ।

कै ? ज्ञानिभिरिति । तद्यथा—चक्षुरादीन्द्रिय घटपटादिपदार्थपार्श्वे गत्वा पश्चादर्थं जानातीति सन्निकर्षलक्षण नैयायिकमते । अथवा सक्षेपेणेन्द्रियार्थयो सम्बन्ध. सन्निकर्ष स एव प्रमाणम् । स च सन्निकर्ष आकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशान्तरितमेवादिपदार्थेषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरितभूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्तिपुद्गलपरमाण्वादिषु च न प्रवर्तते । कस्मादितिचेत् इन्द्रियाणा स्थूलविषयत्वात्, तथैव मूर्तविषयत्वाच्च । तत कारणादिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवति । तत एव चातीन्द्रियज्ञानोत्पत्तिकारण रागादिविकल्परहित स्वसवेदनज्ञान विहाय पञ्चेन्द्रियसुखसाधनीभूत इन्द्रियज्ञाने नानामनोरथविकल्पजालरूपे मानसज्ञाने च ये रति कुर्वन्ति ते सर्वज्ञपद न लभन्ते इति सूत्राभिप्राय. ॥४०॥

उत्थानिका—आगे यह विचार करते है कि इन्द्रियो के द्वारा जो ज्ञान होता है वह भूत और भावी पर्यायो को तथा सूक्ष्म, दूरवर्ती आदि पदार्थो को नही जानता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जे) जो कोई छद्मस्थ (अक्खणिवदिद) इन्द्रिय गोचर (इन्द्रिय संबद्ध)(अट्टं) पदार्थ को (ईहापुव्वेहिं) ईहापूर्वक (विजाणंति) जानते है (तेंसि) उनका (परोक्खभूदं) परोक्ष भूतज्ञान (णादुं) जानने के लिये अर्थात् सूक्ष्म आदि पदार्थो को जानने के लिये (असक्कंति) अशक्य है ऐसा (पण्णत्त) कहा गया है । ज्ञानियों के द्वारा अथवा उनके ज्ञान से जो परोक्षभूत द्रव्य है वह उनके द्वारा जाना नही जा सकता । प्रयोजन यह है कि नैयायिकों के मत में चक्षु आदि इन्द्रिय घट-पट आदि पदार्थों के पास जाकर फिर पदार्थ को जानती है अथवा संक्षेप से इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध सन्निकर्ष है वह ही प्रमाण है । ऐसा सन्निकर्ष ज्ञान आकाश आदि अमूर्तिक पदार्थो मे, काल से दूर राम रावणादि मे, स्वभाव से दूर भूत-प्रेत आदिको मे तथा अतिसूक्ष्म पर के मन के विचार मे व पुद्गल**

परमाणु आदिकों में नही प्रवर्तन कर सकता, क्योंकि इन्द्रियों का विषय स्थूल है तथा मूर्तिक पदार्थ है। इस कारण से इन्द्रियज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ नही हो सकता। इसीलिये ही अतीन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति का कारण जो रागद्वेषादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान है उसको छोड़कर पंचेन्द्रियों के सुख के कारण इन्द्रियज्ञान में तथा नाना मनोरथ के विकल्पजालस्वरूप मन सम्बन्धी ज्ञान में जो प्रीति करते है वे सर्वज्ञ पद को नही पाते है, ऐसा सूत्र का अभिप्राय है ॥४०॥

अथातीन्द्रियज्ञानस्य तु यद्यदुच्यते तत्तत्संभवतीति संभावयति—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं[1] भणियं ॥४१॥

अप्रदेश सप्रदेश मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम्।
प्रलय गत च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रिय भणितम् ॥४१॥

इन्द्रियज्ञानं नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अन्तरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते। प्रवर्तमानं च सप्रदेशमेवाध्यवस्यति स्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम्। मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्तम्। वर्तमानमेव परिच्छिनत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावान्न तु वृत्तं वर्त्स्यच्च। यत्तु पुनरनावरणमनिन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गित दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥४१॥

भूमिका—अब, अतीन्द्रिय ज्ञान के लिये तो जो जो कहा जाता है वह सब सम्भव है इसको स्पष्ट करते है—

अन्वयार्थ—जो [अप्रदेश] अप्रदेशी को (कालाणु को), [सप्रदेश] बहुप्रदेशी को (पचास्तिकायो को) [मूर्त] मूर्तिक को (पुद्गल द्रव्य को) [च] और [अमूर्तं] अमूर्तिक को (शेष पाँच द्रव्यो को) तथा [अजात] अनुत्पन्न (भावी) [च] और [प्रलय गत] नष्ट (अतीत) [पर्याय] पर्याय को [जानाति] जानता है, [तत् ज्ञान] वह ज्ञान [अतीन्द्रिय] अतीन्द्रिय [भणित] कहा गया है।

टीका—इन्द्रिय-ज्ञान, उपदेश-अन्तःकरण और इन्द्रिय आदि को विरूप कारणपने से (बहिरंगपने से) और उपलब्धि (क्षयोपशम) संस्कार आदि को अन्तरंगस्वरूप कारण

---

१ णाणमणिदिय (ज० वृ०)।

पने से ग्रहण करके प्रवर्तता है। (इस प्रकार) प्रवर्तता हुआ (वह ज्ञान) (१) सप्रदेशी को ही जानता है क्योकि वह स्थूल को जानने वाला है, अप्रदेशी को नही जानता, (क्योंकि वह सूक्ष्म को जानने वाला नही है। (२) मूर्तिक को ही जानता है क्योकि वैसे उसका (मूर्तिक) विषय के साथ सम्बन्ध का सद्भाव है, अमूर्तिक को नही जानता, (क्योकि अमूर्तिक विषय के साथ सम्बन्ध का अभाव है, (३) वर्तमान को ही जानता, क्योकि वहाँ ही विषय-विषयी के सन्निपात का सद्भाव है। भूत में प्रवर्तित हो चुकने वाले को और भविष्य मे प्रवृत्त होने वाले को नही जानता, (क्योकि भूत-भविष्य के साथ विषय-विषयी के सन्निकर्ष का अभाव है)।

जो अनावरण अनिन्द्रियज्ञान है उसके, जैसे प्रज्वलित अग्नि के अनेक प्रकारता को धारण करने वाला दाह्य (ईन्धन), दाह्यता का उल्लंघन न करने के कारण दाह्य ही है, वैसे (ही) अप्रदेशी, सप्रदेशी, मूर्तिक, अमूर्तिक तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्याय समूह, अपनी ज्ञेयता का उल्लंघन न करने से, ज्ञेय ही है ॥४१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथातीन्द्रियज्ञानमतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थान् जानातीत्युपदिशति,—

अपदेस अप्रदेश कालाणुपरमाण्वादि **सपदेस** शुद्धजीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायस्वरूप **मुत्त** मूर्तं पुद्गलद्रव्य **अमुत्त च** अमूर्त च शुद्धजीवद्रव्यादि **पज्जयमजादं पलय गय च** पर्यायमजात भाविन प्रलय गत चातीतमेतत्सर्व पूर्वोक्त ज्ञेय वस्तु **जाणदि** जानाति यद्ज्ञान कर्तृ **णाणमणिदिय भणिय** तद्ज्ञानमतीन्द्रिय भणित तेनैव सर्वज्ञो भवति। तत एव च पूर्वगाथोदितमिन्द्रियज्ञान मानसज्ञान च त्यक्त्वा ये निर्विकल्पसमाधिरूपस्वसवेदनज्ञाने समस्तविभावपरिणामत्यागेन रति कुर्वन्ति त एव परमाह्लादैकलक्षणसुखस्वभाव सर्वज्ञपद लभन्ते इत्यभिप्राय: ॥४१॥

एवमतीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने प्रत्यक्षा न भवन्तीतीति बौद्धमतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रय, तदनन्तरमिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवत्यतीन्द्रियज्ञानेन भवतीति नैयायिकमतानुसारिशिष्य-संबोधनार्थं च गाथाद्वयमिति समुदायेन पञ्चमस्थले गाथापञ्चक गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि अतीन्द्रिय रूप केवलज्ञान ही भूत-भविष्य को व सूक्ष्म आदि पदार्थो को जानता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**जो ज्ञान (अपदेसं) बहु प्रदेश-रहित कालाणु व परमाणु आदि को (सपदेस) बहु-प्रदेशी शुद्ध जीव को आदि ले पाँच अस्तिकायों के स्वरूप को (मुत्तं) मूर्तिक पुद्गल द्रव्य को (च अमुत्तं) और अमूर्तिक शुद्ध जीव आदि पांच द्रव्यों को (आजादं) अभी नही उत्पन्न हुई होने वाली (च पलयं गयं) और छूट जाने वाली भूतकाल**

की (पज्जयं) द्रव्यों की पर्यायों को इस सब ज्ञेय का (जाणदि) जानता है (तं णाणं) वह ज्ञान (अदिदियं) अतीन्द्रिय (भणियं) कहा गया है।

इस ही से सर्वज्ञ होता है। इस कारण से पूर्व गाथा से कहे हुए इन्द्रियज्ञान तथा मानस को छोड़कर जो कोई विकल्प रहित समाधिमयी स्वसवेदन ज्ञान में सब विभाव परिणामों को त्याग करके प्रीति व लयता करते है वे ही परम आनन्द हैं एक लक्षण जिसका ऐसे सुख स्वभावमयी सर्वज्ञपद को प्राप्त करते है, यह अभिप्राय है ॥४१॥

इस प्रकार अतीत व अनागत पर्याये वर्तमान ज्ञान में प्रत्यक्ष नही होती है ऐसे बौद्धों के मत को निराकरण करते हूए तीन गाथाएं कहीं, उसके पीछे इन्द्रियज्ञान से सर्वज्ञ नही होता है किन्तु अतीन्द्रियज्ञान से होता है ऐसा कहकर नैयायिक मत के अनुसार 'चलने वाले शिष्य को समझाने के लिये गाथा दो, ऐसे समुदाय के पाँचवे स्थल में पाँच गाथाएं पूर्ण हुई।

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवतीति श्रद्दधाति—

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं[1] तस्स।
णाणं त्ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

परिणमति ज्ञेयमार्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिक तस्य।
ज्ञानमिति, त जिनेन्द्रा क्षपयन्त कर्मैवोक्तवन्त. ॥४२॥

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षयप्रवृत्तस्वाभाविकपरिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य। यत. प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभावसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रैरुद्गीतः ॥४२॥

भूमिका—अब, ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमन जिसका लक्षण है, ऐसी (ज्ञेयार्थ परिणमनस्वरूप) क्रिया (क्षायिक) ज्ञान से (उत्पन्न) नहीं होती है, यह श्रद्धा व्यक्त करते है—

अन्वयार्थ—[ज्ञाता] जानने वाला आत्मा [यदि] जो [ज्ञेय अर्थं] ज्ञेय पदार्थ रूप [परिणमति] परिणत होता है (राग-द्वेष सहित, सविकल्प रूप, क्रम-पूर्वक जानता है) तो [तस्य] उस आत्मा के [क्षायिक] क्षायिकज्ञान [न एव] नही है [अथवा ज्ञान न एव इति] अथवा ज्ञान ही नही है क्योकि [जिनेन्द्रा] जिनेन्द्र देव [त] उस पुरुष को [कर्म एव] कर्म को ही [क्षपयन्त] अनुभव करने वाला [उक्तवन्त] कहते भये। अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने कहा।

१ खाइय (ज० वृ०)।

टीका—**जो ज्ञाता वास्तव में ज्ञेय पदार्थ रूप परिणत होता है (राग-द्वेष सहित, सविकल्प रूप, क्रम-पूर्वक जानता है) तो उसके सफल कर्म वन के क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपने के कारण (क्षायिक ज्ञान) नही है अथवा उसके ज्ञान ही नही है, क्योकि प्रत्येक पदार्थ रूप से परिणति के द्वारा, मृगतृष्णा मे जलसमूह की कल्पना करने की भावना वाला वह (आत्मा) अत्यन्त दुःसह कर्म-भार को ही भोगने वाला है, ऐसा जिनेन्द्रों के द्वारा कहा गया है ॥४२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ रागद्वेषमोहा बन्धकारण, न च ज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्त व्याख्यान करोति । तद्यथा—यस्येष्टानिष्टविकल्परूपेण कर्मबन्धकारणभूतेन ज्ञेयविषये परिणमनमस्ति तस्य क्षायिकज्ञान नास्तीत्यावेदयति ।

—परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि नीलमिद पीतमिदमित्यादिविकल्परूपेण यदि ज्ञयार्थ परिणमति ज्ञातात्मा **णेव खाइयं तस्स णाणत्ति** तस्यात्मन. क्षायिकज्ञान नैवास्ति । अथवा ज्ञानमेव नास्ति । कस्मान्नास्ति ? **त जिणिदा खवयत कम्ममेवुत्ता** त पुरुष कर्मतापन्न जिनेन्द्राः कर्तारः उक्तवन्त· । कि कुर्वन्त ? क्षपयन्तमनुभवन्त । किमेव ? कर्मैव निर्विकारसहजानन्दैकसुखस्वभावानुभवनशून्य. सन्नुदयागत स्वकीयकर्मैव स अनुभवन्नास्ते न च ज्ञानमित्यर्थ ।

अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—यदि ज्ञाता प्रत्यर्थ परिणम्य पश्चादर्थ जानाति तदा अर्थाना मानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञान नास्ति ।

अथवा तृतीयव्याख्यानम्—बहिरङ्गज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थाया चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहित स्वसवेदनज्ञान नास्ति, तदभावे क्षायिकज्ञानमेव नोत्पद्यते इत्याभिप्राय ॥४२॥

उत्थानिका—आगे पॉच गाथाओ तक यह व्याख्यान करते है कि कि राग, द्वेष, मोह, बन्ध के कारण है, ज्ञान बध का कारण नही है । प्रथम ही कहते है कि जिससे ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ मे कर्मबध का कारण रूप इष्ट तथा अनिष्ट विकल्प रूप से परिणमन है अर्थात् जो पदार्थो को इष्ट तथा अनिष्ट रूप से जानता है उनके क्षायिक अर्थात् केवलज्ञान नही होता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (णादा) ज्ञाता आत्मा (णेयं अट्ठं) जानने योग्य पदार्थरूप (परिणमति) परिणमन करता है अर्थात् यह नील है, वह पीत है इत्यादि विकल्प उठाता है तो (तस्स) उस ज्ञानी आत्मा के (खाइयं णाणत्ति णेव) क्षायिकज्ञान नही ही है अथवा स्वाभिमान ज्ञान ही नहीं है । क्यो नही है इसका कारण कहते है कि (जिणिदा) जिनेन्द्रों ने (तं) उस सविकल्प जानने वाले को (कम्मं खवयंतं एव) कर्म का अनुभव करने वाला ही (उत्ता) कहा है । अर्थ यह है कि वह आत्मा विकार रहित स्वाभाविक आनन्दमयी एक सुख स्वभाव के अनुभव से शून्य होता हुआ उदय में आये हुए**

अपने कर्म को ही अनुभव कर रहा है। ज्ञान को अनुभव नहीं कर रहा है। अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि यदि ज्ञाता प्रत्येक पदार्थ रूप परिणमन करके पीछे पदार्थ को जानता है तब पदार्थ अनन्त है इससे सर्व पदार्थ का ज्ञान नही हो सकता। अथवा तीसरा व्याख्यान यह है कि जब छद्मस्थ अवस्था में यह बाहर के ज्ञेय पदार्थों का चिंतवन करता है तब रागद्वेषादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान इसके नही है। स्वसवेदन ज्ञान के अभाव में क्षायिकज्ञान भी नही पैदा होता है ऐसा अभिप्राय है ॥४२॥

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति—

उदयगदा[1] कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥४३॥

उदयगता: कर्मांशा. जिनवरवृषभै· नियत्या भणिता ।
तेषु विमूढो रक्तो दुष्टो वा बन्धमनुभवति ॥४३॥

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्गलकर्मांशाः सन्त्येव। अथ स सत्सु तेषु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते। ततश्च (तत एव) क्रियाफलभूत बन्धमनुभवति। अतो मोहोदयात् क्रियाक्रियाफले, न तु ज्ञानात् ॥४३॥

भूमिका—(यदि ऐसा है) तो फिर ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमन जिसका लक्षण है, ऐसी (सविकल्परूप, राग-द्वेष सहित) क्रिया और उसका फल कहाँ से (किस कारण से) उत्पन्न होता है, यह विवेचन करते है—

अन्वयार्थ—[उदयगता: कर्मांशा.] (ससारी जीव के) उदय प्राप्त कर्म-अश (मोहनीय पुद्गल कर्म की प्रकृति) [नियत्या] नियम से [जिनवरवृषभैः] जिनवर वृषभै. (तीर्थंकरो) के द्वारा [भणिता.] कहे गये है। (जीव) [तेषु] उन कर्मांशो के उदय होने पर [विमूढ. रक्तः दुष्ट. वा] मोही, रागी और द्वेषी होता हुआ [वन्ध अनुभवति] वन्ध को अनुभव करता है।

टीका—प्रथम तो, संसारी जीव के नियम से उदयगत पुद्गलकर्मांश होते ही है। वह संसारी जीव उन सत् रूप कर्मांशों (के उदय) में चेतता (अनुभव करता) हुआ, मोह-राग-द्वेष रूप परिणत होने से, ज्ञेय पदार्थो में परिणमन जिसका लक्षण है, ऐसी (विकल्पात्मक, क्रिया के साथ युक्त होता है। इसीलिये क्रिया के फलभूत वन्ध को अनुभव करता है। इससे (यह कहा है कि) मोह के उदय से ही क्रिया और क्रियाफल होते है, ज्ञान से नही ॥४३॥

---

१ उदयगया (ज० वृ०)।

तात्पर्यवृत्ति

अथानन्तपदार्थं परिच्छित्तिपरिणमनेऽपि ज्ञान बन्धकारण न भवति, न च रागादिरहितकर्मोदयोपीति निश्चिनोति,—

उदयगया कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया उदयगता उदयं प्राप्ताः कर्मांशा ज्ञानावरणादिमूलोत्तरकर्मप्रकृतिभेदा जिनवरवृषभैर्नियत्या स्वभावेन भणिताः, किन्तु स्वकीयशुभाशुभाफल दत्त्वा गच्छन्ति, न च रागादिपरिणामरहिता सन्तो बन्ध कुर्वन्ति। तर्हि कथ बन्ध करोति जीव इति चेत् ? **तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुभवदि** तेषु उदयागतेषु सत्सु कर्मांशेषु मोहरागद्वेषविलक्षणनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारहित सन् यो विशेषेण मूढो रक्तो दुष्टो वा भवति स. केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणमोक्षाद्विलक्षण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्न बन्धमनुभवति। तत स्थितमेतत् ज्ञान बन्धकारण न भवति कर्मोदयोऽपि, किन्तु रागादयो बन्धकारणमिति ।।४३।।

उत्थानिका—आगे निश्चय करते है कि अनन्त पदार्थो को जानते हुए भी ज्ञान बन्ध का कारण नही है, और न रागादि रहित कर्मो का उदय ही बन्ध कारण है। अर्थात् नवीन कर्मो का बन्ध न ज्ञान से होता है न पिछले कर्मो के उदय से होता है किन्तु राग-द्वेष-मोह से बन्ध होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(उदयगया) उदय में प्राप्त (कम्मंसा) कर्मांश अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि मूल तथा उत्तर प्रकृति के भेद रूप कर्म्म (जिणवरवसहेहिं) जिनेन्द्र वीतराग भगवानों के द्वारा (णियदिणा) नियतपने रूप अर्थात् स्वभाव से काम करने वाले (भणिया) कहे गये है। अर्थात् जो कर्म उदय में आते है वे अपने शुभ फल को देकर चले जाते है वे नये बंध को नही करते यदि आत्मा मे रागादि परिणाम न हों तो फिर किस तरह जीव बंध को प्राप्त होता है। इसका समाधान करते है। कि (तेसु) उन उदय मे आए हुए कर्मो मे (हि) निश्चय से (विमूढ़ो) मोहित होता हुआ (रत्तो) रागी होता (वा दुट्ठो) अथवा द्वेषी होता हुआ (बंधं) बंध को, (अणुभवदि) अनुभव करता है। जब कर्मो का उदय होता है तब तो जीव मोह-राग-द्वेष से विलक्षण निज शुद्ध आत्मतत्व की भावना से रहित होता हुआ विशेष करके मोही, रागी या द्वेषी होता है सो केवलज्ञान आदि अनंत गुणो मे प्रगटता जहाँ हो जाती है ऐसे मोक्ष से विलक्षण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार अधिक भोगता है अर्थात् उसके नए कर्म्म बन्ध जाते है। इससे यह ठहरा कि न ज्ञान बन्ध का कारण है न कर्मो का उदय बध का कारण है किन्तु रागादि भाव ही बंध के कारण हैं ।।४३।।**

अथ केवलिनां क्रियापि क्रियाफलं न साधयतीत्यनुशास्ति—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो[1] तेसिं ।
अरहंताणं कालेमायाचारोव्व[2] इत्थीणं ॥४४॥

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम् ।
अर्हता काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥४४॥

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथाहि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते। अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात् । यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्ष च पुरुषप्रयत्नमान्तरेणापि दृश्यन्ते तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते, अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति ॥४४॥

भूमिका—अब, केवली भगवान् के क्रिया भी क्रियाफल (बन्ध) उत्पन्न नही करती, ऐसा उपदेश देते है—

अन्वयार्थ—[तेषा अर्हता] उन अरहन्त भगवन्तो के [काले] उस समय मे (यथा समय) [स्थाननिषद्याविहाराः] खड़े होना, बैठना, विहार करना [च] और [धर्मोपदेश] धर्मोपदेश [नियतयः] स्वाभाविक ही (इच्छा या प्रयत्न बिना ही) होता है । [स्त्रीणा मायाचारः इव] स्त्रियो के मायाचार की भाति ।

टीका—जैसे स्त्रियों के, प्रयत्न के बिना भी, उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से, स्वभाव से ही माया के ढक्कन से ढका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है, उसी प्रकार केवलियों के, प्रयत्न के बिना भी उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से, खड़े रहना, बैठना, विहार करना और धर्म-देशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते है । और यह (प्रयत्न के बिना विहार आदि का होना) बादल के दृष्टान्त से अविरुद्ध है । जैसे बादल के आकार रूप परिणत पुद्गलों का गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुष प्रयत्न के बिना भी देखी जाती है, उसी प्रकार केवलियों के खड़े रहना इत्यादि अबुद्धिपूर्वक ही (इच्छा के बिना ही) देखे जाते है । इसलिये यह स्थानादिक विशेष क्रिया भी (खड़े रहना, बैठना इत्यादि का व्यापार) मोहोदय पूर्वक न होने से, केवलियों के क्रिया के फलभूत-बंध की साधन नही होती ॥४४॥

---

१ णियदओ (ज० वृ०) । २ मायाचारो व (ज० वृ०) ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ केवलिना रागाद्यभावाद्धर्मोपदेशादयोपि बन्धकारण न भवन्तीति कथयति—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य स्थानमूर्ध्वंस्थितिर्निपद्या चासन श्री विहारो धर्मोपदेशश्च **णियदओ** एते व्यापारा नियतय· स्वभावा अनीहिता. केषा ? **तेसिं अरहताणं** तेषामर्हता निर्दोषिपरमात्मना। क्व ? **काले** अर्हदवस्थाया। क इव ? **मायाचारो व इत्थीणं** मायाचार इव स्त्रीणामिति। तथाहि—यथा स्त्रीणा स्त्रीवेदोदयसद्भावात्प्रयत्नाभावेऽपि मायाचार प्रवर्तते, तथा भगवता शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतमोहोदयकार्येहापूर्वप्रयत्नाभावेपि श्रीविहारादय प्रवर्तन्ते। मेघानां स्थानगमनगर्जनजलवर्षणादिवद्वा। तत. स्थितमेतत् मोहाद्यभावात् क्रियाविशेषा अपि बन्धकारण न भवन्तीति ॥४४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि केवली अरहत भगवानो के तेरहवे सयोग केवली गुणस्थान मे रागद्वेष आदि विभावो का अभाव है। इसलिये धर्मोपदेश विहार आदि भी बध का कारण नही होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तेसिं अरहंताणं) उन केवलज्ञान के धारी निर्दोष जीवन्मुक्त सशरीर अरहंत परमात्माओ के (काले) अर्हंत अवस्था में (ठाणणिसेज्जविहारा) ऊपर उठना अर्थात् खड़े होना, बैठना, विहार करना (धम्मुवदेसो य) और धर्मोपदेश इतने व्यापार (णियदयः) स्वभाव से होते है। इन कार्यो के करने में केवली भगवान् की इच्छा नही प्रेरक होती है, मात्र पुद्गल कर्म का उदय प्रेरक होता है (इच्छीणं) स्त्रियों के भीतर (मायाचारोव) जैसे स्वभाव से कर्म के उदय के असर से मायाचार होता है।**

भाव यह है कि जैसे स्त्रियो के स्त्रीवेद के उदय के कारण से प्रयत्न के बिना भी मायाचार रहता है तैसे भगवान् अर्हतों के शुद्ध आत्मतत्व के विरोधी मोह के उदय से होने वाली इच्छापूर्वक उद्योग के बिना भी समवशरण मे बैठना, विहार आदिक होते है अथवा जैसे मेघों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, ठहरना, गर्जना, जल का वर्षना आदि स्वभाव से होता है, तैसे जानना। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोह-राग-द्वेष के अभाव होते हुए विशेष क्रियाये भी बन्ध की कारण नही होती है ॥४४॥

अथैव सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा[1] तम्हा सा खाइग[2] त्ति मदा ॥४५॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषा क्रिया पुर्नहि औदयिकी।
मोहादिभि विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥४५॥

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति। क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मभूतितया किलौदयिक्येव। अथैवंभूतापि सा

१ विरहिया २ खाइयत्ति।

समस्तमहामोहमूर्द्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव । कथं हि नाम नानुमन्येत ? अथानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय ॥४५॥

भूमिका—ऐसा होने पर, तीर्थकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर है (स्वभाव का किंचित् भी घात नहीं करता है) ऐसा अब निश्चित करते है—

अन्वयार्थ—[अर्हन्तः] अरहन्त भगवान् [पुण्यफलाः] (तीर्थकर नामा) पुण्यप्रकृति के फल है [पुन.] और [तेषा क्रिया] उनकी क्रिया [हि] निश्चय से [औदयिकी] औदयिकी है। [मोहादिभि. विरहिता] (क्योकि वह क्रिया) मोहादि से रहित है [तस्मात्] इसलिये [सा] वह [क्षयिकी] क्षायिकी [इति मता] मानी गई है।

टीका—अरहन्त भगवान् वास्तव में समस्त भली भांति परिपक्व पुण्य रूपी कल्पवृक्ष के फल ही है। उनकी जो भी क्रियाये है, वे सब उस (पुण्य) के उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी ही है। ऐसा होने पर भी, वह (औदयिकी क्रिया) महामोह राजा की समस्त सेना के सर्वथा क्षय होने पर उत्पन्न होने से (तथा) मोह-राग-द्वेष रूपी उपरंजकों का अभाव होने से, चैतन्य के विकार का कारण नही होती हुई नित्य औदयिकी है, तो भी कार्यभूत बध की अकारणभूतता से और कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता से क्षायिकी ही क्यों न मानी जाय ? (अवश्य ही मानी जावे) जब क्षायिकी ही मानें तब कर्मविपाक (कर्मोदय) भी उनके (अरहन्तों के) स्वभाव के विघात के लिए (विघात का कारण) नही है (यह निश्चित होता है) ॥४५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वं यदुक्त रागादिरहितकर्मोदयो बन्धकारण न भवति विहारादिक्रिया च, तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति—

पुण्णफला अरहता पञ्चमहाकल्याणपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति **तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया** तेषां या दिव्यध्वनिरूपवचनव्यापारादिक्रिया सा नि क्रियशुद्धात्मतत्त्वविपरीतकर्मोदयजनितत्वात्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुट। **मोहादीहिं विरहिया** निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रच्छादकममकाराहङ्कारोत्पादनसमर्थमोहादिविरहितत्वाद्यत **तम्हा सा खाइयत्ति मदा** तस्मात् सा यद्यप्यौदयिकी तथापि निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वस्य विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकी मता।

अत्राह शिष्य—'औदयिका भावा बन्धकारणम्' इत्यागमवचन तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह–औदयिका भावा बन्धकारणं भवन्ति परं किन्तु मोहोदयसहिता। [illegible]

सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुन कर्मोदय-मात्रेण बन्धो भवति तर्हि ससारिणा सर्वदेव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्राय ॥४५॥

उत्थानिका—आगे पहले जो कह चुके है कि रागादि-रहित कर्मो का उदय तथा विहार आदि क्रियाबध का कारण नही होती है, उस ही अर्थ को और भी दूसरे प्रकार से दृढ करते है। अथवा यह बताते है कि अरहतो के पुण्य कर्म का उदय बन्ध का कारण नही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अरहंता) तीर्थकरस्वरूप अरहंत भगवान् (पुण्णफला) पुण्य के फलस्वरूप है—अर्थात् पंच महाकल्याणक की पूजा को उत्पन्न करने वाला तथा तीन लोक को जीतने वाला जो तीर्थंकर नाम पुण्यकर्म उसके फलस्वरूप अर्हंत तीर्थंकर होते है। (पुणो) तथा (तेसि) उन अरहंतों की (किरिया) क्रिया अर्थात् दिव्य-ध्वनि रूप वचन का व्यापार तथा विहार आदि शरीर का व्यापार रूप क्रिया (हि) प्रगट रूप से (ओदइया) औदयिक है अर्थात् क्रिया रहित जो शुद्ध आत्मतत्व उससे विपरीत को कर्म उसके उदय से हुई है। (सा) वह क्रिया (मोहादीहि) मोहादिकों से अर्थात् मोह रहित शुद्ध आत्मतत्व के रोकने वाले तथा ममकार अहंकार के पैदा करने को समर्थ मोह आदि से (विरहिया) रहित है (तम्हा) इसलिये (खाइय त्ति) क्षायिक है अर्थात् विकार रहित शुद्ध आत्मतत्व के भीतर कोई विकार को न करती हुई क्षायिक ऐसी (मदा) मानी गई है।**

यहाँ पर शिष्य ने प्रश्न किया कि जब आप कहते है कि कर्मो के उदय से क्रिया होकर भी क्षायिक है अर्थात् क्षय रूप है, नवीन बन्ध नही करती तब क्या जो आगम का वचन है कि "औदयिका: भावा: बन्धकारणम्" अर्थात् औदयिक भाव बन्ध के कारण है, वृथा हो जायेगा? इस शंका का समाधान आचार्य करते है कि औदयिक भाव बन्ध के कारण होते है, यह बात ठीक है परन्तु वे बन्ध के कारण तब ही होते है जब वे मोह भाव के उदय सहित होते है। कदाचित् किसी जीव के द्रव्य मोह कर्म सम्यक्त्वप्रकृति का उदय हो तथापि जो वह शुद्ध आत्मा की भावना के बल से मोह रूप अर्थात् मिथ्यात्व रूप भाव न परिणमन करे तो बन्ध नहीं होवे और यहाँ अर्हंतों के तो द्रव्यमोह का सर्वथा अभाव ही है। यदि माना जाय कि कर्मो के उदय मात्र से बन्ध हो जाता है तब तो संसारी जीवों के सदा ही कर्मो के उदय से सदा ही बन्ध रहेगा कभी भी मोक्ष न होगा। सो ऐसा कभी नहीं हो सकता इसलिये मोह के उदय के बिना क्रियाबन्ध नही करती किन्तु जिस

कर्म के उदय से जो क्रिया होती है वह कर्म झड़ जाता है। इसलिए उस क्रिया को क्षायिकी कह सकते है, ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथा मे भी आचार्य महाराज ने इसी बात को बतलाया है कि मिथ्यात्व व चारित्रमोह का उदय ही बन्ध का कारण है। आत्मा की भावना के बल से मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतियाँ अपने रूप उदय में नहीं आतीं किन्तु सम्यक्त्व-प्रकृति रूप (जो दर्शनमोह की प्रकृति है) संक्रमण कर उदय में आती है जिससे मोहरूप अर्थात् मिथ्यात्वरूप भाव नही होते। यदि मिथ्यात्व का उदय हो तो मिथ्यात्वरूप भाव है।

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण [1]विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वय स्वभावेन।
ससारोऽपि न विद्यते सर्वेषा जीवकायानाम् ॥४६॥

यदि खल्वेकान्तेन शुभाशुभभावस्वभावेन स्वयमात्मा न परिणमते तदा सर्वदैव सर्वथा निर्विघातेन शुद्धस्वभावेनैववातिष्ठते। तथा च सर्वे एव भूतग्रामाः समस्तबन्धसाधनशून्यत्वादाजवंजवाभावस्वभावतो नित्य-मुक्ततां प्रतिपद्येरन्। तच्च नाभ्युपगम्यते। आत्मनः परिणामधर्मत्वेन स्फटिकस्य जपातापिच्छरागस्वभाववत् शुभाशुभस्वभावत्वद्योतनात् ॥४६॥

भूमिका—अब, केवलियों की तरह समस्त संसारी जीवों के भी स्वभाव-विघात होने के अभाव को निषेध करते है (अर्थात् क्रिया सब संसारी जीवों के स्वभाव की घातक होती है, यह बताते है)।

अन्वयार्थ—[यदि] जो (यह माना जाय कि) [स आत्मा] वह आत्मा [स्वय] स्वय [स्वभावेन] स्व-भाव से (अपने भाव से) [शुभ वा अशुभ] शुभ वा अशुभ [न भवति] नही होता (शुभ अशुभ भाव मे परिणत ही नही होता) तो [सर्वेषां जीवकायानां] तो समस्त जीवनिकायो के [ससार अपि] ससार भी [न विद्यते] विद्यमान नही है अर्थात् ससार ही न रहेगा (ऐसा सिद्ध होगा)।

टीका—जो वास्तव मे एकान्त से (यह माना जाय कि) शुभ-अशुभभाव रूप स्व-भाव से (अपने भाव से) आत्मा स्वयं परिणत नहीं होता तब तो वह सदा ही सर्वथा निर्विघात शुद्ध स्वभाव से ही अवस्थित है। ऐसा होने पर समस्त जीव समूह समस्त ब…

१ विज्जइ (ज० वृ०)

कारणों से रहित सिद्ध होने से, संसार के अभाव रूप स्वभाव के कारण नित्य-मुक्तता को प्राप्त हो जायेगे (नित्य-मुक्त सिद्ध होगे) किन्तु ऐसा स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि आत्मा के परिणमन धर्म के कारण (परिणमनशील होने के कारण) शुभ-अशुभ, निज-भावपना प्रकाशित (प्रगट) है, "स्फटिकमणि के जपाकुसुम और तमाल-पुष्प के रङ्ग-निज-भावपने (निज परिणाम) की तरह।"

भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि लाल और काले फूल के निमित्त से लाल और काले निज भाव से परिणत होती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मोपाधि के निमित्त से शुभ-अशुभ निजभाव रूप से परिणत होता है ॥४६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ यथार्हता शुभाशुभपरिणामविकारो नास्ति तथैकान्तेन ससारिणामपि नास्तीति साख्य-मतानुसारिशिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति दूषणद्वारेण परिहार ददाति—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सय सहावेण यथैव शुद्धनयेनात्मा शुभाशुभाभ्या न परिणमति तथैवाशुद्धनयेनापि स्वय स्वकीयोपादानकारणेन स्वभावेनाशुद्धनिश्चयरूपेणापि यदि न परिणमति तदा। कि दूषण भवति। **ससारोवि ण विज्जइ** निस्ससारशुद्धात्मस्वरूपात्प्रतिपक्षभूतो व्यवहारनयेनापि ससारो न विद्यते। केषा ? **सव्वेसि जीवकायाण** सर्वेषा जीवसघातानामिति।

तथाहि—आत्मा तावत्परिणामी स च कर्मोपाधिनिमित्ते सति स्फटिकमणिरिवोपाधि गृह्णाति, ततः कारणात्ससाराभावो न भवति। अथ मत—ससाराभाव साख्याना दूषण न भवति, भूषणमेव। नैवम्। ससाराभावो हि मोक्षो भण्यते, स च ससारिजीवानी न दृश्यते, प्रत्यक्षविरोधादिति भावार्थ ॥४६॥

एव रागादयो बन्धकारण न च ज्ञानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथापञ्चकं गतम्।

उत्थानिका—आगे जैसे अरहतो के शुभ व अशुभ परिणाम के विकार नही होते तो एकान्त से ससारी जीवो के भी नही होते, ऐसे साख्यमत के अनुसार चलने वाले शिष्य ने अपना पूर्वपक्ष किया, उसको दूषण देते हुए समाधान करते है—अथवा केवली भगवानो की तरह सर्व ही संसारी जीवो के स्वभाव के घात का अभाव है, इस बात का निषेध करते है—

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(जदि) यदि (सो आदा) वह आत्मा (सहावेण) स्वभाव से (सय) आप ही (सुहो) शुभ परिणामरूप (व असुहो) अथवा अशुभ परिणाम रूप (ण हवदि) नही होता है। अर्थात् 'जैसे शुद्धनय करके आत्मा शुभ या अशुभभावों से नही परिणन करता है तैसे ही अशुद्धनय से भी स्वयं अपने ही उपादानकारण से अर्थात् स्वभाव से अथवा अशुद्धनिश्चय से भी यदि शुभ या अशुभभावरूप नही परिणमन करता है। ऐसा यदि माना जावे तो क्या दूषण आयेगा, उसके लिये कहते है कि (सव्वेसिं**

जीवकायाणं) सर्व ही जीव-समूहों को (संसारो वि ण विज्जइ) संसार अवस्था ही नही रहेगी। अर्थात् संसार रहित शुद्ध आत्मस्वरूप से प्रतिपक्षी जो संसार सो व्यवहारनय से नही रहेगा।

भाव यह है कि आत्मा परिणमनशील है। वह कर्मो की उपाधि के निमित्त से स्फटिकमणि की तरह उपाधि को ग्रहण करता है इस कारण संसार का अभाव नहीं है। अब कोई शंकाकार कहता है कि सांख्यों के यहां संसार का अभाव होना दूषण नहीं है किन्तु भूषण ही है ? उसका समाधान करते है कि ऐसा नहीं है। क्योंकि ससार के अभाव को ही मोक्ष कहते है सो मोक्ष ससारी जीवों के भीतर नहीं दिखलाई पड़ता है, इसलिये प्रत्यक्ष मे विरोध आता है। ऐसा भाव है ॥४६॥

इस तरह यह बताया कि राग-द्वेष-मोह बन्ध के कारण है, ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है इत्यादि कथन करते हुये छठे स्थल में पांच गाथाएँ पूर्ण हुई।

अथ पुनरपि प्रकृतमनुसृत्यातीन्द्रियज्ञानं सर्वज्ञत्वेनाभिनन्दति—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं [1]खाइगं भणियं ॥४७॥

यत्तात्कालिकामितर जानाति युगपत्समन्ततः सर्वम्।
अर्थं विचित्रविषम तत् ज्ञान क्षायिक भणितम् ॥४७॥

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिकं चाप्येकपद एव समन्ततोऽपि सकलमप्यर्थजातं पृथक्त्ववृत्तस्ववृत्तणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतरविरोधधापितासमानजातीयत्वोद्दामितवैषम्यं क्षायिकं ज्ञानं किल जानीयात्। तस्य हि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकवाप्यर्थजातं तुल्यकालमेव प्रकाशेत। सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्त.प्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत। सर्वावरणक्षयाद्देशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत। सर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विचित्रमपि प्रकाशेत। असमानजातीयज्ञानावरणक्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विषममपि प्रकाशेत। अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ॥४७॥

भूमिका—अब, पुनः प्रकृत (चालू विषय) को अनुसरण करके अतीन्द्रियज्ञान को सर्वज्ञपने से अभिनन्दन करते है (अतीन्द्रियज्ञान सबका ज्ञाता है, इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते है) :—

---

१ खाइय (ज० वृ०)

अन्वयार्थ—[यत्] जो [युगपत्] एक ही साथ [समन्तत] सर्वत. (सर्व आत्म-प्रदेशो से) [तात्कालिक] तात्कालिक (वर्तमानकालीन) [इतर] या अतात्कालिक (भूत भविष्यत्) [विचित्र] विचित्र (अनेक प्रकार के) और [विपम] विपम (मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन आदि असमान जाति के) [सर्व अर्थ] समस्त पदार्थो को [जानाति] जानता है [तत् ज्ञान] वह ज्ञान [क्षायिक भणित] क्षायिक कहा गया है।

टीका—(१) वर्तमान काल मे वर्तते, (२) भूत-भविष्यत् काल मे वर्तते, (३) जिनमे पृथक् रूप से वर्तते स्वलक्षण रूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारो के कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है, (४) और जिनमे परस्पर विरोध से उत्पन्न होने वाली असमान जातीयता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है, ऐसे (चार विशेषण वाले) समस्त पदार्थ समूह को एक समय में ही (युगपत्), सर्वतः (सर्व आत्म प्रदेशों से) क्षायिकज्ञान वास्तव मे जानता है।

इसी बात को युक्तिपूर्वक स्पष्ट रूप से समझाते है—(१) उस (केवलज्ञान) के वास्तव में क्रम-प्रवृत्ति के हेतु भूत, क्षयोपशम अवस्था मे रहने वाले ज्ञानावरणीय कर्म-पुद्गलो का अत्यन्त अभाव होने से (वह क्षायिकज्ञान) तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थ-समूह को समकाल मे (युगपत्) ही प्रकाशित करता है। (२) सर्वतः (सर्व प्रदेशों से) विशुद्ध (उस क्षायिक ज्ञान) के प्रतिनियत प्रदेशों की विशुद्धि (सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) सर्वतः (सर्व आत्म-प्रदेशों से) ही प्रकाशित करता है। (३) सर्व आवरण का क्षय होने से, देश आवरण रूप क्षयोपशम के न रहने से (वह क्षायिकज्ञान) सबको भी प्रकाशित करता है (४) सर्व प्रकार ज्ञानावरणीय के क्षय से असर्व प्रकार के ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के नाश होने से (वह क्षायिकज्ञान) विचित्र को (अनेक प्रकार के पदार्थो को) भी प्रकाशित करता है। (५) असमानजातीय ज्ञानावरण के क्षय से समान जातीय ज्ञानावरण के क्षयोपशम के नष्ट हो जाने से, (वह क्षायिकज्ञान) विषम को भी (असमानजाति के पदार्थो को भी) प्रकाशित करता है।

सार—अथवा, अतिविस्तार से बस हो जिसका अनिवारित (रुकावट रहित फैलाव है) ऐसे प्रकाश स्वभावी होने से, क्षायिकज्ञान अवश्य ही सर्वदा (सर्वकालीन त्रिकालीन), सर्वत्र (सब क्षेत्र के लोक-अलोक के) सब पदार्थ को सर्वथा (सम्पूर्णरूप से) जाने अर्थात् जानता है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्रथम तावात् केवलज्ञानमेव सर्वज्ञस्वरूप, तदनन्तर सर्वपरिज्ञाने सति एकपरिज्ञान, एकपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्त व्याख्यान करोति। तद्यथा—अत्र ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यान प्रकृत तावत्तत्प्रस्तुतमनुसृत्य पुनरपि केवलज्ञान सर्वज्ञत्वेन निरूपयति—

ज यज्ज्ञान कर्तृ **जाणदि** जानाति । क ? **अत्थ** अर्थ पदार्थमिति विशेष्यपदं । कि विशिष्ट ? **तक्कालियमिदर** तात्कालिक वर्तमानमितर चातीतानागतम् । कथ जानाति ? **जुगव** युगपदेकसमये **समतदो** समन्ततः सर्वात्मप्रकारेण वा । कतिसख्योपेत ? **सव्व** समस्त । पुनरपि किविशिष्ट ? **विचित्तं** नानाभेदभिन्न । पुनरपि किरूप ? **विसम** मूर्तामूर्तचेतनाचेतनादिजात्यन्तरविशेषैर्विसदृश **त णाणं खाइयं भणिय** यदेव गुणविशिष्ट ज्ञानं तत्क्षायिक भणितत् । अभेदनयेन तदेव सर्वज्ञस्वरूप तदेवोपादेय-भूतानन्तसुखाद्यनन्तगुणानामाधारभूत सर्वप्रकारोपादेयरूपेण भावनीयम् । इति तात्पर्यम् ॥४७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि केवलज्ञान ही सर्वज्ञ का स्वरूप है । आगे कहेगे कि सर्वज्ञ को जानते हुए एक का ज्ञान होता है तथा एक को जानते हुए सर्व का ज्ञान होता है । इस तरह पाँच गाथाओ तक व्याख्यान करते है । उनमे से प्रथम ही निरूपण करते है क्योकि यहाँ ज्ञान प्रपच के व्याख्यान की मुख्यता है, इसलिये उस ही को आगे लेकर फिर कहते है कि केवलज्ञान सर्वज्ञरूप है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जं) जो ज्ञान (समंतदो) सर्व प्रकार से आत्मा के प्रदेशों से (विचित्तं विसम) नाना भेदरूप अनेक जाति के मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन,** आदि [illegible] **अत्थं) सर्व पदार्थों को (तक्कालिगं) वर्तमान काल सम्बन्धी तथा (इतरं)** भूत, भविष्यत् **काल सम्बन्धी पर्यायों सहित (जुगवं) एक समय में व एक साथ** (जाणदि जानता है । **(तं णाणं) उस ज्ञान को (खाइयं) क्षायिक (भणियं) कहा है । अभेद** [illegible] **स्वरूप है इसलिये वही ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख आदि** [illegible] आधारभूत **सब तरह से प्राप्त करने योग्य है, इस रूप से भावना करनी** [illegible] है ॥४६॥

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालि [illegible]
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं [illegible] ॥

यो न विजानाति युगपदर्थान् [illegible]
ज्ञातु तस्य न शक्यं [illegible]

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेकं धर्म[illegible]
जीवद्रव्याणि । ततोऽप्यनन्तगुणानि [illegible]
यमानभेदभिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहप[illegible]
ज्ञेयं, इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञा[illegible]
तुकसमस्तदाह्याकारपर्यायप[illegible]
जानन् ज्ञाता समस्त[illegible]

स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति । एवं किल द्रव्यस्वभावः । यस्तु समस्तं ज्ञेय न जानाति स, समस्तं दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति । एवमेतदायाति यः सर्वं न जानाति स आत्मानं न जानाति ॥४८॥

भूमिका—अब, सबको नही जानता हुआ एक (आत्मा) को भी नही जानता है, यह निश्चय करते हैं—

अन्वयार्थ—[य] जो [युगपत्] एक ही साथ [त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्] त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (तीनो काल के और तीनो लोक के) [अर्थात्] पदार्थो को [न विजानाति] नही जानता है [तस्य] उसके [सपर्यय] पर्याय सहित [एक द्रव्य वा] एक (आत्मा) द्रव्य भी [ज्ञातु न शक्य] जानना शक्य नही है ।

टीका—इस विश्व मे वास्तव मे एक आकाश द्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्य कालद्रव्य और अनन्त जीवद्रव्य तथा उससे भी अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य है । उनमे से प्रत्येक के अतीत अनागत और वर्तमान ऐसे (तीन) प्रकारों से भेदवाली निरवधि (अमर्यादित) वृत्ति प्रवाह के भीतर पड़ने वाली अनन्त पर्याये है । इस प्रकार यह समस्त ही (द्रव्यों और पर्यायों का) समुदाय ज्ञेय है । उनमें ही कोई एक भी जीव द्रव्य ज्ञाता है । अब यहाँ, जैसे समस्त (ईंधन) को जलाती हुई अग्नि, समस्त दाह्यकहेतुक (समस्त दाह्य के निमित्त से होने वाले) समस्त दाह्याकार (ईंधन आकार) पर्याय रूप परिणत सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है, ऐसे अपने रूप परिणत होती है, वैसे ही समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञाता (आत्मा), समस्त-ज्ञेय-हेतुक (समस्त ज्ञेय के निमित्त से होने वाले) समस्त ज्ञेयाकार पर्याय रूप परिणत सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है तथा जो चेतनपने के कारण स्वानुभव-प्रत्यक्ष है, ऐसे उस अपने आत्मा रूप परिणत होता है । वास्तव मे ऐसा द्रव्य का स्वभाव है । जैसे समस्त दाह्य को न दहती हुई अग्नि, समस्त-दाह्य-हेतुक समस्त दाह्याकार पर्यायरूप परिणत सकल एक दहन जिसका आकार है, ऐसे अपने रूप में परिणत नही होती, उसी प्रकार जो समस्त ज्ञेय को नही जानता है, वह आत्मा, समस्त-ज्ञेय-हेतुक समस्त ज्ञेयाकार पर्यायरूप परिणत सकल एक ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे अपने रूप मे—स्वयं चेतनपने के कारण स्वानुभव प्रत्यक्ष होने पर भी परिणत नही होता, (अपने को परिपूर्णतया अनुभव नही करता—नहीं जानता) । इस

प्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नही जानता वह अपने को (आत्मा को) नहीं जानता ॥४८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ य सर्व न जानाति स एकमति न जानातीति विचारयति—

जो ण विजाणदि य. कर्ता नैव जानाति। कथ ? **जुगव** युगपदेकक्षणे। कान् ? **अत्थे** अर्थान्। कथभूतान् ? **तिक्कालिगे** त्रिकालपर्यायपरिणतान्। पुनरपि कथभूतान् ? **तिहुवणत्थे** त्रिभुवनस्थान् **णादुं तस्स ण सक्कं** तस्य पुरुषस्य सम्बन्धिज्ञान ज्ञातु समर्थ न भवति। कि ? **दव्व** ज्ञेयद्रव्य। किविशिष्ट ' **सपज्जयं** अनन्तपर्यायसहित। कतिसख्योपेत ? **एगं वा** एकमपीति।

तथाहि—आकाशद्रव्य तावदेक, धर्मद्रव्यमेक, तथैवाधर्मद्रव्य च, लोकाकाशप्रमितासख्येयकालद्रव्याणि, ततोऽनन्तगुणानि जीवद्रव्याणि, तेभ्योप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि। तथैव सर्वेषा प्रत्येकमनन्तपर्याया, एतत्सर्व ज्ञेय तावत्तत्रैक विवक्षित जीवद्रव्य ज्ञातृ भवति। एव तावद्वस्तुस्वभाव.। तत्र तथा दहनः समग्त दाह्य दहन् सन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनस्वरूपमुष्णपरिणततृणपर्णाद्याकारमात्मान **स्वकीयस्वभावं** परिणमति। तथायमात्मा समस्त ज्ञेय जानन् सन् समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकाखण्डज्ञानरूप स्वकीयमात्मान परिणमति जानाति परिच्छिनत्ति। तथैव च स एव दहन. पूर्वोक्तलक्षण दाह्यमदहन् सन् तदाकारेण न परिणमति, तथात्मापि पूर्वोक्तलक्षण समस्त ज्ञेयमजानन् पूर्वोक्तलक्षणमेव सकलैकाखण्डज्ञानाकार स्वकीयमात्मान न परिणमति न जानाति न परिच्छिनत्ति। अपरमप्युदाहरण दीयते – यथा कोऽप्यन्धक आदित्यप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन्नादित्यमिव, प्रदीपप्रकाश्यान् पदार्थनपश्यन् प्रदीपमिव, दर्पणस्थविम्बान्यपश्यन् दर्पणमिवस्वकीयदृष्टिप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् हस्तपादाद्यवयवपरिणत स्वकीयदेहाकारमात्मान स्वकीयदृष्ट्या न पश्यति, तथाय विवक्षितात्मापि केवलज्ञानप्रकाश्यान् पदार्थानजानन सकलाखण्डैककेवलज्ञानरूपमात्मानमपि न जानाति। तत एतत्स्थित य सर्व न जानाति स आत्मानमपि न जानातोति ॥४८।

उत्थानिका—आगे आचार्य विचारते है कि जो ज्ञान सबको नही जानता वह ज्ञान एक पदार्थ को भी नही जान सकता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) **जो कोई आत्मा** (जुगवं) **एक समय मे** (तिक्कालिगे) **तीन काल की पर्यायों मे परिणमन करने वाले** (तिहुवणत्थे) **तीन लोक में रहने वाले** (अत्थे) **पदार्थो को** (ण विजाणदि) **नही जानता है।** (तस्स) **उस आत्मा का ज्ञान** (सपज्जयं) **अनन्त पर्याय सहित** (एकं दव्वं) **एक द्रव्य को** (वा) **भी** (णादुं) **जानने के लिये** (ण सक्क) **नही समर्थ होता है।**

भाव यह है कि आकाश द्रव्य एक है, धर्मद्रव्य एक है, तथा अधर्मद्रव्य एक है और लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य है, उससे अनन्तगुणे जीवद्रव्य है, उससे भी अनन्त-गुणे पुद्गल द्रव्य है, क्योकि एक-एक जीवद्रव्य मे अनन्तकर्म वर्गणाओ का सम्बन्ध है तैसे ही अनन्त नोकर्मवर्गणाओ का सम्बन्ध है। तैसे ही इन सब द्रव्यो मे

प्रत्येक द्रव्य की अनन्तपर्याये होती है क्योंकि काल के समय पुद्गलद्रव्य से भी अनन्तानन्त गुणे है। यह सब ज्ञेय—जानने योग्य है और इनमे एक कोई भी विशेष जीवद्रव्य ज्ञाता जानने वाला है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। यहाँ जैसे अग्नि सब जलाने योग्य ईंधन को जलाती हुई सब जलाने योग्य कारण के होते हुए सब ईंधन के पर्याय मे परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अग्निस्वरूप हो जाती है अर्थात् वह अग्नि उष्णता मे परिणत तृण व पत्तों आदि के आकार अपने स्वभाव को परिणमाती है। तैसे यह आत्मा सर्व ज्ञेयो को जानता हुआ सर्व ज्ञेयों रूप कारण के होते हुए सर्व ज्ञेयाकार की पर्याय मे परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अखडज्ञानरूप अपने ही आत्मा को परिणमाता है अर्थात् सबको जानता है, और जैसे वही अग्नि पूर्व मे कहे हुए ईंधन को नही जलाती हुई उस ईंधन के आकार नही परिणमन होती है तैसे ही आत्मा भी पूर्व मे कहे हुए सर्व ज्ञेयो को न जानता हुआ पूर्व में कहे हुए लक्षण रूप सर्व को जानकर एक अखड ज्ञानाकार रूप अपने ही आत्मा को नही परिणमाता है अर्थात् सर्व का ज्ञाता नही होता। दूसरा भी एक उदाहरण देते है। जैसे कोई अन्धा पुरुष सूर्य से प्रकाश ने योग्य पदार्थों को नहीं देखता, दीपक से प्रकाश ने योग्य पदार्थो को न देखता हुआ दीपक को भी नही देखता, दर्पण में झलकती हुई परछाई को न देखते हुए दर्पण को भी नही देखता, अपनी ही दृष्टि से प्रकाश-ने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ हाथ, पैर आदि अंग रूप अपने ही देह के आकार को अर्थात् अपने को अपनी दृष्टि से नही देखता है। तैसे इस प्रकरण मे प्राप्त कोई आत्मा भी केवलज्ञान से प्रकाशने योग्य पदार्थो को नही जानता हुआ सकल अखड एक केवलज्ञानरूप अपने आत्मा को नही जानता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो सबको नही जानता है वह अपने आत्मा को भी नहीं जानता है।

विशेष—यदि यहाँ पर कोई शंका करे कि ६ माह ८ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते रहते है। जीवों से काल अनन्तगुणा है, अतः सब भव्य जीव मोक्ष चले जावेंगे। सो यह शंका ठीक नहीं है। ऐसा नियम है कि सब वस्तु प्रतिपक्ष सहित होती है। इसलिये सब भव्य जीवों के मुक्त हो जाने पर भव्य जीवो का अभाव हो जायगा। भव्य जीवों के अभाव होने पर उनके प्रतिपक्षी अभव्य जीवो का भी अभाव हो जायगा। भव्य और अभव्य जीवों का अभाव होने पर संसारी जीवों का भी अभाव हो जायगा। संसारी जीवो का अभाव होने पर उनके प्रतिपक्षी मुक्त जीवो का भी अभाव हो जायगा। इस प्रकार जीव मात्र के अभाव का प्रसंग आ जायगा। [धवल पु० १४ पृ० २३३–३४] ॥

श्री पंचास्तिकाय गाथा ८ में भी 'सप्पडिवक्खा हवइ' शब्दों द्वारा इस सिद्धान्त का समर्थन होता है कि सब सप्रतिपक्ष है। अतः 'नियति' भी अपने प्रतिपक्ष अनियति की अपेक्षा रखती है। यदि अनियत पर्यायों का अभाव माना जायगा तो नियत पर्यायों का भी अभाव हो जायगा। नियत और अनियत पर्यायों के अभाव से पर्याय मात्र का अभाव हो जायगा, और पर्याय मात्र के अभाव हो जाने से द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जायगा। अतः पर्यायें नियत और अनियत दोनों प्रकार की है ॥४८॥

अथैकमजानन् सर्व न जानतीति निश्चिनोति—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं [1]किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥

द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि।
न विजानाति यदि युगपत् कथ स सर्वाणि जानाति ॥४९॥

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव। ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम्। तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि। ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनाः। अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं प्रतिभासमयमहासामान्यव्याप्यप्रतिभासमयानन्तविशेषनिबन्धनभूतसर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात्। एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्व न जानाति। अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवष्ठिते। एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखात मिव प्रतिभाति। यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसचेतनाभावत् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत् ॥४९॥

भूमिका—अब, एक को न जानने वाला सबको नहीं जानता, यह निश्चित करते है—

अन्वयार्थ—[यदि] जो [अनन्तपर्याय] अनन्त पर्याय वाले [एक द्रव्य] एक द्रव्य को (आत्मद्रव्य को) [न विजानाति] नही जानता [स] तो वह [युगपत्] एक ही साथ [सर्वाणि अनन्तानि-द्रव्यजातानि] सर्व अनन्त द्रव्य जातियो को [कथ जानाति] कैसे जान सकेगा (अर्थात् नही जान सकता)।

टीका—पहले तो आत्मा वास्तव में स्वयं ज्ञानमय होने पर ज्ञातृत्व के कारण ज्ञान ही है। प्रत्येक आत्मा मे रहने वाला ज्ञान प्रतिभासमय महा-सामान्य है। वह

(1) कध (ज० वृ०)।

प्रतिभासमय अनन्त विशेषों में व्याप्त होने वाला है। और वे (अनन्त विशेष) सर्व द्रव्य-पर्याय-निमित्तक है। जो पुरुष सर्व द्रव्य पर्याय जिनके निमित्त है ऐसे अनन्त विशेषो मे व्याप्त होने वाले प्रतिभासमय महासामान्यरूप आत्मा को स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता है, वह प्रतिभासमय महासामान्य के द्वारा व्याप्त जो प्रतिभासमय अनन्त विशेष है उनके कारणभूत सर्व द्रव्य पर्यायों को कैसे प्रत्यक्ष करे ? (नही कर सकता)। इससे यह फलित हुआ कि जो आत्मा को नही जनता, वह सबको नहीं जानता।

अब (गाथा ४८ से) सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान और (गाथा ४९ से) आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है, यह (सिद्धान्त) निश्चित होता है। ऐसा होने से आत्मा के ज्ञानमयता के कारण स्वसंचेतकपना होने से, ज्ञाता और ज्ञेय का वस्तु रूप से अन्यत्व होने पर भी प्रतिभास (ज्ञान) और प्रतिभास्यमान (ज्ञेयाकार) का अपनी अवस्था मे अन्योन्य मिलन होने के कारण (ज्ञान और ज्ञेय आकार, आत्मा की ज्ञान की अवस्था मे परस्पर मिश्रित एकमेक रूप होने के कारण) उन्हे भिन्न करना अत्यन्त अशक्य होने से सब कुछ आत्मा मे खुदे हुए के समान प्रतिभासित होता है। (आत्मा ज्ञानमय है इसलिये वह अपने को अनुभव करता है—जानता है, और अपने को जानने पर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते है मानों वे ज्ञान मे स्थित ही हों, क्योकि ज्ञान की अवस्था मे से ज्ञेयाकारों को भिन्न करना अशक्य है)। यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञान के परिपूर्ण आत्मसंचेतन का अभाव होने से परिपूर्ण तक आत्मा का भी ज्ञान सिद्ध नही होता ॥४९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथैकमजानन् सर्व न जानातीति निश्चिनोति—

दव्वं द्रव्य **अणंतपज्जयं** अनन्तपर्याय **एगं** एक **अणंताणि दव्वजादाणि** अनन्तानि द्रव्यजातानि **जो ण विजाणदि** यो न विजानाति अनन्तद्रव्यसमूहान् **कध सो सव्वाणि जाणादि** कथ स सर्वान् जानाति **जुगवं** युगपदेकसमये, न कथमपीति तथाहि—आत्मलक्षण तावज्ज्ञान तच्चाखण्डप्रतिभासमय सर्वजीव-साधारण महासामान्यम्। तच्च महासामान्य ज्ञानमयानन्तविशेषव्यापि। ते च ज्ञानविशेषा अनन्त-द्रव्यपर्यायाणा विषयभूताना ज्ञेयभूताना परिछेदका ग्राहका। अखण्डैकप्रतिभासमय यन्महासामान्य तत्स्वभावमात्मान योसौ प्रत्यक्ष न जानाति स पुरुष प्रतिभासमयेन महासामान्येन ये व्याप्ता अनन्त-ज्ञानविशेषास्तेषा विषयभूता येऽनन्तद्रव्यपर्यायास्तान् कथ जानाति ? न कथमपि। अथ एतदायात य आत्मान न जानाति स सर्वं न जानातीति। तथा चोक्तम्—

"एको भाव सर्वभावस्वभाव, सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्ध, सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धा ॥१॥"

अत्राह शिष्य·—आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञ न भवतीत्यत्र व्याख्यात, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणित सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञान भवतीति । यद्येव तर्हि छद्मस्थाना सर्वपरिज्ञान नास्त्यात्मपरिज्ञान कथ भविष्यति ? आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथ ? तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति । परिहारमाह—परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सवपदार्था ज्ञायन्ते । कथमिति चेत् लोकालोकादिपरिज्ञान व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञान परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहक कथचिदात्मैव भण्यते । अथवा स्वसवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तया रागादि-विकल्परहितस्वसवेदनज्ञानभावनया केवलज्ञान च जायते । इति नास्ति दोष ॥४६॥

उत्थानिका—आगे निश्चय करते है कि जो एक को नही जानता वह सबको भी नही जानता है ।

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(जदि) यदि कोई आत्मा (एगं अणंतपज्जयं दव्व) एक अनन्त पर्यायो के रखने वाले द्रव्य को (ण विजाणदि) निश्चय से नही जानता है (सो) वह आत्मा (कधं) किस तरह (सव्वाणि अणंताणि दव्वजादाणि) सर्व अनन्तद्रव्य समूहों को (जुगवं) एक समय मे (जाणादि) जान सकता है ? अर्थात् किसी तरह भी नहीं जान सकता । विशेष यह है कि आत्मा का लक्षण ज्ञानस्वरूप है । सो अखंड रूप से प्रकाश करने वाला सर्व जीवों मे साधारण महासामान्यरूप है । वह महासामान्य ज्ञान अपने ज्ञानमयी अनन्त विशेषों में व्यापक है, वे ज्ञान के विशेष अपने विषय रूप ज्ञेय पदार्थ जो अनन्त द्रव्य और पर्याय है उनको जानने वाले, ग्रहण करने वाले है जो कोई अपने आत्मा को अखण्ड रूप से प्रकाश करते हुए महासामान्य स्वभाव रूप प्रत्यक्ष नही जानता है वह पुरुष प्रकाशमान महासामान्य के द्वारा जो अनन्तज्ञान के विशेष व्याप्त है उनके विषय रूप जो अनन्त द्रव्य और पर्याय है उनको कैसे जान सकता है ? अर्थात् किसी भी तरह नही जान सकता । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अपने आत्मा को नही जानता है वह सर्व को नही जानता है । ऐसा कहा भी है—**

एको भाव. सर्व-भाव-स्वभाव सर्वे भावा एक-भाव-स्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्ध सर्वे भावास्तत्वतस्तेन बुद्धाः ॥

भाव यह है कि एक-भाव सर्व-भावो का स्वभाव है और सर्व-भाव एक-भाव के स्वभाव है । जिसने निश्चय से-यथार्थ रूप से एक भाव को जाना उसने यथार्थ रूप से सर्व भावों को जाना है । यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय सम्बन्ध लेना चाहिये, जिसने ज्ञाता को जाना उसने सब ज्ञेयो को जाना ही है ।

यहाँ पर शिष्य ने प्रश्न किया कि आपने यहाँ यह व्याख्या की कि आत्मा को जानते हुए सर्व का ज्ञानपना होता है और इसके पहले सूत्र मे कहा था कि सब ज्ञान से

आत्मा का ज्ञान होता है। यदि ऐसा है तो छद्मस्थों को सर्व का ज्ञान नही है, तब उनको आत्मा का ज्ञान कैसे होगा ? यदि उनको आत्मा का ज्ञान न होगा तो उनके आत्मा की भावना कैसे होगी ? यदि आत्मा की भावना न होगी तो उनको केवलज्ञान की उत्पत्ति नही होगी ? इस शंका का समाधान करते है कि परोक्ष प्रमाणरूप श्रुतज्ञान से सर्व पदार्थ जाने जाते है। यह कैसे सो कहते है कि छद्मस्थों को भी लोक और आलोक का ज्ञान व्याप्ति ज्ञानरूप से है। वह व्याप्ति ज्ञान परोक्ष रूप से केवलज्ञान के विषय को ग्रहण करने वाला है इसलिये किसी अपेक्षा से आत्मा ही कहा जाता है। अथवा स्वसवेदन ज्ञान आत्मा को जानते है, और फिर उसकी भावना करते है। इसी रागद्वेषादि विकल्पों से रहित स्वसवेदन ज्ञान की भावना के द्वारा केवलज्ञान पैदा हो जाता है। इसमे कोई दोष नहीं है ॥४९॥

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्धयतीति निश्चितोति—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं[1] णेव सव्वगदं[2] ॥५०॥

उत्पद्यते यदि ज्ञान क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिन ।
तन्नैव भवति नित्य न क्षायिक नैव सर्वगतम् ॥५०॥

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं, तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात् प्रलीयमानं नित्यमसत्तथा कर्मोदयादेकां व्यक्ति प्रतिपन्नं पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमान क्षायिकमप्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगत न स्यात् ॥५०॥

भूमिका—अब क्रम से होने वाली प्रवृत्ति से ज्ञान की सर्वगतता सिद्ध नहीं होती, यह निश्चित करते है—

अन्वयार्थ—[यदि] जो [ज्ञानिन ज्ञान] आत्मा का ज्ञान [क्रमश] क्रम से [अर्थात् प्रतीत्य] पदार्थो का अवलम्बन लेकर [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [तत्] तो वह ज्ञान [न एव नित्य भवति] नित्य नही है, [न क्षायिक] क्षायिक नही है, [न एव सर्वगत] और सर्वगत [सबके जानने वाला] नही है।

टीका—जो ज्ञान वास्तव में क्रम से एक-एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है वह एक पदार्थ के अवलम्बन से उत्पन्न और दूसरे पदार्थ के अवलम्बन से नष्ट (हो जाने से) नित्य नही होता। तथा कर्मोदय के कारण से एक व्यक्ति (पर्याय-विशेष)

---

१ खाइय (ज० वृ०) (२) णेव सव्वगय (ज० वृ०)

को प्राप्त फिर अन्य व्यक्ति को प्राप्त होता हुआ (अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से हीनाधिक होता हुआ) क्षायिक भी नही होता। अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त करने के लिये (जानने के लिये) असमर्थपने से सर्वगत नही होता है ॥५०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति व्यवस्थापयति—

उप्पज्जदि जदि णाण उत्पद्यते ज्ञान यदि चेत्—**कमसो** क्रमशः सकाशात् कि कृत्वा ? **अट्ठे-पडुच्च** ज्ञेयार्थानाश्रित्य कस्य ? **णाणिस्स** ज्ञानिन आत्मनः **त णेव हवदि णिच्चं** उत्पत्तिनिमित्तभूत-पदार्थविनाशे तस्यापि विनाश इति नित्य न भवति । **ण खाइयं** ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधीनत्वात् क्षायिकमपि न भवति । **णेव सव्वगय** यत एव पूर्वोक्तप्रकारेण पराधीनत्वेन नित्य न भवति, क्षयोप-शमाधीनत्वेन क्षायिक न भवति तत एव युगपत्समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावाना परिज्ञानसामर्थ्याभावा-त्सर्वगत न भवति । अत एतत्स्थितं यद् ज्ञान क्रमेणार्थान् प्रतीत्य जायते तेन सर्वज्ञो न भवति इति ॥५०॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो ज्ञान क्रम से पदार्थो के जानने मे प्रवृत्ति करता है उस ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नही हो सकता है अर्थात् क्रम से जानने वाले को सर्वज्ञ नही कह सकते ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (णाणिस्स) ज्ञानी आत्मा का (णाण) ज्ञान (अट्ठे) जानने योग्य पदार्थो को (पडुच्च) आश्रय करके (कमसो) क्रम से (उप्पज्जदि) पैदा होता है। तो (तं) वह ज्ञान (णिच्चं) अविनाशी (णेव) नही (हवदि) होता है अर्थात् जिस पदार्थ निमित्त से ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस पदार्थ के नाश होने पर उस पदार्थ का ज्ञान भी नाश होता है इसलिये वह ज्ञान सदा नही रहता है, इससे नित्य नही है। (ण खाइयं) न क्षायिक है क्योकि वह परोक्षज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अधीन है (णेव सव्वगयं) और न वह सर्वगत है, क्योकि जब वह पराधीन होने से नित्य नही है, क्षयोपशम के अधीन होने से क्षायिक नही है, इसीलिये ही वह ज्ञान एक समय मे सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो को जानने के लिये असमर्थ है इसलिये सर्वगत नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञान क्रम से पदार्थो का आश्रय लेकर पैदा होता है उस ज्ञान के रखने से सर्वज्ञ नही हो सकता ॥५०॥**

अथ यौगपद्यप्रवृत्त्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्वं सिद्धयतीति व्यवतिष्ठते—

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स महाप्पं ॥५१॥

त्रैकाल्यनित्यविषम सकल सर्वत्रसभव चित्रम् ।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ॥५१॥

क्षायिकं हि ज्ञानमतिशयास्पदीभूतपरममाहात्म्यं, यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वं प्रतिपन्नसमस्तव्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभावं त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थसंभूतिमनन्तजातिप्रापितवैचित्र्यं परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तानन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृताद्भुतमाहात्म्य सर्वगतमेव स्यात् ॥५१॥

भूमिका—अब, युगपत् प्रवृत्ति से ही ज्ञान का सर्वगतपना सिद्ध होता है, यह निश्चित करते है—

अन्वयार्थ—[त्रैकाल्यनित्यविषम] त्रिकालिक, नित्य, विपम, [सर्वत्र सभव] सर्व क्षेत्रो मे होने वाले, तथा [चित्र] अनेक प्रकार के, [सकल] समस्त पदार्थों को [जैन] जिनदेव का ज्ञान [युगपत्] एक साथ [जानाति] जानता है। [अहो हि] अहो! [ज्ञानस्य माहात्म्य] (यह) ज्ञान का माहात्म्य है।

टीका—क्षायिकज्ञान वास्तव मे सर्वोत्कृष्टता का स्थानभूत परम महिमा वाला है। (क्यों ? इसी को आचार्य स्वयं स्पष्ट करते है) क्षायिकज्ञान युगपत् (एक साथ ही) समस्त पदार्थों का आलम्बन लेकर प्रवर्तता है, तथा समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार टंकोत्कीर्ण न्याय से अवस्थित (अपने मे स्थित) होने से जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है, तथा समस्त व्यक्तित्व को प्राप्त कर लेने से जिसने स्वभाव-प्रकाशक क्षायिकभाव प्रगट किया है, ऐसा वह ज्ञान त्रैकालिक, नित्य तथा विषम (असमानजाति रूप से परिणत होने वाले), अनन्त प्रकारों के कारण विचित्रता को प्राप्त, सम्पूर्ण सर्व पदार्थों के समूह को जानता हुआ, अक्रम से (युगपत्) अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त होने से जिसने अद्भुत माहात्म्य को प्रगट किया है, सर्वगत ही है ॥५१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ युगपत्परिच्छित्तिरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञो भवतीत्यावेदयति—

जाणदि जानाति। किं कर्तृ ? जोण्हं जैन ज्ञान। कथ ? जुगवं युगपदेकसमये अहो हि णाणस्स माहप्प अहो हि स्फुटं जैनज्ञानस्य माहात्म्य पश्यताम्। कि जानाति ? अर्थमित्यध्याहार। कथंभूत ? तिक्कालणिच्चविसम त्रिकालविपय त्रिकालगत नित्यं सर्वकाल। पुनरपि किंविशिष्ट ? सयल समस्त। पुनरपि कथभूत ? सव्वत्थसंभव सर्वत्रलोके सभव समुत्पन्नं स्थितं। पुनश्च किरूप ? चित्तं नानाजातिभेदेन विचित्रमिति।

तथाहि युगपत्सकलग्राहकज्ञानेन सर्वज्ञो भवतीति ज्ञात्वा कि कर्त्तव्य ? ज्योतिष्कमन्त्रवादरससिद्ध्यादीनि यानि खण्डविज्ञानानि मूढजीवाना चित्तचमत्कारकारणानि परमात्मभावनाविनाशकानि च तत्र ग्रह त्यक्त्वा जगत्रयकालत्रयसकलवस्तु युगपत्प्रकाशकमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासरूपं सर्वज्ञ-

शब्दवाच्य यत्केवलज्ञान तस्यैवोत्पत्ति कारणभूत यत्समस्तरागादिविकल्पजालेन रहितं सहजशुद्धात्मनोऽभेदज्ञान तत्र भावना कर्तव्या, इति तात्पर्यम् ।।५१।।

एव केवलज्ञानमेव सर्वज्ञ इति कथनरूपेण गाथैका, तदनन्तर सर्वपदार्थपरिज्ञानमिति प्रथमगनथा परमात्मज्ञानाच्च सर्वपदार्थ परिज्ञानमिति द्वितीया चेति । ततश्च क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति प्रथमगाथा, युगगद्ग्राहकेण स भवतीति द्वितीया चेति समुदायेन सप्तमस्थले गाथापञ्चकं गतम् ।

भूमिका—**अब यह प्रगट करते है कि जो एक समय मे सर्व को जान सकता है, उसी ज्ञान से सर्वज्ञ होता है—**

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जोण्ह) जिनेन्द्र का ज्ञान अर्थात् जिनशासन में जिस प्रत्यक्षज्ञान को केवलज्ञान कहते है वह ज्ञान (जुगवं) एक समय मे (सव्वत्थसंभव) सर्व लोकालोक मे स्थित तथा (चित्तं) नाना जाति भेद से विचित्र (सयल) सम्पूर्ण (तिक्कालणिच्चविसम) तीन काल सम्बन्धी पदार्थो को सदा काल विषमरूप अर्थात् जैसे उनमे भेद है उन भेदों के साथ अथवा 'तिक्कालणिच्चविसयं' ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ है तीन काल के सर्व द्रव्य अपेक्षा नित्य पदार्थो को (जाणदि) जानता है । (अहो हि णाणस्स माहप्पं) अहो निश्चय से ज्ञान का माहात्म्य आश्चर्यकारी है ।**

विशेष भाव यह है कि एक समय मे सर्व को ग्रहण करने वाले ज्ञान से ही सर्वज्ञ होता है ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते है—ज्योतिष, मन्त्र, वाद, रस-सिद्धि आदि के जो खण्डज्ञान है तथा जो मूढ जीवों के चित्त मे चमत्कार करने के कारण है और जो परमात्मा की भावना के नाश करने वाले है उन सर्व ज्ञानों मे आग्रह या हठ त्याग करके तीन जगत् व तीन काल की सर्व वस्तुओं को एक समय में प्रकाश करने वाले, अविनाशी तथा अखण्ड और एक रूप से उद्योत रूप तथा सर्वज्ञत्व शब्द से कहने योग्य जो केवलज्ञान है, उसकी ही उत्पत्ति का कारण जो सर्व रागद्वेषादि विकल्प-जालों से रहित स्वाभाविक शुद्धात्मा का अभेदज्ञान अर्थात् स्वानुभव रूप ज्ञान है उसमें भावना करनी योग्य है, यह तात्पर्य है ।।५१।।

इस प्रकार केवलज्ञान ही सर्वज्ञपना है, ऐसा कहते हुए गाथा एक, फिर सर्व पदार्थो के परिज्ञान से परमात्मज्ञान होता है ऐसी एक गाथा, परमात्मज्ञान से सर्व पदार्थ का परिज्ञान होता है ऐसी दूसरी गाथा है । फिर क्रम से होने वाले ज्ञान से सर्वज्ञ नही होता है, ऐसा कहते हुए एक गाथा तथा एक समय मे सर्व को जानने से सर्वज्ञ होता है, ऐसा कहते हुए दूसरी, इस तरह सातवे स्थल में पॉच गाथाएं पूर्ण हुई ।

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूतं बन्धं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेपु ।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्त ॥५२॥

इह खलु "उदयगदा कम्मसा जिणवरवसहेहि णियदिणा भणिया । तेमु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बधमणुभवदि ॥" इत्यत्र सूत्रे उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु सचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूत बध-मनुभवति, न तु ज्ञानादिति प्रथममेवार्थपरिणमनक्रियाफलत्वेन बन्धस्य समर्थितत्वात् । तथा 'गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि ण परं परिणमदि केवली भगव । पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस ॥' इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपित-त्वाच्चार्थानपरिणमतोऽगृह्णतस्तेस्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बन्धः सिद्ध्येत् ॥५२॥

भूमिका—अब ज्ञानी के (केवलज्ञानी के), ज्ञप्ति-क्रिया का सद्भाव होने पर भी, क्रिया के फल रूप बन्ध को निषेध करते हुए उपसहार करते है (केवलज्ञानी आत्मा के जानने की क्रिया होने पर भी बन्ध नही होता, यह कहकर ज्ञान अधिकार पूर्ण करते है) —

अन्वयार्थ—[आत्मा] (केवलज्ञानी) आत्मा [तान् जानन् अपि] उन पदार्थो को जानता हुआ भी [न अपि परिणमति] उस रूप परिणत नही होता, [न गृह्णाति] उन्हे ग्रहण नही करता, [तेषु अर्थेषु न एव उत्पद्यते] और उन पदार्थो के रूप मे उत्पन्न नही होता [तेन] इसलिये [अबन्धक प्रज्ञप्त] (वह) अबन्धक कहा गया है ।

टीका—यहाँ वास्तव मे 'उदयगताः कर्मांशाः जिनवरवृषभै नियत्या भणिता । तेषु विमूढ रक्तः दुष्टः वा बंधमनुभवति' इस ४३वे गाथा-सूत्र मे "उदयगत पुद्गल कर्मांशों के विद्यमान रहने पर (उन्हे) संचेतन करता हुआ (अनुभव करता हुआ) मोह-राग-द्वेष रूप परिणमन स्वरूप क्रिया के साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफल-भूत बंध को अनुभव करता है, ज्ञान से नही" । इस प्रकार प्रथम ही अर्थ-परिणमन-क्रिया के फलरूप से बन्ध का समर्थन किया गया है तथा 'गृह्णाति नैव न मुचंति न परं परिणमति केवली भगवान् । पश्यति समन्ततः सः जानाति सर्व निर्विशेषं' इस ३२वे गाथा-सूत्र मे शुद्धात्मा के, अर्थ परिणमन आदि क्रियाओं का अभाव, निरूपित किया गया है । इसलिये पदार्थ रूप में

परिणत नहीं होने वाले, पदार्थो को ग्रहण नही करने वाले तथा उन पदार्थो में उत्पन्न नहीं होने वाले (उस) आत्मा के ज्ञप्ति-क्रिया का सद्भाव होने पर भी वास्तव में क्रिया-फल-भूत बन्ध सिद्ध नही होता।

जानन्नप्येष विश्व युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्त,
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति पर नैव निर्लूनकर्मा।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत–
ज्ञेयाकारां त्रिलोकी पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्ति ॥४॥ इति ज्ञानाधिकारः

अन्वय—**(येन) निर्लूनकर्मा एषः आत्मा भवद्भाविभूतं समस्तं विश्वं युगपत् जानन् अपि मोहाभावात् परं नैव परिणमति तेन अथ प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीतज्ञेयाकारां त्रिलोकी पृथक् अपृथक् द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः मुक्त एव आस्ते।**

अन्वयार्थ—[येन] क्योकि [निर्लूनकर्मा] जिसने कर्मो को छेद डाला है ऐसा [एषः आत्मा] यह आत्मा [भवद्भाविभूत] भूत, भविष्यत् और वर्तमान [समस्तं विश्व] समस्त विश्व को (तीनो काल की पर्यायो से युक्त पदार्थो को [युगपत्] एक ही साथ [जानन्] जानता हुआ [अपि] भी [मोहाभावात्] मोह के अभाव के कारण [पर] पररूप [नैव परिणमति] परिणमित नही होता, [तेन]इसलिये [अथ] अब, [प्रसभविकसितज्ञप्ति-विस्तारपीतज्ञेयाकारा] अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से जिसने स्वय समस्त ज्ञेयाकारो को पी लिया है, ऐसे तीनो लोको के पदार्थो को [पृथक् अपृथक् द्योतयन्] पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह [ज्ञानमूर्ति.] ज्ञानमूर्ति [मुक्त. एव आस्ते] मुक्त ही रहता है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्व यदुक्त पदार्थपरिच्छित्तिसद्भावेऽपि रागद्वेषमोहाभावात् केवलिना बन्धो नास्तीति तमेवार्थ प्रकारान्तरेण दृढीकुर्वन् ज्ञानप्रपञ्चाधिकारमुपसहरति—

ण वि परिणमदि यथा स्वकीयात्मप्रदेशै समरसीभावेन सह परिणमति तथा ज्ञेयरूपेण न परिणमति **ण गेण्हदि** यथैव चानन्तज्ञान दिचतुष्टयरूपामात्मरूपमात्मरूपतया गृह्णाति तथा ज्ञेयरूप न गृह्णाति **उप्पज्जदि णेव तेसु अठ्ठेसु** यथा च निर्विकारपरमानन्दैकसुखरूपेण स्वकीयसिद्धपर्यायेणोत्पद्यते तथैव च ज्ञेयपदार्थेषु नोत्पद्यते कि कुर्वन्नपि ? **जाणण्णवि ते** तान् ज्ञेयपदार्थान् स्वस्मात् पृथग्रूपेण जानन्नपि। स क कर्ता ? **आदा** मुक्तात्मा **अबंधगो तेण पण्णत्तो** ततः कारणात्कर्मणामबन्धक प्रज्ञप्त इति।

तद्यथा—रागादिरहितज्ञान बन्धकारण न भवतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्ष-विपरीतस्य नारकादिदुखकारणकर्मबन्धस्य कारणानीन्द्रियमनोजनितान्येकदेशविज्ञानानि त्यक्त्वा सकलविमलकेवलज्ञानस्य कर्मबन्धाकारणभूतस्य यद्बीजभूत निर्विकारस्वसवेदनज्ञान तत्रैव भावना कर्तव्येत्यभिप्राय एव रागद्वेषमोहरहितत्वात्केवलिना बन्धो नास्तीति कथनरूपेण ज्ञानप्रपञ्चसमाप्ति-मुख्यत्वेन चैकसूत्रेणाष्टमस्थल गतम् ॥५२॥

उत्थानिका—आगे पहले जो यह कहा था कि पदार्थों का ज्ञान होते हुए भी राग द्वेष मोह का अभाव होने से केवलज्ञानियो को बन्ध नही होता है, उस ही अर्थ को दूसरी तरह से दृढ करते हुए ज्ञान प्रपच का संकोच करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(आदा) आत्मा अर्थात् मुक्त स्वरूप केवलज्ञानी या सिद्ध भगवान् की आत्मा (ते जाणण्णवि) उन ज्ञेय पदार्थो को अपने आत्मा से भिन्न रूप जानते हुए भी (तेसु अट्ठेसु) उन ज्ञेय पदार्थो के स्वरूप मे (ण वि परिणमदि) न तो परिणमन करता है अर्थात् जैसे अपने आत्मप्रदेशो के द्वारा समतारस से पूर्ण भाव के साथ परिणमन कर रहा है वैसा ज्ञेय पदार्थो के स्वरूप नही परिणमन करता है अर्थात् आप अन्य पदार्थ रूप नही हो जाता है। (ण गेण्हदि) और न उनको ग्रहण करता है अर्थात् जैसे वह आत्मा अनन्तज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय रूप अपने आत्मा के स्वभाव को आत्मा के स्वभाव रूप से ग्रहण करता हैं वैसे वह ज्ञेय पदार्थो के स्वभाव को ग्रहण नही करता है। (णेव उप्पज्जदि) और न वह उन रूप पैदा होता है अर्थात् जैसे वह विकार रहित परमानंदमयी एक सुखरूप अपनी ही सिद्ध पर्याय करके उत्पन्न होता है वैसा वह शुद्ध आत्मा ज्ञेय पदार्थो के स्वभाव मे पैदा नही होता है। (तेण) इस कारण से (अबंधगो) कर्मो का बंध नहीं करने वाला (पण्णत्तो) कहा गया है।**

भाव यह है कि रागद्वेष रहित ज्ञान बंध का कारण नही होता है, ऐसा जानकर शुद्ध आत्मा का प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसा जो मोक्ष उससे उलटा जो नरक आदि के दुःखों की कारणभूत कर्म बंध की अवस्था, जिस बंध अवस्था के कारण इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले एक देश ज्ञान उन सर्व को त्याग कर सर्व प्रकार निर्मल ज्ञान जो कर्म बंध का कारण नहीं है उसका बीजभूत जो विकाररहितस्वसवेदनज्ञान या स्वानुभव उसमे ही भावना करनी योग्य है, ऐसा अभिप्राय है ॥५२॥

अथ ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानानन्तर ज्ञानाधारसर्वज्ञ नमस्करोति—

तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसबधो।
भत्तो करेदि णिच्च उवजुत्तो त तहावि अहं ॥५२-१॥

करेदि करोति। स कः? **लोगो** लोकः। कथभूत ? **देवासुरमणुअरायसबधो** देवासुरमनुष्यराजसबन्ध। पुनरपि कथभूत ? **भत्तो** भक्त। **णिच्च** नित्य सर्वकाल। पुनरपि किविशिष्ट ? **उवजुत्तो** उपयुक्त उद्यत। इत्थम्भूतो लोक का करोति? **णमाइ**नमस्या नमस्क्रिया। कस्य ? **तस्स** तस्य पूर्वोक्तसर्वज्ञस्य। **त तहावि** अह त सर्वज्ञ तथा तेनैव प्रकारेणाहमपि ग्रन्थकर्ता नमस्करोमीति। अयमत्रार्थ—यथा देवेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽनन्ताक्षयसुखादिगुणास्पद सर्वज्ञस्वरूप नमस्कुर्वन्ति, तथैवाहमपि तत्पदाभिलाषी परमभक्त्या प्रणमामि। ५२-१॥

एवमष्टाभिः स्थलैर्द्वात्रिंशद्गाथास्तदनन्तरं नमस्कारगाथा चेति समुदायेन त्रयस्त्रिंशत्सूत्रैर्ज्ञानप्रपञ्च—नामा तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

अथ सुखप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारेऽष्टादश गाथा भवन्ति । अत्र पञ्चस्थलानि, तेषु प्रथमस्थले "अत्थि अमुत्तं" इत्याद्यधिकारगाथासूत्रमेकं, तदनन्तरमतीन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन "जं पेच्छदो" इत्यादि सूत्रमेकं, अथेन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन "जीवो सयं अमुत्तो" इत्यादि गाथाचतुष्टयं अथानन्तरमिन्द्रियसुखप्रतिपादनरूपेण गाथाष्टकं, तत्राप्यष्टकमध्ये प्रथमतः इन्द्रियसुखस्य दुःखत्वस्थापनार्थं "मणुआ सुरा" इत्यादि गाथाद्वयं, अथ मुक्तात्मनां देहाभावेपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं देहः सुखकारणं न भवतीति कथनरूपेण "पप्पा इट्ठे विसये" इत्यादि सूत्रद्वयं, तदनन्तरमिन्द्रियविषया अपि सुखकारणं न भवन्तीति कथनेन "तिमिरहरा" इत्यादि गाथाद्वयं, अतोपि सर्वज्ञनमस्कारमुख्यत्वेन "तेजोदिट्ठि" इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं पञ्चमस्थले अन्तरस्थलचतुष्टयं भवतीति सुखप्रपञ्चाधिकारे समुदायपातनिका ॥

उत्थानिका—आगे ज्ञान-प्रपंच के व्याख्यान के पीछे ज्ञान के आधार सर्वज्ञ भगवान को नमस्कार करते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**जैसे (देवासुरमणुअरायसम्बंधो) कल्पवासी, भवनत्रिक तथा मनुष्यों के इन्द्रों सहित (भत्तो) भक्तिमान (उवजुत्तो) तथा उद्यमवंत (लोगों) यह लोक (तस्स णमाइ) उस सर्वज्ञ को नमस्कार (णिच्चं) सदा (करेदि) करता है (तहावि) तैसे ही (अहं) मै ग्रन्थकर्त्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य (तं) उस सर्वज्ञ को नमस्कार करता हूँ ।**

भाव यह है कि जैसे देवेन्द्र व चक्रवर्ती आदिक अनन्त और अक्षय सुख आदि गुणों के स्थान सर्वज्ञ के स्वरूप को नमस्कार करते है तैसे मै भी उस पद का अभिलाषी होकर परमभक्ति से नमस्कार करता हूँ ॥५२।१॥*

इस तरह आठ स्थलों के द्वारा बत्तीस गाथाओं से और उसके पीछे एक नमस्कार गाथा ऐसे तेतीस गाथाओं से ज्ञान प्रपंच नाम का तीसरा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ । आगे सुख प्रपंच नाम के अधिकार मे अठारह गाथाएं है जिसमे पांच स्थल है, उनमें से प्रथम स्थल मे "अत्थि अमुत्तं' इत्यादि अधिकार गाथा सूत्र एक है, उसके पीछे अतीन्द्रिय ज्ञान की मुख्यता से 'जं पेच्छदो' इत्यादि सूत्र एक है । फिर इन्द्रियजनितज्ञान की मुख्यता से 'जीवो सयं अमुत्तो' इत्यादि गाथाएं चार है फिर अभेदनय से केवलज्ञान ही सुख है ऐसा कहते हुए गाथाएं ४ है । फिर इन्द्रिय-सुख का कथन करते हुए गाथाएं आठ है । इनमे भी पहले इद्रियसुख का रूप स्थापित करने के लिये 'मणुआसुरा' इत्यादि गाथाएं दो है । फिर मुक्त आत्मा के देह न होने पर भी सुख है इस बात को बताने के लिये देह सुख का कारण नही है, इसे जनाते हुए "पप्पा इट्ठे विसये" इत्यादि सूत्र दो है । फिर इन्द्रियों के विषय

* इस गाथा की टीका श्री अमृतचन्द्रसूरि ने नही की है ।

भी सुख के कारण नहीं है, ऐसा कहते हुए 'तिमिरहरा' इत्यादि गाथाएं दो है, फिर सर्वज्ञ को नमस्कार करते हुए 'तेजो दिट्ठि' इत्यादि सूत्र दो है ? इस तरह पांच अतर अधिकार मे समुदाय पातनिका है ।

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूप प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति—

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

अस्त्यमूर्त मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रिय चार्थेषु ।
ज्ञानञ्च तथा सौख्य यत्तेषु परञ्च तत् ज्ञेयम् ॥५३॥

अत्र ज्ञानं सौख्यं च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति । इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति । तत्र यदमूर्तमतीन्द्रियं च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम् । तत्राद्यं मूर्ताभि. क्षायोपशमिकीभिरुपयोगशक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमानं परायत्तत्वात् कादाचित्कत्व, क्रमकृतप्रवृत्ति–सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम् । इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्योऽतीन्द्रियेभ्यः स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्य. समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्य, युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्यं चोपादेयम् ॥५३॥

भूमिका—अब, ज्ञान से अभिन्न रूप सुख के स्वरूप को विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए ज्ञान और सुख की हेय-उपादेयता का विचार करते है—

अन्वयार्थ—[अर्थेषु ज्ञान] पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान [अमूर्त-मूर्त] अमूर्त या मूर्त, [अतीन्द्रिय ऐन्द्रिय च अस्ति] अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय होता है, [च तथा सौख्य] और इसी प्रकार (अमूर्त या मूर्त, अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिक) सुख होता है । [तेषु च यत् पर] उन (दो प्रकार के ज्ञान-सुख) मे जो (अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख) प्रधान (उत्कृष्ट) है [तत् ज्ञेय] वह अमूर्त-अतीन्द्रियज्ञान और सुख (उपादेयरूप) जानने योग्य है ।

टीका—(ज्ञान तथा सुख दो प्रकार का है उनमे से यहाँ) एक ज्ञान तथा सुख मूर्त है और इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला इन्द्रियज है और दूसरा (ज्ञान तथा सुख) अमूर्त है और अतीन्द्रिय है, उसमे जो अमूर्त और अतीन्द्रिय है वह प्रधान होने से उपादेय रूप से जानने योग्य है ।

(गाथा का अर्थ पूरा हो गया । अब इसके भाव को टीकाकार स्वयं स्पष्ट करते है)

वहां (उनमें से) पहला ज्ञान तथा सुख (१) मूर्तरूप (२) क्षायोपशमिक (३) उपयोग शक्तियों से उस-उस प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ, पराधीन होने से कादाचित्क (अनित्य) क्रमशः प्रवृत्त होने वाला, सप्रतिपक्ष और हानि-वृद्धियुक्त है। इसलिये गौण है, और गौण होकर वह हेय है।

दूसरा ज्ञान तथा सुख (१) अमूर्तरूप (२) चैतन्यानुविधायी, (३) एकाकी, (४) आत्म-परिणाम-शक्तियों से तथाविध अतीन्द्रिय, (५) स्वाभाविक चिदाकार परिणामों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त आत्माधीन होने से नित्य, युगपत् प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष, और हानि वृद्धि से रहित है। इसलिये मुख्य है और मुख्य होकर वह (अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख) उपादेय है ॥५३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथातीन्द्रियसुखस्योपादेयभूतस्य स्वरूप प्रपञ्चयन्नतीन्द्रियज्ञानमतीन्द्रियसुख चोपादेयमिति, यत्पुनरिन्द्रियज ज्ञान सुखं च तद्धेयमिति प्रतिपादनरूपेण प्रथमतस्तावदधिकारस्थलगाथया स्थल-चतुष्ठय सूत्रयति,—

अत्थि अस्ति विद्यते। किं कर्तृ ? **णाण** ज्ञानमिति भिन्नप्रक्रमो व्यवहितसम्बन्धः। किविशिष्ट ? **अमुत्तं मुत्त** अमूर्त मूर्त च। पुनरपि किविशिष्ट ? **अदिदिय इंदियं च** यदमूर्तं तदतीन्द्रिय-मूर्त पुनरिन्द्रियज। इत्थभूत ज्ञानमस्ति। केषु विषयेषु ? **अत्थेसु** ज्ञेयपदार्थेषु, **तहा सोक्खं च** तथैव ज्ञानवदमूर्तमतीन्द्रिय मूर्तमिन्द्रियज च सुखमिति। **ज तेसु पर च त णेय** यत्तेषु पूर्वोक्तज्ञानसुखेषु मध्ये परमुत्कृष्टमतीन्द्रिय तदुपादेयमिति ज्ञातव्यम्।

तदेव विव्रियते—अमूर्ताभि क्षायिकीभिरतीन्द्रियाभिश्चिदानन्दैकलक्षणाभि. शुद्धात्मशक्ति-भिरुपन्नत्वादतीन्द्रियज्ञान सुख चात्माधीनत्वेनाविनश्वरत्वादुपादेयमिति पूर्वोक्तामूर्तशुद्धात्मशक्तिभ्यो विलक्षणाभि क्षायोपशमिकेन्द्रियशक्तिभिरुत्पन्नत्वादिन्द्रियज ज्ञान सुख च परायत्तत्वेन विनश्वरत्वाद्धे-यमिति तात्पर्यम् ॥५३॥ एवमधिकारगाथया प्रथमस्थल गतम्

उत्थानिका—आगे अतीन्द्रियसुख जो उपादेय रूप है उसका स्वरूप कहते हुये अतीन्द्रियज्ञान तथा अतीन्द्रियसुख उपादेय है और इन्द्रियजनितज्ञान और सुख हेय है इस तरह कहते हुये पहले अधिकार स्थल की गाथा से चार स्थल का सूत्र कहते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अत्थेसु) ज्ञेय पदार्थो के सम्बन्ध में (णाणं) ज्ञान (अमुत्तं) जो अमूर्तिक है सो (अदिंदियं) अतीन्द्रिय है तथा (मुत्तं) जो मूर्तिक है सो (इन्दियं) इन्द्रिय-जन्य (अत्थि) है (तहा च सोक्खं) तैसे ही अर्थात् ज्ञान की तरह अमूर्तिकसुख अतीन्द्रिय है तथा मूर्तिकसुख इन्द्रिय-जन्य है (तेसु जं परं) इन ज्ञान और सुखों में जो उत्कृष्ट अतीन्द्रिय है (तं च णेयं) उनको ही, उपादेय है ऐसा जानना चाहिये।**

इसका विस्तार यह है कि अमूर्तिक, क्षायिक, अतीन्द्रिय, चिदानन्द लक्षण—स्वरूप शुद्धात्मा की शक्तियों से उत्पन्न होने वाला अतीन्द्रियज्ञान और सुख आत्मा के ही अधीन होने से अविनाशी है, इससे उपादेय है तथा पूर्व मे कहे हुए अमूर्त शुद्ध आत्मा की शक्ति से विलक्षण जो क्षायोपशमिक इन्द्रियों की शक्तियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान और सुख हैं, वे पराधीन होने से विनाशवान है, इसलिये हेय है, ऐसा तात्पर्य है। अतीन्द्रियज्ञान व सुख की अपेक्षा इन्द्रिय-जनित ज्ञान व सुख हेय है, सर्वथा हेय नही है ॥५३॥

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति—

जं पेच्छदो अमुत्त मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं त [1]णाणं हवदि पच्चक्क ॥५४॥

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रिञ्च प्रच्छन्नम्।
सकल स्वकञ्च इतरत् तद्ज्ञान भवति प्रत्यक्षम् ॥५४॥

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्त यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रिय यत्प्रच्छन्नं च तत्सकलं स्वपरविकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव। तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु, द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु, क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसांप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टत्वं प्रत्यक्षत्वात्। प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसन्निधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धमेकमेवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरां सामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत। अतस्तदुपादेयम् ॥५४॥

भूमिका—अब, अतीन्द्रियसुख का साधनभूत अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है, इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैः—

अन्वयार्थ—[प्रेक्षमाणस्य यत्] देखने वाले का जो ज्ञान [अमूर्त] अमूर्त को, [मूर्तेषु अतीन्द्रिय] मूर्त पदार्थो मे भी अतीन्द्रिय (परमाणु आदि) को, [च प्रच्छन्न] (काल या क्षेत्र की अपेक्षा गुप्त-इन्द्रिय-अग्राह्य को, [सकल] इन सबको [स्वय च इतरत्] स्व तथा पर को [पश्यति] देखता है (जानता है) [तत् ज्ञान] वह ज्ञान [प्रत्यक्ष भवति] प्रत्यक्ष है।

टीका—जो अमूर्त है, जो मूर्तो मे भी अतीन्द्रिय है, और जो प्रच्छन्न (काल या क्षेत्र की अपेक्षा गुप्त-इन्द्रिय है ग्राह्य नही) है, उस सबको जो कि स्व और पर इन दो

(१) तण्णाण (ज० वृ)।

भेदों मे समा जाता है, अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है। अमूर्त धर्मास्तिकाय आदि को और मूर्तो मे भी अतीन्द्रिय परमाणु इत्यादिको मे तथा द्रव्य से प्रच्छन्न काल-अणु आदिको मे, क्षेत्र से प्रच्छन्न अलोकाकाश के प्रदेश आदिको मे, काल मे प्रच्छन्न असाम्प्रतिक (भूत-भविष्यत) पर्यायो मे, तथा भाव से प्रच्छन्न स्थूल पर्यायो मे अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायो मे यानि उन सब ही मे जो कि स्व और पर की व्यवस्था मे व्यवस्थित है, प्रत्यक्ष होने से वास्तव में उस अतीन्द्रियज्ञान के दृष्टापन है (उन सबको वह अतीन्द्रियज्ञान देखता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है)।

अब इसको न्याय से आचार्य स्वयं सिद्ध करते हैं—(१) जिसको अनन्त शुद्धि का सद्भाव प्रगट हुआ है, (२) जो चैतन्य सामान्य के साथ अनादि-सिद्ध सम्बन्ध वाला है (३) एक ही अक्ष नामक आत्मा के प्रति जो नियत है, (४) जो (इन्द्रियादिक उपात्त अनुपात्त) अन्य सामग्री को नही ढूंढता है, (जिसे अन्य सामग्री की सहायता की आवश्यकता नही है) और (५) जो अनन्तशक्ति के सद्भाव के कारण अनन्तता को प्राप्त है, ऐसा वह प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे दाह्याकारों से दहन का अतिक्रमण (उलंघन) नही होता, उसी प्रकार ज्ञेयाकारों से ज्ञान का अतिक्रमण (उलंघन) न होने से यथोक्त प्रभाव का अभाव करता हुआ (उपर्युक्त अतिशयों सहित होने से) वास्तव मे वह किसके द्वारा रोका जा सकता है ? (किसी से भी नहीं रोका जा सकता)। इसलिये वह अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है ।।५४।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तमुपादेयभूतमतीन्द्रियज्ञानं विशेषेण व्यक्तीकरोति—

ज यदन्तीन्द्रिय ज्ञान कर्तृ। पेच्छदो प्रेक्षमाणपुरुषस्य जानाति। किं किं ? अमुत्त अमूर्तमतीन्द्रियनिरुपरागसदानन्दैकसुखस्वभाव यत्परमात्मद्रव्य तत्प्रभृति समस्तामूर्तद्रव्यसमूह मुत्तेसु अदिन्दिय च मूर्तेषु पुद्गलद्रव्येषु यदतीन्द्रिय परमाण्वादि पच्छण्ण कालाणुप्रभृतिद्रव्यरूपेण प्रच्छन्न व्यवहितमन्तरित, अलोकाकाशप्रदेशप्रभृति क्षेत्रप्रच्छन्न, निर्विकारपरमानन्दैकसुखास्वादपरिणतिरूप-परमात्मनो वर्तमानसमयगतपरिणामास्तत्प्रभृतयो ये समस्तद्रव्याणा वर्तमानसमयगतपरिणामास्ते कालप्रच्छन्ना, तस्यैव परमात्मन सिद्धरूपशुद्धव्यञ्जनपर्याय शेषद्रव्याणा च ये यथासम्भव व्यञ्जनपर्यायास्तेष्वन्तर्भूता प्रतिसमयप्रवर्तमानषट्प्रकारवृद्धिहानिरूपा अर्थपर्याया भावप्रच्छन्ना भण्यन्ते। सयल तत्पूर्वोक्त समस्त ज्ञेय द्विधा भवति। कथमिति चेत् ? सग च इदरं किमपि ? यथासम्भव स्वद्रव्यगत इतरत्परद्रव्यगत च तदुभय यत कारणाज्जानाति तेन कारणेन तण्णाण तत्पूर्वोक्तज्ञान हवदि भवति। कथभूत ? पच्चक्ख प्रत्यक्षमिति।

अत्राह शिष्य—ज्ञानप्रपञ्चाधिकार पूर्वमेवगत अस्मिन् सुखप्रपञ्चाधिकारे सुखमेव कथनीयमिति ? परिहारमाह—यदतीन्द्रिय ज्ञान पूर्व भणित तदेवाभेदनयेन सुख भवतीति ज्ञापनार्थं, अथवा ज्ञानस्य मुख्यवृत्त्या तत्र हेयोपादेयचिन्ता नास्तीति ज्ञापनार्थं वा। एवमतीन्द्रियज्ञानमुपादेय-मिति कथनमुख्यत्वेनैकगाथया द्वितीयस्थल गतम् ।।५४।।

उत्थानिका—आगे उसी पूर्व मे कहे हुए अतीन्द्रियज्ञान का विशेप वर्णन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(पेच्छदो) अच्छो तरह देखने वाले केवलज्ञानी पुरुष का (जं) जो अतीन्द्रिय केवलज्ञान है सो (अमुत्त) अमूर्तिक को अर्थात् अतीन्द्रिय तथा राग रहित सदा आनन्दमयी सुखस्वभाव के धारी परमात्मद्रव्य को आदि लेकर सब अमूर्तिकद्रव्य समूह को, (मुत्तेसु) मूर्तिक पुद्गल द्रव्यों मे (अदिंदियं) अतीन्द्रिय–इन्द्रियो के अगोचर परमाणु आदिकों को (च पच्छण्णं) तथा गुप्त को अर्थात् द्रव्यापेक्षा कालाणु आदि अप्रगट तथा दूरवर्ती द्रव्यों को, क्षेत्र अपेक्षा गुप्त अलोकाकाश के प्रदेशादिकों को, काल की अपेक्षा प्रच्छन्न–विकाररहित परमानन्दमयी एक सुख के आस्वादन की परिणति रूप परमात्मा के वर्तमान समय सम्बन्धी परिणामों को आदि लेकर सब द्रव्यो की वर्तमान समय की पर्यायो को तथा भाव की अपेक्षा उस ही परमात्मा की सिद्ध रूप शुद्ध व्यजन तथा अन्य द्रव्यों की जो यथासंभव व्यंजनपर्याय उनमे अतर्भूत अर्थात् मग्न जो प्रति समय मे वर्तन करने वाली छ प्रकार वृद्धि हानि स्वरूप अर्थ-पर्याय इन सब प्रच्छन्न द्रव्य क्षेत्र काल भावों को; और (सगं च इदरं) जो कुछ भी यथासम्भव अपना द्रव्य सम्बन्धी तथा परद्रव्य सम्बन्धी या दोनो सम्बन्धी है (सयल) उन सर्व ज्ञेय पदार्थो को जानता है (त णाण) वह ज्ञान (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष (हवदि) होता है।

यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया कि ज्ञान-प्रपंच का अधिकार तो पहले ही हो चुका। अब इस सुख प्रपंच के अधिकार में तो सुख का ही कथन करना योग्य है? इसका समाधान यह है कि जो अतीन्द्रियज्ञान पहले कहा गया है वह ही अभेदनय से सुख है इसकी सूचना के लिये अथवा ज्ञान की मुख्यता से सुख है क्योंकि इस ज्ञान मे हेय उपादेय की चिंता नही है इसके बताने के लिये कहा है। इस तरह अतीन्द्रियज्ञान ही ग्रहण करने योग्य है, ऐसा कहते हुए एक गाथा द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥५४॥

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण[1] जाणादि ॥५५॥

जीव स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम्।
अवगृह्य योग्य जानाति वा तन्न जानाति ॥५५॥

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलभ्य च तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्त

१ तण्ण।

स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलभ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तदसंभवान्नावगच्छति । परोक्षत्वात् । परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलितस्यानादिसिद्धचैतन्यसामान्यसबन्धस्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यन्तविसंष्ठुलत्वमवलम्बमानमनन्तायाः शक्तेः परिस्खलनान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभावनामेव परमार्थतोऽर्हति । अतस्तद्धेयम् ॥५५॥

भूमिका—अब, इन्द्रियसुख का साधनभूत इन्द्रियज्ञान हेय है, इस प्रकार उसकी निन्दा करते है—

अन्वयार्थ—[स्वय अमूर्त.] स्वयं अमूर्त [जीव.] जीव [मूर्तिगतः] मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ [तेन मूर्तेन] उस मूर्त शरीर के द्वारा [योग्य मूर्त] (इन्द्रिय से ग्रहण) योग्य मूर्त पदार्थ को [अवग्रह्य] अवग्रह करके [जानाति] जानता है [वा तत् न जानाति] अथवा उसको नही जानता है (कभी जानता है और कभी नही जानता है)।

टीका—इन्द्रियज्ञान वास्तव में मूर्त-उपलम्भक है और मूर्त-उपलभ्य है। अर्थात् इन्द्रियज्ञान जिस चीज के द्वारा जानता है वह भी मूर्त है और जिस चीज को जानता है वह भी मूर्त है। उस इन्द्रियज्ञान वाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त पंचेन्द्रियात्मक शरीर को प्राप्त होता हुआ, ज्ञप्ति उत्पन्न करने मे बलधारण (बल देने रूप) निमित्त होने से जो उपलम्भक है, ऐसे उस मूर्त (शरीर) के द्वारा ज्ञेयता तथा योग्यता को प्राप्त मूर्त स्पर्श आदि प्रधान वस्तु को अवग्रह करके, कदाचित् उससे ऊपर ऊपर की शुद्धि के सद्भाव के कारण जानता है और कदाचित् अवग्रह के ऊपर ऊपर की शुद्धि के असद्भाव के कारण नही जानता है, क्योंकि वह (इन्द्रियज्ञान) परोक्ष है। अब इसको न्याय से सिद्ध करते हैं। चैतन्य—सामान्य के साथ जिसका अनादि-सिद्ध सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढतर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकारसमूह) द्वारा आवृत्त होने से संकुचित हो गया है (और इसलिये) स्वयं पदार्थो को जानने के लिये असमर्थ हो गया है, ऐसे आत्मा के, (१) उपात्त और अनुपात्त पर–पदार्थ रूप कारण—सामग्री को ढूंढने की व्यग्रता से अत्यन्त चचल-तरल अस्थिरता को अवलम्बन करता हुआ, (२) अनन्तशक्ति से च्युत होने से अत्यन्त विक्लव (खिन्न) वर्तता हुआ, (३) महामोह मल्ल के जीवित अवस्था मे रहने से पर-परिणति का (पर को परिणमित करने का) अभिप्राय करने पर भी पद पद पर

ठगाई को प्राप्त होता हुआ—वह परोक्षज्ञान वास्तव में न जानने की सम्भावना को प्राप्त है। इसलिये वह इन्द्रियज्ञान हेय है ॥५५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ हेयभूतस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वादल्पविषयत्वाच्चेन्द्रियज्ञानं हेयमित्युपदिशति—

जीवो सयं अमुत्तो जीवस्तावच्छक्तिरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनामूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखस्वभाव, पश्चादनादिबन्धवशाद् व्यवहारनयेन **मुत्तिगदो** मूर्तशरीरगतो मूर्तशरीरपरिणतो भवति। **तेण मुत्तिणा** तेन मूर्तशरीरेण मूर्तशरीराधारोत्पन्नमूर्तद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाधारेण **मुत्तं** मूर्तं वस्तु **ओगेण्हित्ता** अवग्रहादिकेन क्रमकरणव्यवधानरूपं कृत्वा **जोग्गं** तत्स्पर्शादिमूर्तं वस्तु। कथंभूत ? इन्द्रियग्रहणयोग्यं **जाणदि वा तण्ण जाणादि** स्वावरणक्षयोपशमयोग्यं किमपि स्थूलं जानाति, विशेषक्षयोपशमाभावात् सूक्ष्मं न जानातीति।

अयमत्र भावार्थः—इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव परोक्षं तु यावतांशेन सूक्ष्मार्थं न जानाति तावतांशेन चित्तखेदकारणं भवति। खेदश्च दुःखं, ततो दुःखजनकत्वादिन्द्रियज्ञानं हेयमिति ॥५५॥

उत्थानिका—आगे त्यागने योग्य इन्द्रियसुख का कारण होने से तथा अल्प विषय के जानने की शक्ति होने से इन्द्रियज्ञान त्यागने योग्य है ऐसा उपदेश करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवो सयं अमुत्तो) जीव स्वयं अमूर्तिक है अर्थात् शक्तिरूप से व शुद्धद्रव्यार्थिकनय से अमूर्तिक अतीन्द्रियज्ञान और सुखमयी स्वभाव को रखता है तथा अनादिकाल से कर्म बंध के कारण से व्यवहार मे (मुत्तिगदो) मूर्तिक शरीर मे प्राप्त है व मूर्तिमान शरीरों द्वारा मूर्ति कसा होकर परिणमन करता है (तेण मुत्तिणा) उस मूर्तशरीर के द्वारा अर्थात् उस मूर्तिकशरीर के आधार मे उत्पन्न जो मूर्तिक द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय, उनके आधार से (जोग्गं मुत्तं) योग्य मूर्तिक वस्तु को अर्थात् स्पर्शादि इंद्रियो से ग्रहण योग्य मूर्तिक पदार्थ को (ओगेण्हित्ता) अवग्रह आदि से क्रम-क्रम से ग्रहण करके (जाणदि) जानता है अर्थात् अपने आवरण के क्षयोपशम के योग्य कुछ भी स्थूल पदार्थ को जानता है (वा तण्ण जाणादि) तथा उस मूर्तिक पदार्थ को नही भी जानता है, विशेष क्षयोपशम के न होने से सूक्ष्म या दूरवर्ती, व काल से प्रच्छन्न व भूतभावी काल के बहुत से मूर्तिक पदार्थो को नहीं जानता है। यहाँ यह भावार्थ है कि इन्द्रियज्ञान यद्यपि व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा जाता है तथापि निश्चय से केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष ही है। परोक्ष होने से जितने अंश मे वह सूक्ष्म पदार्थ को नही जानता है उतने अंश में जानने की इच्छा होते हुए न जान सकने से चित्त को खेद का कारण होता है, खेद ही दुःख है इसलिये दुःखो को पैदा करने से इन्द्रियज्ञान त्यागने योग्य है ॥५५॥**

अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति—

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला[1] होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ।।५६।।

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्ण. शब्दश्च पुद्गला भवन्ति ।
अक्षाणा तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति । ५६।।

इन्द्रियाणां हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधानाः शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः । अथेन्द्रियैर्युगपत्तेऽपि न गृह्यन्ते, तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात् । इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकायाः परिच्छेत्र्याः शक्तेरन्तरङ्गायाः काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकतः प्रकाशयितुमसमर्थत्वात्सत्स्वपि द्रव्येन्द्रियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोधः सिद्ध्येत्, परोक्षत्वात् ।।५६।।

भूमिका—अब, इन्द्रियों के अपने विषय मात्र मे भी युगपत् प्रवृत्ति की असंभवता होने से इन्द्रियज्ञान हेय है, इस प्रकार उसकी निन्दा करते है—

अन्वयार्थ—[स्पर्श.] स्पर्श, [रस.] रस, [गध] गध, [वर्णः] वर्ण [च] और [शब्द] शब्दरूप [पुद्गला.] पुद्गल [भवन्ति] है । वे [अक्षाणा (विपयाः) भवन्ति] इन्द्रियो के विषय है । [तानि अक्षाणि] (परन्तु) वे इन्द्रियाँ [तान्] उनको [भी] [युगपत्] एक साथ [न एव गृह्णन्ति] ग्रहण नही करती है (युगपत् नही जान सकती है) ।

टीका—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण प्रधान (गुणवाला) तथा शब्दरूप पुद्गल वास्तव मे इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य है । किन्तु इन्द्रियों के द्वारा एक साथ वे पुद्गल भी ग्रहण नही होते है । क्योंकि क्षयोपशम से उस प्रकार की शक्ति का होना असम्भव हैं । क्षयोपशम नाम की अन्तरंग ज्ञातृशक्ति के कौवे की आंख की पुतली की भांति, क्रमिक प्रवृत्ति के वश से अनेकतः प्रकाश के लिये (एक ही साथ अनेक विषयों को जानने के लिये) असमर्थता होने से द्रव्येन्द्रिय द्वारो के विद्यमान होने पर भी, इन्द्रियों के युगपत् पने से समस्त इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थो का ज्ञान नही होता, क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्ष है ।।५६।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ चक्षुरादीन्द्रियज्ञान रूपादिस्वविषयमपि युगपन्न जानाति तेन कारणेन हेयमिति निश्चिनोति—

फासो रसो य गन्धो वण्णो सद्दोय पोग्गला होंति स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दा पुद्गला मूर्ता भवन्ति । ते च विषया । केषा ? अक्खाण स्पर्शनादीन्द्रियाणा ते अक्खा तान्यक्षाणीन्द्रियाणि कर्तृणि जुगव ते णेव गेण्हृति युगपत्तान् स्वकीयविषयानपि न गृह्णन्ति न जानन्तीति ।

१ पोग्गला (ज० वृ०)

अयमत्राभिप्रायः—यथा सर्वप्रकारोपादेयभूतस्यानन्तसुखस्योपादानकारणभूत केवलज्ञान युगपत्समस्त वस्तु जानत्सत् जीवस्य सुखकारण भवति तथेदमिन्द्रियज्ञान स्वकीयविषयेऽपि युगपत्परिज्ञानाभावात्सुखकारण न भवति ॥५६॥

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते है कि चक्षु आदि इन्द्रियो से होने वाला ज्ञान अपने-अपने रूप रस, गध, आदि विपयो को भी एक साथ नही जान सकता, इस कारण से त्यागने योग्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**अक्खाणं**) **स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पॉच इन्द्रियों के (फासो रसो य गधो वण्णो सद्दो य) स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण और शब्द ये पाँचों ही विषय (पोग्गला होंति) पुद्‌गलमयी है या पुद्‌गल द्रव्य है या मूर्तिक है (ते अक्खा) वे इंद्रियाँ (तेणेव) उन अपने विषयों को भी (जुगव) एक समय मे एक साथ (ण गेण्हंति) नही ग्रहण कर सकती है—नही जान सकती।**

अभिप्राय यह है कि जैसे सब तरह से ग्रहण करने योग्य अनन्तसुख का उपादान-कारण जो केवलज्ञान है सो ही एक समय में सब वस्तुओं को जानता हुआ जीव के लिये सुख का कारण होता है तैसे यह इन्द्रिय-ज्ञान अपने विषयों को भी एक समय में न जान सकने के कारण सुख का कारण नही है ॥५६॥

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा[1]।
उवलद्धं तेहि [2]कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥५७॥

परद्रव्य तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि।
उपलब्ध तैः कथ प्रत्यक्षमात्मनो भवति ॥५७॥

आत्मानमेव केवलं प्रतिनियतं केवलज्ञानं प्रत्यक्षं, इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्वयोगितया परद्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभावतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं नैवात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति ॥५७॥

भूमिका—**अब, इन्द्रिय-ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता है, यह निश्चय करते हैं:—**

अन्वयार्थ—[तानि अक्षाणि] वे इन्द्रियाँ [परद्रव्य] पर द्रव्य है। [आत्मन स्वभाव. इति] वे आत्मा के स्वभाव रूप [न एव भणितानि] नही कही गई है। [तै] उनके द्वारा [उपलब्ध] ज्ञात (जाना हुआ ज्ञान) [आत्मनः] आत्मा को [प्रत्यक्ष] प्रत्यक्ष [कथ भवति] कैसे हो सकता है ? (यानि नही हो सकता)।

---

१ भणिया (ज० वृ०)। २ कह (ज० वृ०)।

टीका—जो केवल आत्मा के प्रति ही नियत हो, वह केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो भिन्न अस्तित्व वाली होने से परद्रव्यत्व को प्राप्त हुई है, और आत्मा के स्वभावपने को किंचित् मात्र भी स्पर्श नही करती ऐसी इन्द्रियो के द्वारा उपलब्धि करके (ऐसी इन्द्रियो के निमित्त से पदार्थो को जानकर) उत्पन्न हुआ यह (इन्द्रियज्ञान) आत्मा के प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं है ॥५६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथेन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षं न भवती त व्यवस्थापयति —

परदव्व ते अक्खा तानि प्रसिद्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि परद्रव्य भवन्ति। कस्य ? आत्मन **णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिया** योसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मन सबन्धी तत्स्वभावानि निश्चयेन न भणितानीन्द्रियाणि। कस्मात् ' भिन्नास्तित्वनिष्पन्नत्वात्। **उवलद्ध तेहि** उपलब्ध ज्ञात यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूत वस्तु तैरिन्द्रियै' **कहं पच्चक्ख अप्पणो होदि** तद्वस्तु कथ प्रत्यक्ष भवत्यात्मनो ? न कथमपीति। तथैव च नानामनोरथव्याप्तिविषये प्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पजालरूप यन्मनस्तदपीन्द्रियज्ञानवन्निश्चयेन परोक्ष भवतीति ज्ञात्वा। कि कर्तव्य ? सकलैकाखण्डप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमज्योतिःकारणभूते स्वशुद्धात्मस्वरूपभावनासमुत्पन्नपरमाह्लादैकलक्षणसुखसवित्त्याकारपरिणतिरूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या इत्यभिप्राय ॥५७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि इद्रियज्ञान प्रत्यक्ष नही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(ते अक्खा) वे प्रसिद्ध पाँचों इन्द्रियों (अप्पणो) आत्मा की अर्थात् विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी आत्मा की (सहावो णेव भणिया) स्वभाव रूप निश्चय से नही कही गई है क्योकि उनकी उत्पत्ति भिन्न पदार्थ से हुई है (त्ति परं दव्वं) इसलिये वे परद्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्यमयी है (तेहि उवलद्धं) उन इन्द्रियों के द्वारा जाना हुआ उन्ही के विषय योग्य पदार्थ सो (अप्पणो पच्चक्खं कहं होदि) आत्मा के प्रत्यक्ष किस तरह हो सकता है ? अर्थात् किसी भी तरह नही हो सकता है। जैसे पाँचो इन्द्रियाँ आत्मा के स्वरूप नही है ऐसे ही नाना मनोरथो के करने मे 'यह बात कहने योग्य है, मै कहने वाला हूँ' इस तरह नाना विकल्पों के जाल को बनाने वाला जो मन है वह भी इन्द्रियज्ञान की तरह निश्चय से परोक्ष ही है, ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते है—सर्व पदार्थो को एक साथ अखंड रूप से प्रकाश करने वाले परम ज्योतिस्वरूप केवलज्ञान के कारण रूप तथा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न परम आनन्द एक लक्षण को रखने वाले सुख के वेदन के आकार मे परिणमन करने वाले और रागद्वेषादि विकल्पो की उपाधि से रहित स्वसवेदनज्ञान मे भावना करनी चाहिये, यह अभिप्राय है ॥५७॥**

अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्षयति—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु[1] ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

यत्परतो विज्ञान तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु ।
यदि केवलेन ज्ञात भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम् ॥५८॥

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा-निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदन तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्या-लक्ष्यते । यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रिय परोपदेशमुपलब्धिसस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते । इह हि सहजसौख्यसाधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभिप्रेतमिति ॥५८॥

भूमिका—**अब, प्रत्यक्ष और परोक्ष के लक्षण को बतलाते हैं**—

अन्वयार्थ—[परत·] पर के द्वारा होने वाला [यत्] जो [अर्थेषु विज्ञान] पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है [तत् तु] वह तो [परोक्ष] परोक्ष [इति] इस नाम से [भणित] कहा गया है [यदि] जो [केवलेन जीवेन] मात्र जीव के द्वारा ही [ज्ञात भवति] जाना जाता है [वह प्रत्यक्ष] वह ज्ञान वास्तव मे प्रत्यक्ष है ।

टीका—**परोक्ष का लक्षण निमित्तरूप से बने हुए परद्रव्यभूत अन्त करण (मन) से, इन्द्रिय से, परोपदेश से, उपलब्धि से (ज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्राप्त लब्धि से) या प्रकाश आदिक से अपने विषय को प्राप्त पदार्थ का जो जानना है, वह (जानना) पर के द्वारा प्रगट होता हुआ 'परोक्ष' लक्षित किया जाता है अर्थात् परोक्ष है ।**

प्रत्यक्ष का लक्षण—**अन्तःकरण की इन्द्रिय की, परोपदेश की, उपलब्धि–संकार की या प्रकाश आदिक की अथवा सभी पर-द्रव्यों की अपेक्षा न करके एकमात्र आत्म-स्वभाव को ही कारण रूप से ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्याय समूचे को युगपत् (एक समय मे) ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान जो जानता है वह (जानना) केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न हुआ होने से 'प्रत्यक्ष' लक्षित किया जाता है, अर्थात् प्रत्यक्ष है ।**

सार—**यहाँ (इस प्रकरण मे) वास्तव में सहज सुख का साधनभूत ऐसा यही महा प्रत्यक्षज्ञान ही इष्ट है (उपादेय है) ॥५८॥**

---

१ अट्ठेसु (ज० वृ०) ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रत्यक्ष परोक्षलक्षणं कथयति—

ज परदो विण्णाण त तु परोक्खत्ति भणिद यत्परत सकाशाद्विज्ञान परिज्ञान भवति तत्पुनः परोक्षमिति भणित ' केषु विषयेषु ? **अट्ठेसु** ज्ञे पदार्थेषु **जदि केवलेण णाद हवदि हि** यदि केवलेनासहा येन ज्ञात भवति हि स्फुट । केन कर्तृभूतेन ' **जोवेण** जीवेन तर्हि **पच्चक्ख** प्रत्यक्ष भवतीति ।

अतो विस्तर:—इन्द्रियमनः—परोपदेशावलोकादिबहिरङ्गनिमित्तभूतात्तथैव च ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितार्थग्रहणशक्तिरूपाया उपलब्धेरर्थावधारणरूपसंस्काराच्चान्तरङ्गकारणभूतात्सकाशादुत्पद्यते यद्विज्ञान तत्पराधीनत्वात्परोक्षमित्युच्यते । यदि पुनः पूर्वोक्तसमस्तपरद्रव्यमनपेक्ष्य केवलाच्छुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मन· सकाशात्समुत्पद्यते ततोऽक्षनामानमात्मान प्रतीत्योत्पद्यमानत्वात्प्रत्यक्ष भवतीति सूत्राभिप्राय. एव हेयभूतेन्द्रियज्ञानकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन तृतीयस्थल गतम् ।।५८।।

उत्थानिका—आगे फिर भी अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का लक्षण कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अट्ठेसु) ज्ञेय पदार्थो मे (परदो) दूसरे के निमित्त या सहायता से (जं विण्णाणं) जो ज्ञान होता है (तं तु परोक्खं त्ति भणिदं) उस ज्ञान को तो परोक्ष है, ऐसा कहते है तथा (यदि केवलेण जीवेण णादं हि हवदि) जो केवल बिना किसी सहायता के जीव के द्वारा निश्चय से जाना जाता है सो (पच्चक्ख) प्रत्यक्ष ज्ञान है ।

इसका विस्तार यह है कि इंद्रिय तथा मन-सम्बन्धी जो ज्ञान है वह पर के उपदेश, प्रकाश आदि बाहरी कारणों के निमित्त से तथा ज्ञानावरणीकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए अर्थ को जानने की शक्ति रूप उपलब्धि और अर्थ को जानने रूप संस्कारमयी अन्तरंग निमित्त से पैदा होता है वह पराधीन होने से परोक्ष है, ऐसा कहा जाता है । परन्तु जो ज्ञान पूर्व मे कहे हुए सर्व परद्रव्यों की अपेक्षा न करके केवल शुद्धबुद्ध एक स्वभावधारी परमात्मा के द्वारा उत्पन्न होता है वह अक्ष कहिये आत्मा उसी के द्वारा पैदा होता है इस कारण प्रत्यक्ष है, ऐसा सूत्र का अभिप्राय है । इस तरह त्यागने योग्य इन्द्रिय-जनित ज्ञान के कथन की मुख्यता करके चार गाथाओं से तीसरा स्थल पूर्ण हुआ ।।५८।।

अथैतदेव प्रत्यक्षं पारमार्थिकसौख्यत्वेनोपक्षिपति—

जादं सयं [1]समंत णाणमणंतत्थवित्थडं[2] विमलं ।
[3]रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं त्ति एगंतियं भणि[4] ।।५९।।

जात स्वय, समत, ज्ञानमनन्तार्थविस्तृत, विमलम् ।
रहित त्ववग्रहादिभि , सुखमित्यैकान्तिक भणितम् ।।५९।।

---

१ समन्त (ज० वृ०) २ णाणमणन्थ वित्थद । ३ रहिय (ज० वृ०) । ४ भणिय (ज० वृ०) ।

स्वयं जातत्वात्, समन्तत्वात्, अनन्तार्थविस्तृतत्वात्, विमलत्वात्, अवग्रहादिरहितत्वाच्च प्रत्यक्षं ज्ञानं सुखमैकान्तिकमिति निश्चीयते, अनाकुलत्वैकलक्षणत्वात्सौख्यस्य। यतो हि परतो जायमानं पराधीनतया, असमंतमितरद्वारावरणेन, कतिपयार्थप्रवृत्तमितरार्थबुभुत्सया, समलमसम्यगवबोधेन, अवग्रहादिसहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदेन परोक्षं ज्ञानमत्यन्तमाकुलं भवति। ततो न तत् परमार्थतः सौख्यम्। इदं तु पुनरनादिज्ञानसामान्यस्वभावस्योपरि महाविकाशेनाभिव्याप्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वयं जायमानमात्माधीनतया, समन्तात्मप्रदेशान् परमसमक्षज्ञानोपयोगीभूयाभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन, प्रसभं निपीतसमस्तवस्तुज्ञेयाकारं परमं वैश्वरूप्यमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादनन्तार्थविस्तृतम् समस्तार्थाबुभुत्सया सकलशक्तिप्रतिबन्धककर्मसामान्यनिःक्रान्ततया परिस्पष्टप्रकाशभास्वरं स्वभावमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वाद्विमलम् सम्यगवबोधेन। युगपत्समर्पितत्रैसमयिकात्मस्वरूपं लोकालोकमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादवग्रहादिरहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदाभावेन प्रत्यक्ष ज्ञानमनाकुलं भवति। ततस्तत्पारमार्थिकं खलु सौख्यम् ॥५९॥

भूमिका—अब, इसी प्रत्यक्षज्ञान को पारमार्थिकसुख ऐसे (अर्थात् यह प्रत्यक्षज्ञान ही पारमार्थिकसुख है ऐसा) बतलाते हैं:—

अन्वयार्थ—(१) [स्वय जात] अपने आप से उत्पन्न (स्व-आश्रयभूत-स्वाधीन) (२) [समत] समत (सर्व प्रदेशो से जानता हुआ), (३) [अनन्तार्थविस्तृत] अनन्त पदार्थो मे फैला हुआ, (४) [विमल] निर्मल [तु] और (५) [अवग्रहादिभिः रहित] अवग्रहादि से रहित, [ज्ञान] ऐसा प्रत्यक्षज्ञान [ऐकान्तिक सुख] ऐकान्तिकसुख है (सर्वथा सुख रूप है) [इति भणित] ऐसा (सर्वज्ञदेव के द्वारा) कहा गया है।

टीका—(१) स्वयं उत्पन्न होने से (स्वाश्रित होने से अथवा स्वाधीन होने से) (२) समन्त (सर्व प्रदेशों से जानने वाला) होने से, (३) अनन्त पदार्थो में फैला हुआ होने से, (४) कर्म मल–रहित होने से और (५) अवग्रहादि से रहित होने से, प्रत्यक्षज्ञान ऐकान्तिक सुख रूप है, यह निश्चित होता है, क्योंकि सुख का एकमात्र लक्षण अनाकुलता है। इसी बात को विस्तारपूर्वक समझाते हैं:—

ऐन्द्रिय परोक्षज्ञान की दुखरूपता—(१) पर से उत्पन्न होता हुआ पराधीन होने (के कारण) से, (२) असमन्त (कुछ प्रदेशों द्वारा जानता हुआ) इतर द्वारों के आवरण (के कारण) से, (३) कुछ पदार्थो में प्रवर्तमान होना हुआ अन्य पदार्थो को जानने की इच्छा (के कारण) से, (४) कर्म मल सहित होता हुआ असम्यक् (विपरीत या अस्पष्ट)

जानने के कारण से और (५) अवग्रहादि सहित होता हुआ क्रम-पूर्वक पदार्थ ग्रहण के खेद के कारण से (इन ५ कारणों से) परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुल (दुःखमयी) होता है। इसलिये वह परमार्थ से सुख रूप नहीं है। अतीन्द्रिय-प्रत्यक्षज्ञान की सुखरूपता—(१) अनादिज्ञान सामान्य रूप स्वभाव के ऊपर महा विकास से व्याप्त होकर स्वतः ही व्यवस्थित रहने से स्वयं उत्पन्न हुआ आत्माधीनता से, (२) परम प्रत्यक्षज्ञानोपयोग रूप होकर समस्त आत्म-प्रदेशों को व्याप्त करके व्यवस्थित पने के कारण से, समन्त हुआ यानि-सम्पूर्ण द्वार के खुल जाने के कारण से, (३) समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाता हुआ, परम विविधता को व्याप्त होकर व्यवस्थित रहने से, अनन्त पदार्थों में विस्तृत होता सर्व पदार्थों को जानने की इच्छा का अभाव होने से, (४) सकल शक्ति को रोकने वाले कर्म सामान्य के (सम्पूर्ण ज्ञानावरण के) निकल जाने के कारण से, अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश के द्वारा प्रकाशमान स्वभाव में व्याप्त होकर व्यवस्थित रहने से, विमल होता हुआ सम्यक्तया जानने के कारण से तथा (५) जिनने त्रिकाल का अपना स्वरूप युगपत् समर्पित किया है ऐसे लोकालोक व्याप्त होकर व्यवस्थित रहने से, अवग्रह आदि से रहित होता हुआ क्रमपूर्वक किये गये परार्थ ग्रहण के खेद का अभाव होने से (इन पाँच कारणों से) यह प्रत्यक्षज्ञान अनाकुल (आकुलता रहित) सुखरूप है। इसीलिये वह (प्रत्यक्षज्ञान) वास्तव मे पारमार्थिक सुखरूप है ॥५६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथाभेदनयेन पञ्चविशेषणविशिष्ट केवलज्ञानमेव सुखमिति प्रतिपादयति—

जादं जात उत्पन्न। कि कर्तृ ? **णाण** केवलज्ञान। कथ जात ? **सयं** स्वयमेव। पुनरपि किविशिष्ट ? **समत्तं** परिपूर्ण। पुनरपि किंरूप ? **अणंतत्थवित्थदं** अनन्तार्थविस्तीर्णम्। पुनः कीदृश ? **विमलं** सशयादिमलरहित। पुनरपि। कीदृक् ? **रहियं तु ओग्गहादिहिं** अवग्रहादिरहित चेति एव पञ्चविशेषणविशिष्ट यत्केवलज्ञान **सुहत्ति एगंतिय भणियं** तत्सुख भणित। कथभूत ? ऐकान्तिक नियमेनेति।

तथाहि—परनिरपेक्षत्वेन चिदानन्दैकस्वभाव निजशुद्धात्मानमुपादानकारणं कृत्वा समुत्पद्यमानत्वात्स्वय जायमान सत्सर्वशुद्धात्मप्रदेशाधारत्वेनोत्पन्नत्वात्समस्तं सर्वज्ञानाविभागपरिच्छेदपरिपूर्ण सत् समस्तावरणक्षयेनोत्पन्नत्वात्समस्तज्ञेयपदार्थग्रहाकत्वेन विस्तीर्ण सत् संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेन सूक्ष्मादिपदार्थपरिच्छित्तिविषयेऽत्यन्तविशदत्वाद्विमल सत् क्रमकरणव्यवधानजनितखेदाभावादवग्रहादिरहित च सत्, यदेव पञ्चविशेषणविशिष्ट क्षायिकज्ञान तदनाकुलत्वलक्षणपरमानन्दैकरूपपारमार्थिकसुखात्सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभिन्नत्वात्पारमार्थिकसुख भण्यते। इत्यभिप्राय ॥५६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि अभेदनय से पाँच विशेपण सहित केवलज्ञान ही सुखरूप है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णाणं) यह केवलज्ञान (सयं जादं) स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ है, (समत्तं) परिपूर्ण है (अणंतत्थवित्थदं) अनन्त पदार्थो मे व्यापक है, (विमलं) संशय आदि मलो से रहित है, (ओग्गहादिहिं तु रहियं) अवग्रह, ईहा अवाय, धारणा आदि के क्रम से रहित है। इस तरह पाँच विशेषणो से गर्भित जो केवलज्ञान है वही (एगंतियं) नियम करके (सुहं त्ति भणिय) सुख है, ऐसा कहा गया है।

भाव यह है कि यह केवलज्ञान पर-पदार्थो की सहायता की अपेक्षा न करके चिदानन्दमयी एक स्वभाव रूप अपने ही शुद्धात्मा के एक उपादानकारण से उत्पन्न हुआ है इसलिये स्वयं पैदा हुआ है, सर्व शुद्ध आत्मा के प्रदेशो मे प्रगटा है इसलिये सम्पूर्ण है, अथवा सर्वज्ञान के अविभाग–प्रतिच्छेद अर्थात् शक्ति के अंश उनसे परिपूर्ण है, सर्व-आवरण के क्षय होने से पैदा होकर सर्व ज्ञेय पदार्थो को जानता हे इससे अनन्त पदार्थ व्यापक है, संशय, विमोह विभ्रम से रहित होकर व सूक्ष्म आदि पदार्थो के जानने मे अत्यन्त विशद होने से निर्मल है। तथा क्रमरूप इन्द्रियजनित ज्ञान के खेद के अभाव से अवग्रहादि-रहित अक्रम है। ऐसा यह पाँच विशेषण सहित क्षायिकज्ञान अनाकुलता लक्षण को रखने वाला परमानन्दमयी एक रूप पारमार्थिकसुख से सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भेदरूप होने पर भी निश्चयनय से अभिन्न होने से पारमार्थिक या सच्चा स्वाभाविक सुख कहा जाता है, यह अभिप्राय है ।।५६।।

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य सम्भवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे—

जं केवलत्ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो[1] जम्हा घादी[2] खयं जादा ।।६०।।

यत् केवलमिति ज्ञान तत् सौख्य परिणामश्च सश्चैव।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षय जातानि ।।६०।।

अत्र को हि नाम खेदः, कश्च परिणामः कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेक, यतः केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात्। खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवलं परिणाममात्रम्। घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थ प्रत्यात्मानं यत परिणामयन्ति, ततस्तानि तस्य-प्रत्यर्थं परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते। तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः। यतश्च त्रिसमयावच्छि-

१ भणिओ (ज० वृ०)। २ खादिक्खय (ज० वृ०)।

न्तसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूत चित्रभित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, तत कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः, यतश्च समस्तस्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरङ्कुशानन्तशक्तितया, सकलं त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कूटस्थत्वेनात्यन्तनिःप्रकम्पं व्यवस्थितत्वादनाकुलतां सौख्य-लक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्तां बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम्। ततः कुत केवलसुखयोर्व्यतिरेकः। अतः सर्वथा केवलं सुखमैकान्तिकमनुमोदनीयम् ॥६०॥

भूमिका—अब, केवलज्ञान के भी परिणाम–द्वार से (परिणमन होने के कारण) संभवते खेद के होने से ऐकान्तिक (सर्वथा) सुखपना नही है, इस अभिप्राय का खण्डन करते है—

अन्वयार्थ—[यत्] जो [केवल इति ज्ञान] 'केवल' नाम का ज्ञान है [तत् सौख्य] वह सुख है [च] और [परिणाम] परिणाम भी [स एव] वह ही है। [तस्य खेद. न भणित] उसके खेद नही कहा गया है [यस्मात्] क्योकि [घातीनि] घातिकर्म [क्षय जातानि] क्षय को प्राप्त हो गये है।

टीका—यहाँ (केवलज्ञान के सम्बन्ध में) खेद क्या है? (२) परिणाम क्या है? तथा (३) केवलज्ञान और सुख में भिन्नता क्या है? कि जिससे केवलज्ञान के ऐकान्तिक (सर्वथा) सुखपना न हो? (१) खेद के आयतन (स्थान) घातिकर्म है, केवल परिणाम मात्र (खेद का स्थान) नहीं है। क्योंकि घातिकर्म महामोह के उत्पादक होने से, उन्मत्त करने वाली वस्तु की भाँति, अतत् में तत्-बुद्धि कराकर आत्मा को ज्ञेय पदार्थ के प्रति परिणमन कराते है, इसलिये वे (घातिकर्म) प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित हो-होकर थकने वाले उस आत्मा के लिये खेद के कारणपने को प्राप्त होते है। उन (घातिकर्मो) का अभाव हो जाने से केवलज्ञान में खेद की प्रगटता किस कारण से हो सकती है? (यानि नही हो सकती)। (२) और क्योंकि तीनकाल–जितने (त्रैकालिक) समस्त पदार्थो की ज्ञेयाकार रूप विविधता को प्रकाशित करने का स्थान–भूत (केवलज्ञान) चित्रित दीवार की भांति स्वयं ही अनन्त स्वरूप परिणमन करता हुआ केवलज्ञान ही परिणाम है। इसलिये अन्य परिणाम कहाँ है कि जिसके द्वारा खेद की उत्पत्ति हो? (अर्थात् नहीं है)। और (३) समस्त स्वभाव प्रतिघात के अभाव से निरंकुश अनन्तशक्ति के उल्लसित होने से समस्त त्रैकालिक लोकालोक के आकार को व्याप्त होकर कूटस्थपने के कारण से अत्यन्त निष्कंप व्यवस्थित रहने से आत्मा से अभिन्न सुख-लक्षणभूत अनाकुलता को धारण करता हुआ केवलज्ञान ही सुख है। इसलिये केवलज्ञान और सुख मे भिन्नता कहां है? (नही है)। इससे, 'केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है' यह सर्वथा अनुमोदन करने योग्य है ॥६०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथानन्तपदार्थपरिच्छेदनात्केवलज्ञानेऽपि खेदोस्तीति पूर्वपक्षे सति परिहारमाह—

जं केवलत्ति णाण तं सोक्खं यत्केवलमिति ज्ञान तत्सौख्य भवति, तस्मात् **खेदो तस्स ण भणिओ** तस्य केवलज्ञानस्य खेदा दु ख न भणित तदपि कस्मात् ? **जम्हा घादिक्खय जादा** यस्मान्मोहादिघातिकर्माणि क्षय गतानि । तर्हि तस्यानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामो दु खकारण भविष्यति । नैवम् । **परिणमं च सो चेव** तस्य केवलज्ञानस्य सबन्धी परिणामश्च स एव सुखरूप एवेति ।

इदानी विस्तर'—ज्ञानदर्शनावरणोदये सति युगपदर्थान् ज्ञातुमशक्यत्वात् क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति, आवरणद्वयाभावे सति युगपद्ग्रहणे केवलज्ञानस्य खेदो नास्तीति सुखमेव । तथैव तस्यभगवतो जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिसमर्थमखण्डैकरूप प्रत्यक्षपरिच्छित्तिमय स्वरूपं परिणमत्सत् केवलज्ञानमेव परिणामो न च केवलज्ञानादि्भन्नपरिणामोऽस्ति येन खेदो भविष्यति । अथवा परिणामविषये द्वितीयव्याख्यान क्रियते युगपदनन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामेपि वीर्यान्तिरायनिरवशेषक्षयादनन्तवीर्यत्वात् खेदकारण नास्ति, तथैव च शुद्धात्मसर्वप्रदेशेषु समरसीभावेन परिणममानाना सहजशुद्धानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादपरिणतिरूपामात्मन सकाशादभिन्नामनाकुलता प्रति खेदो नास्ति । संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभेदरूपेण परिणममान केवलज्ञानमेव सुख भण्यते । तत स्थितमेतत्केवलज्ञानादि्भन्न सुख नास्ति । तत एव केवलज्ञाने खेदो न सभवतीति ॥६०॥

उत्थानिका—आगे कोई शका करता है कि ज्ञब केवलज्ञान मे अनन्त पदार्थों का ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के होने मे अवश्य खेद या श्रम करना पडता होगा । इसलिये वह निराकुल नही है । इसका समाधान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जं केवलत्ति णाणं) जो केवलज्ञान है (तं सोक्खं) वही सुख है (सा चेव परिणमं च) तथा केवलज्ञान सम्बन्धी परिणाम आत्मा का स्वाभाविक परिणमन है । (जम्हा) क्योंकि (घादी खयं जादा) मोहनीय आदि घातियाकर्म नष्ट हो गये (तस्स खेदो ण भणिओ) इसलिये उस अनंत पदार्थो को जानने वाले केवलज्ञान के भीतर दुःख का कारण खेद नही कहा गया है ।**

इसका विस्तार यह है कि जहाँ ज्ञानावरण दर्शनावरण के उदय से एक साथ पदार्थो के जानने की शक्ति नहीं होती है किन्तु क्रम-क्रम से पदार्थ जानने मे आते है वही खेद होता है । दोनों दर्शन-ज्ञान आवरण के अभाव होने पर एक साथ सर्व पदार्थो को जानते हुए केवलज्ञान मे कोई खेद नहीं है, किन्तु सुख ही है । तैसे ही उन केवलो भगवान् के भीतर तीन जगत् और तीन कालवर्ती सर्व पदार्थो को एक समय में जानने को समर्थ अखंड एकरूप प्रत्यक्षज्ञानमय स्वरूप से परिणमन करते हुए केवलज्ञान ही परिणाम रहता है । कोई केवलज्ञान से भिन्न परिणाम नहीं होता है, जिससे कि खेद

होगा। अथवा परिणाम के सम्बन्ध मे दूसरा व्याख्यान करते है–एक समय में अनंत पदार्थो के ज्ञान के परिणाम मे भी वीर्यान्तराय के पूर्ण क्षय होने से अनन्तवीर्य के सद्भाव से खेद का कोई कारण नही है। वैसे ही शुद्ध आत्मप्रदेशों मे समतारस के भाव से परिणमन करने वाली तथा सहज शुद्ध आनन्दमयी एक लक्षण को रखने वाली, सुखरस के आस्वाद में रमने वाली आत्मा से अभिन्न निराकुलता के होते हुए खेद नही होता है। ज्ञान और सुख सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी निश्चय से अभेदरूप से परिणमन करता केवलज्ञान ही सुख कहा जाता है। इससे यह ठहरा कि केवलज्ञान से भिन्न सुख नहीं है, इस कारण से ही केवलज्ञान मे खेद का होना सम्भव नही है ॥६०॥

भूमिका—अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपतां निरूपयन्नुपसंहरति—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु[1] वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु[2] तं लद्धं ॥६१॥

ज्ञानमर्थान्तिगतं, लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टिः।
नष्टमनिष्टं सर्वमिष्टं पुनः यत्तु तत् लब्धम् ॥६१॥

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम्। आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तिगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः। ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम्। किंच केवलं सौख्यमेव, सर्वानिष्टप्रहाणात् सर्वेष्टोपलम्भाच्च। यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायते। ततः केवलमेव सौख्यमित्यलं प्रपञ्चेन ॥६१॥

भूमिका—अब, फिर भी केवलज्ञान की सुखस्वरूपता को निरूपण करते हुए उपसंहार करते है—

अन्वयार्थ—[ज्ञान] ज्ञान [अर्थान्तिगत] पदार्थो के पार को प्राप्त है। [दृष्टि] दृष्टि (दर्शन) [लोकालोकेषु विस्तृता] लोकालोक मे फैली हुई है। (इसलिये केवलज्ञान मुख स्वरूप है) [सर्वम् अनिष्ट] सर्व अनिष्ट [नष्ट] नष्ट हो चुका है। [पुन] और [यत् तु] जो [इष्ट] इष्ट है [तत्] वह सब [लब्ध] प्राप्त हो चुका है (इसलिये भी केवलज्ञान मुखस्वरूप है)।

टीका—सुख का कारण स्वभाव के प्रति घात का अभाव है। आत्मा का स्वभाव वास्तव मे दर्शन-ज्ञान है। (दर्शन) लोक-अलोक मे फैला होने से और (ज्ञान) पदार्थो के

१ लोयालोयेसु (ज० वृ०)। २ हि (ज० वृ०)।

पार को प्राप्त होने से (दर्शन-ज्ञान के) स्वच्छन्दतापूर्वक (स्वतन्त्रतापूर्वक) विकसित-पना होने के कारण से प्रतिघात का अभाव है। इसलिये स्वभाव के प्रतिघात का अभाव जिसका कारण है ऐसा सुख अभेद विवक्षा मे केवलज्ञान का स्वरूप है।

प्रकारान्तर से केवलज्ञान की सुखस्वरूपता बतलाते है——

केवलज्ञान सुख-स्वरूप ही है क्योंकि सर्व अनिष्ट का नाश हो चुका है और सर्व इष्ट का लाभ हो चुका है। क्योकि वास्तव मे केवल अवस्था मे सुख-प्राप्ति के विपक्षभूत दुःख के साधनपने को प्राप्त अज्ञान सम्पूर्ण ही नाश हो जाता हैं और सुख का साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसलिये केवलज्ञान ही सुखस्वरूप है। अधिक विस्तार से बस है ।।६१।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुनरपि केवलज्ञानस्य सुखस्वरूपता प्रकारान्तरेण दृढयति—

णाण अत्थंतगय ज्ञान केवलज्ञानमर्थान्तिगतं ज्ञेयान्तप्राप्त **लोयालोयेसु वित्थडा दिठ्ठी** लोकालोकयोर्विस्तृता दृष्टि केवलदर्शन। **णट्ठमणिट्ठं सव्व** अनिष्ट दु खमज्ञान च तत्सर्व नष्ट **इठ्ठ पुण ज हि त लद्ध** इष्ट पुनर्यद् ज्ञान सुख च हि स्फुट तत्सर्व लब्धमिति।

तद्यथा—स्वभावप्रतिघाताभावहेतुक सुख भवति। स्वभावो हि केवलज्ञानदर्शनद्वय, तयोः प्रतिघात आवरणद्वय तस्याभाव केवलिना, ततः कारणात्स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकमक्षयानन्तसुख भवति। यतश्च परमानन्दैकलक्षणसुखप्रतिपक्षभूतमाकुलत्वोत्पादकमनिष्ट दु खमज्ञान च नष्ट, यतश्च पूर्वोक्तलक्षणसुखाविनाभूत त्रैलोक्योदरविवरवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रकाशकमिष्ट ज्ञान च लब्ध, ततो ज्ञायते केवलिना ज्ञानमेव सुखमित्यभिप्राय. ।।६१।।

उत्थानिका—आगे फिर भी केवलज्ञान को सुखरूपपना अन्य प्रकार से कहते हुए इसी बात को पुष्ट करते है——

अवन्य सहित विशेषार्थ——(णाणं) केवलज्ञान (अत्थतगयं) सर्वज्ञेयों के अत को प्राप्त हो गया अर्थात् केवलज्ञान ने सब जान लिया (दिट्ठी) केवलदर्शन (लोयालोयेसु वित्थडा) लोक और अलोक मे फैल गया (सव्वं अणिट्ठं) सर्व अनिष्ट अर्थात् अज्ञान और दुःख (णट्ठ) नष्ट हो गया (पुण) तथ (जं तु इट्ठं तं तु लद्धं) जो कुछ इष्ट है अर्थात् पूर्ण ज्ञान तथा सुख है सो सब प्राप्त हो गया।

इसका विस्तार यह है कि आत्मा के स्वभाव के घात का अभाव है सो सुख है। आत्मा का स्वभाव केवलज्ञान और केवलदर्शन है। इनके घातक केवलज्ञानावरण तथा केवलदर्शनावरण है सो इन दोनों आवरणों का अभाव केवलज्ञानियों के होता है, इसलिये स्वभाव के घात के अभाव से होने वाला सुख होता है। क्योकि परमानन्दमयी एक लक्षण-

रूप सुख से उल्टे आकुलता के पैदा करने वाले सर्व अनिष्ट अर्थात् दुःख और अज्ञान नष्ट हो गए तथा पूर्व मे कहे हुए लक्षण को रखने वाले सुख के साथ अविनाभूत—अवश्य होने वाले तीन लोक के अन्दर रहने वाले सर्व पदार्थों को एक समय मे प्रकाशने वाला इष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया, इसलिये यह जाना जाता है केवलियो के ज्ञान ही सुख है, ऐसा अभिप्राय है ॥६१॥

अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति—

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं त्ति विगदघादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वाभव्वा वा तं पडिच्छंति ॥६२॥

न श्रद्दधति सौख्य सुखेषु परममिति विगतघातिनाम् ।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति ॥६२॥

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिनां सुखाभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढिः । केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम् । न किलैवं येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्याः पश्यन्ति । ये पुनरिदमिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति । ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते तु दूरभव्या इति ॥६२॥

भूमिका—अब, केवलज्ञानियो के ही पारमार्थिक सुख है—यह श्रद्धा कराते है—

अन्वयार्थ—[विगतघातिना] नष्ट हो गये है घातिकर्म जिनके उन केवलियो के [सुखेषु परम] (सर्व) सुखो मे उत्कृष्ट [सौख्य] सुख है, [इति श्रुत्वा] यह सुनकर [ये] जो [न श्रद्धधाति] श्रद्धान नही करते है [ते अभव्या] वे अभव्य है। [भव्या] भव्य तो [तत्] उसको (केवलियो के सर्वोत्कृष्ट सुख है, इसको) [प्रतीच्छन्ति] स्वीकार करते है (उसकी श्रद्धा करते है)।

टीका—इस लोक मे निश्चय से मोहनीय-आदि-कर्मजाल-वालो के स्वभाव प्रतिघात के कारण से और आकुलता के कारण से सुखाभास होने पर भी (उस सुखाभास को 'सुख' ऐसा कहने की अपारमार्थिक रूढि (लोक पद्धति) है। नष्ट हो चुके हैं घातिकर्म जिनके और जो भगवान् है (बडी महिमा वाले है) ऐसे केवली भगवन्तो के, स्वभाव प्रतिघात के अभाव के कारण से और अनाकुलता के कारण से (सुख के) यथोक्त कारण का और लक्षण का सद्भाव होने से पारमार्थिकसुख है, यह श्रद्धा करने योग्य है। जिनके

वास्तव मे ऐसी श्रद्धा नही है वे वास्तव मे मोक्ष सुख के सुधापान से दूर रहने वाले अभव्य मृगतृष्णा मे जल-समूह को ही देखते है (इन्द्रियसुख को ही सुख मानते है)। जो इस वचन को इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते है वे शिवश्री (मोक्षलक्ष्मी) के पात्र निकट-भव्य होते है, और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूर-भव्य है ॥६२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पारमर्थिकसुख केवलिनामेव, ससारिणा ये मन्यते तेऽभव्या इति निरूपयति—

णो सद्दहंति नैव श्रद्दधति न मन्यन्ते। कि ? **सोक्ख** निर्विकारपरमाह्लादैकसुख। कथभूत न मन्यन्ते ? **सुहेसु परमत्ति** सुखेषु मध्ये तदेव परमसुख। केषा सम्बन्धि यत्सुख ? **विगदघादीणं** विगतघातिकर्मणा केवलिना। कि कृत्वापि मन्यन्ते ? **सुणिदूण "जाद सय समत्त"** इत्यादिपूर्वोक्त-गाथात्रयकथितप्रकारेण श्रुत्वापि **ते अभव्वा** ते अभव्या. ते हि जीवा वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्य-त्वव्यक्त्यभावादभव्या भण्यन्ते, न पुन. सर्वथा **भव्वा वा तं पडिच्छति** ये वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्य-त्वव्यक्तिपपरिणतास्तिष्ठन्ति ते तदनन्तसुखमिदानी मन्यन्ते। ये च सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्या भाविकाले परिणमिष्यन्ति ते च दूरभव्या अग्र श्रद्धान कुर्युरिति।

अयमत्रार्थ —मारणार्थ तलवरगृहीततस्करस्य मरणमिव यद्यपीन्द्रियसुखमिष्ट न भवति, तथापि तलवरस्थानीयचारित्रमोहोदयेन मोहित सन्निरूपरागस्वात्मोत्थसुखमलभमान सन् सरागसम्यग्दृष्टि-रात्मनिन्दादिपरिणतो हेयरूपेण तदनुभवति। ये पुनर्वीतरागसम्यग्दृष्टय शुद्धोपयोगिनस्तेषा, मत्स्याना स्थलगमनमिवाग्निप्रवेश इव या निर्विकारशुद्धात्मसुखाच्च्यवनमपि दु ख प्रतिभाति। तथा चोक्त—

"समसुखशीलितमनसा च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामा। स्थलमपि दहति झषाणा किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गारा" ॥६२॥

एवमभेदनयेन केवलज्ञानमेव सुख भण्यते इति कथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन चतुर्थस्थल गत।

उत्थानिका—आगे कहते है कि पारमार्थिक सच्चा अतीन्द्रिय आनन्द केवलज्ञानियो के ही होता है, जो कोई ससारियो के भी ऐसा सुख मानते है, वे अभव्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(विगदघादीण) घातियाकर्मो से रहित केवली भगवन्तो के (सुहेसु परमं त्ति) सुखों के बीच मे उत्कृष्ट जो (सोक्ख) विकार-रहित परम आल्हादमयी एक सुख है उसको (सुणिदूण) 'जादं सयं समत्त' इत्यादि पहले कही हुई तीन गाथाओं के कथन प्रमाण सुनकर के भी जान करके भी (ण हि सद्दहंति) निश्चय से नही श्रद्धान करते है नही मानते है, (ते अभव्वा) वे अभव्य जीव है अथवा वे सर्वथा अभव्य नही है किन्तु दूरभव्य है, जिनको वर्तमानकाल मे सम्यक्त्वरूप भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति का अभाव है (वा) तथा (भव्वा) जो भव्य जीव है अर्थात् जो सम्यक्दर्शनरूप भव्यत्वशक्ति की प्रगटता मे परिणमन कर रहे है।**

भावार्थ—**जिनके भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होने से सम्यक्दर्शन प्रगट हो गया**

है वे (तं पडिच्छंति) उस अनन्तसुख को वर्तमान में श्रद्धान करते हैं तथा मानते है और जिनके सम्यक्त्वरूप भव्यत्वशक्ति की प्रगटता की परिणति भविष्यकाल में होगी, ऐसे दूर-भव्य है, वे आगे श्रद्धान करेगे।

यहाँ यह भाव है कि जैसे किसी चोर को कोतवाल मारने के लिये ले जाता है, तब चोर मरण को लाचारी से भोग लेता है तैसे यद्यपि सम्यग्दृष्टियों को इन्द्रियसुख इष्ट नही है तथापि कोतवाल के समान चारित्रमोहनीय के उदय से मोहित होता हुआ सराग-सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागरूप निज आत्मा से उत्पन्न सच्चे सुख को नहीं भोगता हुआ इन्द्रियसुख को अपनी निन्दा गर्हा आदि करता हुआ त्याग बुद्धि से भोगता है। तथा जो वीतराग सम्यग्दृष्टि शुद्धोपयोगी है, उनको विकार रहित शुद्ध आत्मा के सुख से हटना ही, उसी तरह दुःखरूप झलकता है जिस तरह मछलियो को भूमि पर आना तथा प्राणी को अग्नि में घुसना दुःखरूप भासता है। ऐसा ही कहा है—

समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः॥

भाव यह है—समतामयी सुख को भोगने वाले पुरुषों को समता से गिरना ही जब बुरा लगता है तब भोगों में पड़ना कैसे दुःख रूप न भासेगा ? जब मछलियों को जमीन ही दाह पैदा करती है, हे आत्मन् ! तब अग्नि के अंगारे दाह क्यो न करेंगे ॥६२॥

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति—

मणुआसुरामरिंदा अभिद्दुदा[1] इन्दियेहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

मनुजासुरामरेन्द्राः अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः।
असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥६३॥

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते। अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु विषयेषु रतिरुपजायते। ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम् ॥६३॥

भूमिका—अब, परोक्षज्ञानियो के अपारमार्थिक इन्द्रियसुख का विचार करते है।

---

१ अभिद्दुआ (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[मनुजासुरामरेन्द्रा.] मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती), असुरेन्द्र (धरणीन्द्र) और सुरेन्द्र (देवेन्द्र) [सहजै. इन्द्रियै] स्वाभाविक (परोक्षज्ञान वालो को जो स्वाभाविक है ऐसी) इन्द्रियो से [अभिद्रुता.] पीडित होते हुए (तथा) [तत् दु ख] उस इन्द्रिय दुःख को [असहमानाः] सहन न कर सकते हुए [रम्येयु विषयेषु] रम्य विपयो मे [रमन्ते] रमण करते है ।

टीका—प्रत्यक्षज्ञान के अभाव (के कारण) से परोक्षज्ञान को आश्रय लेने वाले इन प्राणियों के वास्तव में उस (परोक्षज्ञान) की सामग्री रूप (साधनरूप) इन्द्रियो के प्रति निज रस से (स्वभाव से) ही मैत्री प्रवर्तती है, (१) उन (इन्द्रियों में मैत्री को प्राप्त (२) उदय को प्राप्त महामोह रूपी कालाग्नि से कवलित (ग्रसित) (३) तप्त हुए लोहे के गोले की भाँति (जैसे गरम किया हुआ लोहे का गोला पानी को शीघ्र ही सोख लेता है) अत्यन्त तृष्णा को प्राप्त, (४) उस इन्द्रिय-दुःख के वेग को सहन न कर सकने वाले ऐसे उन प्राणियों के, प्रतिकार को प्राप्त (रोग मे थोड़ा सा आराम जैसा अनुभव कराने वाले उपचार को प्राप्त) रम्य विषयों मे रति उत्पन्न होती है ।

इसलिये, इन्द्रियों की व्याधि समान होने से और विषयो को व्याधि के प्रतिकार समान होने से, (व्याधि के समान इन्द्रियों के प्रतिकार समान छद्मस्थों के विषयों से रहित पारमार्थिक (सच्चा अतीन्द्रिय) सुख नहीं है ॥६३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ससारिणामिन्द्रियज्ञानसाधकमिन्द्रियसुख विचारयति—

मणुआसुरामरिंदा मनुजाऽसुरामरेन्द्राः । कथंभूताः ? **अहिद्दुदा इन्दियेहि सहजेहि** अभिवृता कदर्थिता दु खिताः । कै ? इन्द्रियैः सहजै **असहता त दुक्ख** तद्दु खोद्रेकमसहमाना सन्त: **रमंते विसएसु रम्मेसु** रमन्ति विषयेषु रम्याभासेषु इति ।

अथ विस्तर—मनुजादयो जीवा अमूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखास्वादमलभमाना सन्त मूर्तेन्द्रिय-ज्ञानसुखनिमित्त तन्निमित्त पञ्चेन्द्रियेषु मैत्री कुर्वन्ति । ततश्च तप्तलोहगोलकानामुदकाकर्षणमिव विषयेषु तीव्रतृष्णा जायते । ता तृष्णामसहमाना विषयाननुभवन्ति इति । ततो ज्ञायते पञ्चेन्द्रियाणि व्याधिस्थानीयानि, विषयाश्च तत्प्रतीकारौषधस्थानीया इति ससारिणा वास्तव सुख नास्ति ॥६३॥

उत्थानिका—आगे ससारी जीवो के जो इन्द्रियजनित ज्ञान के द्वारा साधा जाने वाला इन्द्रियसुख होता है, उसका विचार करते है ।

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(मणुआऽसुरामरिंदा) मनुष्य, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी देव और मनुष्यों के इन्द्र चक्रवर्ती राजा तथा चार प्रकार के देवो के सर्व इन्द्र (सहजेहिं) अपने अपने शरीरों में उत्पन्न हुई अथवा स्वभाव से पैदा हुई**

(इंदियेहिं) इन्द्रियों की चाह के द्वारा (अहिद्दुदा) पीड़ित या दुःखित होकर (त दुक्खं असहंता) उस दुःख की तीव्र धारा को न सहन करते हुए (रम्मेसु विसएसु) सुन्दर मालूम होने वाले इन्द्रियों के विषयों में (रमंति) रमण करते हैं।

इसका विस्तार यह है कि जो मनुष्यादिक जीव अमूर्त्त अतीन्द्रियज्ञान तथा सुख के आस्वाद को नहीं अनुभव करते हुए मूर्तिक इन्द्रियजनित ज्ञान तथा सुख के निमित्त पांचों इन्द्रियों के भोगों में प्रीति करते हैं उनमें जैसे गर्म लोहे का गोला चारों तरफ से पानी को खींच लेता है उसी तरह पुनः पुनः विषयों में तीव्र तृष्णा पैदा होती है। उस तृष्णा को न सह सकते हुए वे विषय भोगों का स्वाद लेते हैं। इसलिये ऐसा जाना जाता है कि पांचों इन्द्रियों की तृष्णा रोग के समान है। तथा उसका उपाय विषयभोग करना यह औषधि के समान है। इसलिये संसारी जीवों को वास्तविक सच्चे सुख का लाभ नहीं होता है ॥६३॥

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुःखमेव वितर्कयति--

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥६४॥

येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम्। किन्तु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात्। अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः। यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशान्तशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णावचूर्णनमिव, विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत। दृश्यते चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः ॥६४॥

अन्वयार्थ—[येषा] जिनके [विषयेषु रति] विषयो मे रति है [तेषा] उनके [स्वभाव दु ख] स्वाभाविक दुख [विजानीहि] तू जान [हि] क्योकि [यदि तत्] जो वह दु ख [स्वभाव न] स्वाभाविक अर्थात् जो स्वभाव से न होता तो उसका [विपयार्थ] इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थो मे [व्यापार] व्यापार भी [न अस्ति] न होता।

टीका—**जिनकी हत (निकृष्ट-निंद्य) इन्द्रियां जीवित अवस्था मे है उनके उपाधि के कारण से होने वाला (बाह्य संयोग के कारण से होने वाला औपाधिक) दु.ख न भी हो तो भी स्वाभाविक दुःख है ही, क्योकि (उनकी) विषयों मे रति देखी जाती है। हाथी के हथिनी रूपी कुट्टनी के शरीर स्पर्श की तरह, मछली के बंसी में फंसे हुए मास के स्वाद की तरह, भ्रमर बन्द होने के सन्मुख कमल की गंध की तरह, पतंग के दीपक की ज्योति के रूप की तरह और हिरन के शिकारी के स्वर की तरह दुर्निवार इन्द्रिय-वेदना के वशीभूत होते हुए उनके (अर्थात् जिनके इन्द्रियां जीवित है उनके) अत्यन्त नाशवाले (क्षणिक) विषयों मे भी पतन देखा जाता है। 'उनका दु.ख स्वाभाविक है' यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो, जिसका शीतज्वर उपशान्त हो गया है उसके पसेव (पसीना) की तरह, जिसका दाहज्वर उतर गया है उसके कांजी के परिषेक की तरह, जिसकी आंखों का दुख दूर हो गया है उसके वटचूर्ण (शंख इत्यादि का चूर्ण) आंजने की तरह, जिसका कान का दर्द नष्ट हो गया है उसको बकरे का मूत्र कान मे डालने की तरह और जिसका घाव पूरा भर गया है उसके फिर लेप करने की तरह (अर्थात् जिसका रोग शमन हो गया है उस रोग के प्रतिकार या इलाज के लिए औषधि आदि सेवन नही देखा जाता, उसी प्रकार यदि उन जीवित इन्द्रिय वालों के यदि वांछा रूपी रोग न होता तो उनके भी) विषय-व्यापार न देखा जाता; (किन्तु) वह (विषय व्यापार) देखा जाता है। इससे (सिद्ध हुआ कि) जिनकी इन्द्रियां जीवित है, ऐसे परोक्षज्ञानी स्वभावभूत दु ख वाले (स्वाभाविक दुखी ही) है ॥६४॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ यावदिन्द्रियव्यापारस्तावद्दु खमेवेति कथयति—

जेसिं विसयेसु रई येषा निर्विषयातीन्द्रियपरमात्मस्वरूपविपरीतेषु विपयेषु रति **तेसिं दुक्खं वियाण सब्भाव** तेषा वहिर्मुखजीवाना निजशुद्धात्मद्रव्यसवित्तिसमुत्पन्ननिरुपाधिपारमार्थिकसुखविपरीत स्वभावेनैव दु खमस्तीति विजानीहि। कस्मादिति चेत् ? पञ्चेन्द्रियविषयेषु रतेरवलोकनात् **जइ त ण हि सब्भाव** यदि तद्दु ख स्वभावेन नास्ति हि स्फुट **वावारो णत्थि विसयत्थ** तर्हि विषयार्थं व्यापारो नास्ति न घटते। व्याधिस्थानामौषधेष्विव विषयार्थं व्यापारो दृश्यते चेत्तत एव ज्ञायते दु खमस्तीत्य-भिप्राय। एव परमार्थेनेन्द्रियसुखस्य दु खस्थापनार्थं गाथाद्वय गतम् ॥६४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जब तक इन्द्रियो के द्वारा यह प्राणी विषयो के व्यापार करता रहता है तब तक इसको दुःख ही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जेसिं विसयेसु रई) जिन जीवों की विषयरहित अतीद्रिय परमात्म स्वरूप से विपरीत इन्द्रियों के विषयों में प्रीति होती है (तेसिं सब्भावं दुक्खं वियाण) उनको स्वाभाविक दु.ख जानो अर्थात् उन बहिर्मुख मिथ्यादृष्टि जीवों को अपने शुद्ध आत्मद्रव्य के अनुभव से उत्पन्न, उपाधिरहित निश्चय सुख से विपरीत स्वभाव से ही दुःख होता है, ऐसा जानो (जदि तं सब्भाव ण हि) यदि वह दुःख स्वभाव से निश्चय करके न होवे तो (विसयत्थं वावारो णत्थि) विषयों के लिये व्यापार न होवे। जैसे रोग से पीड़ित होने वालों के ही लिये औषधि का सेवन होता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषयों के सेवने के लिये ही व्यापार दिखाई देता है, इसी से यह जाना जाता है कि उनके दुख है, ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार निश्चय से इन्द्रियजनित सुख दुःखरूप ही है, ऐसा स्थापन करते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुई ॥६४॥**

अथ मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहंण हवदि देहो ॥६५॥

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शै समाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देह· ॥६५॥

अस्य खल्वात्मन सशरीरावस्थायामपि न शरीर सुखसाधनतामापद्यमानं पश्यामः, यतस्तदापि पीतोन्मत्तकरसैरिव प्रकृष्टमोहवशवर्तिभिरिन्द्रियैरिमेऽस्माकमिष्टा इति क्रमेण विषयानभिपतद्भिरसमीचीनवृत्तितामनुभवन्नुपरुद्धशक्तिसारेणापि ज्ञानदर्शनवीर्यात्मकेन निश्चयकारणतामुपागतेन स्वभावेन परिणममानः स्यमेवायमात्मा सुखतामापद्यते। शरीरं त्वचेतनत्वादेव सुखत्वपरिणतेर्निश्चयकारणतामनुपगच्छन्न जातु सुखतामुपढौकत इति ॥६५॥

भूमिका—**अब, मुक्त–आत्मा के सुख की प्रसिद्धि के लिये, शरीर की सुख-साधनता का खण्डन करते है?—सिद्ध भगवान् के शरीर के बिना भी सुख होता है यह भाव स्पष्ट समझाने के लिये संसार अवस्था में भी शरीरसुख का (इन्द्रियसुख का) साधन नहीं है, यह निश्चित करते हैं—**

अन्वयार्थ—[स्पर्शैं समाश्रितान्] स्पर्शन आदिक इन्द्रिया जिनका आश्रय लेती है ऐसे [इष्टान् विषयान्] इष्ट विषयो को [प्राप्य] पाकर [स्वभावेन] (अपने अशुद्ध)

स्वभाव से (परिणममानः] परिणमन करता हुआ [आत्मा] आत्मा [स्वयमेव] स्यय ही [सुख] सुखरूप (इन्द्रियसुख रूप) होता है [देहः न भवति] (किन्तु) देह सुखरूप नही होती है ।

टीका—**वास्तव में इस आत्मा के सशरीर अवस्था में भी शरीरसुख की साधनता को प्राप्त होता हुआ हम नही देखते है, क्योकि तब भी, मानो उन्माद-जनक मदिरा का पान किया हो ऐसी प्रबल मोह के वश मे वर्तने वाली (तथा) 'यह (विषय) हमे इष्ट है' इस प्रकार क्रम से विषयों में पड़ती (प्राप्त) हुई इन्द्रियो के द्वारा असमीचीन (अयोग्य) परिणति को अनुभव करता हुआ, रुक गई है शक्ति की उत्कृष्टता (परम शुद्धता) जिसकी ऐसे भी (अपने) ज्ञान-दर्शन-वीर्यात्मक तथा निश्चय कारणता को प्राप्त-स्वभाव से परिणमन करता हुआ यह आत्मा स्वयमेव सुखीपने को प्राप्त करता है, (सुखरूप होता है) शरीर तो अचेतन होने के कारण ही, सुखत्व-परिणति के निश्चय-कारणता को प्राप्त न होता हुआ, किंचित् मात्र भी सुखत्व को प्राप्त नहीं करता ॥६५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ मुक्तात्मनां शरीराभावेपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं शरीर सुखकारण न स्यादिति व्यक्ती-करोति—

पप्पा प्राप्य । कान् ? **इट्ठे विसये** इष्टपञ्चेन्द्रियविषयान् । कथभूतान् ? **फासेहिं समस्सिदे** स्पर्शनादीन्द्रियरहितशुद्धात्मतत्वविलक्षणै. स्पर्शनादिभिरिन्द्रियै समाश्रितान् सम्यक्—प्रा-यान् ग्राह्यान्, इत्थभूतान् विषयान् प्राप्य । स क ? **अप्पा** आत्मा कर्ता । किविशिष्ट ? **सहावेण परिणममाणो** अनन्तसुखोपादानभूतशुद्धात्मस्वभावविपरीतेनाशुद्धसुखोपादानभूतेनाशुद्धात्मस्वभावेन परिणममानः । इत्थभूत सन् **सयमेव सुह** स्वयमेवेन्द्रियसुख भवति परिणमति । **ण हवदि देहो** देह पुनरचेतन-त्वात्सुख न भवतीति ।

अयमत्रार्थ – कर्मावृतससारिजीवाना यदिन्द्रियसुख तत्रापि जीव उपादानकारण न च देह, देहकर्मरहितमुक्तात्मना पुनर्यदनन्तातीन्द्रियसुख तत्र विशेषेणात्मैव कारणमिति ॥६५॥

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते है कि मुक्त आत्माओ के शरीर न होते हुए भी सुख रहता है, इस कारण शरीर सुख का कारण नही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अप्पा) यह संसारी आत्मा (फासेहि) स्पर्शन आदि इन्द्रियों से रहित शुद्धात्मतत्व से विलक्षण स्पर्शन आदि इन्द्रियों के द्वारा (समस्सिदे) भले प्रकार ग्रहण करने योग्य (इट्ठेविसये) अपने को इष्ट ऐसे विषय भोगो को (पप्पा) पाकर के या ग्रहण करके (सहावेण परिणममाणो) अनन्त सुख का उपादानकारण जो शुद्ध आत्मा का स्वभाव उससे विरुद्ध अशुद्ध सुख का उपादानकारण जो अशुद्ध आत्मस्वभाव**

उससे परिणमन करता हुआ (सयमेव) स्वयं ही (सुहं) इन्द्रिय सुखरूप हो जाता है, या परिणमन कर जाता है, तथा (देहो ण हवदि) शरीर अचेतन होने से सुखरूप नहीं होता है ।

यहाँ यह अर्थ है कि कर्मो के आवरण से मैले संसारी जीवों के जो इन्द्रियसुख का होता है वहाँ भी जीव ही उपादानकारण नहीं है। जो देह-रहित व कर्मबंध-रहित मुक्त जीव है उनको जो अनन्त अतीन्द्रियसुख है, वहाॅ तो विशेष करके आत्मा ही कारण है ॥६५॥

अथैतदेव दृढयति—

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥

एकान्तेन हि देहः सुख न देहिनः करोति स्वर्गे वा ।
विषयवशेन तु सौख्य दुःख वा भवति स्वयमात्मा ॥६६॥

अयमत्र सिद्धान्तो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीरं न खलु सुखाय कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुखं वा दुखं वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥६६॥

भूमिका—अब इसी बात को दृढ़ करते है—

अन्वयार्थ—[एकान्तेन हि] एकान्त से अर्थात् नियम से [स्वर्गे] स्वर्ग मे [वा] भी [देह] शरीर [देहिनः] शरीरी (आत्मा) के [सुख न करोति] सुख नही करता [विषयवशेन तु] परन्तु विषयो के वश से [सौख्य वा दुःख] सुखरूप अथवा दुःखरूप [स्वय आत्मा भवति] स्वय आत्मा [परिणमित) होता है ।

टीका—यहाॅ यह सिद्धान्त है कि दिव्य वैक्रियिक-पना होने पर भी शरीर से वास्तव में सुख के लिए कल्पना नहीं की जा सकती (वैक्रियिकशरीर सुख देता है, यह कल्पना नही की जा सकती है), क्योंकि इष्ट अथवा अनिष्ट विषयो के वश से सुख अथवा दुःख रूप स्वयं आत्मा (परिणत) होता है ॥६६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ मनुष्यशरीरं मा भवतु, देवशरीरं दिव्य तत्किल सुखकारण भविष्यतीत्याशङ्का निराकरोति—

एगतेण हि देहो सुह ण देहिस्स कुणदि एकान्तेन हि स्फुट देह कर्ता सुख न करोति । कस्य ? देहिन ससारिजीवस्य । क्व ? सग्गे वा आस्ता तावन्मनुष्याणा मनुष्यदेह सुख न करोति, स्वर्गे वा यासौ दिव्यो देवदेह सोप्युपचार विहाय सुख न करोति। विसयवसेण दु सोक्ख दुक्खं वा हवदि सयमादा किन्तु निश्चयेन निर्विषयामूर्तस्वाभाविकसदानन्दैकसुखस्वभावोपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्ध-

वशाद्विषयाधीनत्वेन परिणम्य सासारिकसुख दु·ख वा स्वयमात्मैव भवति, न च देह इत्यभिप्राय । एव मुक्तात्मना देहाभावेपि सुखमस्तीति परिज्ञानार्थं ससारिणामपि देह सुखकारण न भवतीतिकथन-रूपेण गाथाद्वय गतम् ।।६६।

उत्थानिका—अब आगे यहाँ कोई शका करता है कि मनुष्य का शरीर जिसके नही है किन्तु देव का दिव्य शरीर जिसको प्राप्त है, वह शरीर तो उसके लिये अवश्य सुख का कारण होगा । आचार्य इस शका को हटाते हुए समाधान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एगंतेण हि) सब तरह से निश्चयकर यह प्रगट है कि (देहिस्स) शरीरधारी संसारी प्राणी को (देहो) यह शरीर (सग्गे वा) स्वर्ग मे भी (सुहं ण कुणदि) सुख नही करता है । मनुष्यों की मनुष्य देह तो सुख का कारण नही है, यह बात दूर ही है । स्वर्ग मे भी जो देवों का मनोज्ञ वैक्रियिक देह है वह भी विषय वासना के उपाय बिना सुख नहीं करता है । (आदा) यह आत्मा (सयं) अपने आप ही (विसय-वसेण) विषयों के वश से अर्थात् निश्चय से विषयों से रहित अमूर्त्त स्वाभाविक सदा आनन्दमयी एक स्वभाव रूप होने पर भी व्यवहार से अनादि कर्म के बंध के वश से विषयों के भोगों के अधीन होने से (सोक्खं वा दुक्खं हवदि) सुख व दुःख रूप परिणमन करके सुख या दुःख रूप हो जाता है शरीर सुख या दुःख रूप नही होता है, यह अभिप्राय है । इस तरह मुक्त जीवों के देह न होते हुए भी सुख रहता है, इस बात को समझाने के लिये संसारी प्राणियो को भी देह सुख का कारण नही है, ऐसा कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुई ।।६६।।**

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्व द्योतयत्ति—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं[1] ।
तध[2] सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ।।६७।।

तिमिरहरा यदि दृष्टिः जनस्य, दीपेन नास्ति कर्तव्यम् ।
तथा सौख्य स्वयमात्मा विषया कि तत्र कुर्वन्ति ।।६७।।

यथा हि केषांचिन्नक्तंचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपाकरणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्य, एवमस्यात्मन संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः ।।६७।।

भूमिका—**अब, आत्मा के स्वयं ही सुख रूप परिणमने की शक्ति-युक्त होने से, विषयो के अकिंचित्-कर-पने को प्रगट करते है—**

१ कायव्व (ज० वृ०) । २ तह (ज० वृ०) ।

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [जनस्य दृष्टि.] प्राणी की आँख [तिमिरहरा] अंधकार को नाश करने वाली (अधेरे मे देखने वाली] हो तो [दीपेन नास्ति कर्तव्य] (उसको) दीपक से कोई प्रयोजन नही है (अर्थात् दीपक उसको कुछ नही कर सकता) [तथा] इसी प्रकार (जहा) [आत्मा] आत्मा [स्वय] स्वय [सौख्य] सुखरूप (परिणमन करता है) [तत्र] वहा [विषया] विषय [कि कुर्वन्ति] क्या करते है ? (यानी कुछ नही)।

टीका—**आंख के स्वयमेव अन्धकार को नष्ट करने की शक्ति का सम्बन्ध होने से जैसे किन्ही निशाचरों के (उल्लू आदि रात्रि मे विचरने वाले जीवों के) अंधकार का नाशक स्वभाव वाले दीपक के प्रकाशादि से कोई प्रयोजन नही होता (उन्हे दीपक का प्रकाश कुछ नही करता), इसी प्रकार इस आत्मा के संसार अथवा मुक्ति में स्वयमेव सुख-पने से परिणमन करने वाले के, सुख साधन बुद्धि से अज्ञानियो के द्वारा व्यर्थ आश्रय किए गये भी विषय क्या करे (कुछ नही कर सकते) ।।६७।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मन स्वयमेवसुखस्वभावत्वान्निश्चयेन यथा देह. सुखकारण न भवति तथा विषया अपीति प्रतिपादयति—

जइ यदि **दिठ्ठी** नक्तचरजनस्य दृष्टि. **तिमिरहरा** अन्धकारहरा भवति **जणस्स** जनस्य **दीवेण णत्थि कायव्व** दीपेन नास्ति कर्तव्य तस्य प्रदीपादीना यथा प्रयोजन नास्ति **तह सोक्खं सयमादा विसया कि तत्थ कुव्वति** तथा निर्विषयामूर्तसर्वप्रदेशाह्लादकसहजानन्दैकलक्षणसुखस्वभावो निश्चयेनात्मैव, तत्र मुक्तौ ससारे वा विषया कि कुर्वन्ति न किमपीति भाव ।।६७।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि यह आत्मा स्वय सुख स्वभाव को रखने वाला है इसलिये जैसे निश्चय करके देह सुख का कारण नही है वैसे इन्द्रिययो के पदार्थ भी सुख के कारण नही है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जइ) जो (जणस्स दिट्ठी) किसी प्राणी की दृष्टि रात्रि को (तिमिरहरा) अंधकार को हरने वाली है अर्थात् अंधेरे मे देख सकती है तो (दीवेण कायव्वं णत्थि) दीप से कर्त्तव्य कुछ नही है। अर्थात् दीपको का उसके लिए कोई प्रयोजन नही है। (तह) तैसे (आदा सयम् सोक्खं) जो निश्चय करके पंचेन्द्रियों के विषयो से रहित, अमूर्तिक, अपने सर्व प्रदेशो मे आह्लाद रूप सहज आनन्द एक लक्षणमयी सुख स्वभाव वाला आत्मा स्वयं है (तत्थ विसया कि कुव्वंति) तो वहाँ मुक्ति अवस्था मे तो इन्द्रियों के विषय रूप पदार्थ क्या कर सकते है ? यानी-कुछ भी नही कर सकते, यह भाव है ।।६७।।**

अथात्मनः दृष्टान्तेन सुखस्वभावत्वं दृढयति--

सयमेव जहादिच्चो[1] तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे[2] तहा देवो ॥६८॥

स्वययेव यथादित्यतेज उष्ण च देवता नभसि ।
सिद्धोऽपि तथा ज्ञान सुखञ्च लोके तथा देव ॥६८॥

यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभारभाव-स्वरूपविकस्वरप्रकाशशालितया तेजः, यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायः पिण्डवन्नित्य-मेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्ण, यथा च देवगतिनामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तिस्वभावतया देवः तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थनिर्वि-तथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञानं, तथैव चात्मतृप्तिमुपजातपरिनिर्वृत्तिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं, तथैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भो-त्कीर्णसमुदीर्णद्युतिस्तुति*वियोगैर्दिव्यात्मस्वरूपत्वाद्देवः। अतोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषयैः पर्याप्तम् ॥६८॥ इति आनन्दप्रपञ्चः ।

भूमिका—**अब आत्मा के सुखस्वभावपने को दृष्टान्त से दृढ़ करते है**--

अन्वयार्थ—[यथा] जैसे [नभसि] आकाश मे [आदित्य] सूर्य [स्वयमेव] अपने आप ही [तेज] तेज [उष्ण] उष्ण [च] और [देवता] देव है [तथा] उसी प्रकार [लोके] लोक मे [सिद्ध अपि] सिद्ध भी [स्वयमेव) [ज्ञान] ज्ञान [च] और [सुख] सुख [तथा] और [देव.] देव है ।

टीका—**जैसे वास्तव में आकाश में, अन्य कारण की अपेक्षा बिना स्वयमेव ही सूर्य (१) अति अधिक प्रभा समूह से चमकते हुए स्वरूप के द्वारा विकसित प्रकाशयुक्त होने से तेज है, (२) कभी-कभी उष्णता रूप परिणत लोहे के गोले की भाँति, सदा ही उष्णता परिणाम को प्राप्त होने से उष्ण है और (३) देवगति नाम कर्म के उदय की अनुवृत्ति (धारावाहिक उदय) के वशवर्ती स्वभाव से देव है, इसी प्रकार लोक में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान् आत्मा स्वयमेव ही (१) स्वपर को प्रकाशित करने मे समर्थ यथार्थ अनन्त शक्तियुक्त सहज-संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है, (२) आत्म-तृप्ति से उत्पन्न होने वाली परिनिर्वृत्ति (उत्कृष्ट उपेक्षा वीतरागता) से प्रवर्तमान**

---

१ जहाइच्चो (ज० वृ०)। २ लोये (ज० वृ०)।
*'योगिदिव्यात्म' इति पाठान्तरम् ।

अनाकुलता मे सुस्थितता के कारण सौख्य है, और (३) निकट है आत्म तत्त्व की प्राप्ति जिनको ऐसे बुद्धजनों (ज्ञानियों) के मनरूपी शिलास्तम्भ में जिसकी अतिशय द्युति स्तुति के योग द्वारा दिव्य आत्म स्वरूपवान् होने से देव है। इसलिये इस आत्मा के सुख-साधनाभास विषयों से बस हो ॥६८॥

अतीन्द्रियसुख का विस्तार समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मन सुखस्वभावत्व ज्ञानस्वभावत्व च पुनरपि दृष्टान्तेन दृढयति—

सयमेव जहाइच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि कारणान्तर निरपेक्ष्य स्वयमेव यथादित्य: स्वपरप्रकाशरूप तेजो भवति, तथैत्र च स्वयमेवोष्णो भवति, तथा चाज्ञानिजनाना देवता भवति। क्व स्थित ? नभसि आकाशे **सिद्धो वि तहा णाण सुह च** सिद्धोपि भगवास्तथैव कारणान्तर निरपेक्ष्य स्वभावेनैव स्वपरप्रकाशक केवलज्ञान, तथैव परमतृप्तिरूपमनाकुलत्वलक्षण सुख। क्व ? **लोये** जगति **तहा देवो** निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुन्दरानन्दस्यन्दिसुखामृतपानपिपासिताना गणधरदेवादिपरमयोगिना देवेन्द्रादीना चासन्नभव्याना मनसि निरन्तर परमाराध्य, तथैवानन्तज्ञानादिगुणस्तवनेन स्तुत्य च यद्दिव्यमात्मस्वरूप तत्स्वभावत्वात्तथैव देवश्चेति। ततो ज्ञायते मुक्तात्मना विषयैरपि प्रयोजन नास्तीति ॥६८॥ एव स्वाभावेनैव सुख स्वभावत्वाद्विषया अपि मुक्तात्मना सुखकारण न भवन्तीतिकथनरूपेण गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे आत्मा सुख स्वभाव वाला भी है ज्ञान स्वभाव वाला भी है इस ही बात को दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णभसि) आकाश में (सयमेव जहाइच्चो) जैसे दूसरे कारण की अपेक्षा न करके स्वयं ही सूर्य्य (तेजो) अपने और दूसरे को प्रकाश करने वाला तेज रूप है (उण्हो य) तथा स्वयं उष्णता देने वाला है (देवदा य) तथा देवता है अर्थात् ज्योतिषी देव है अथवा अज्ञानी मनुष्यों के लिये पूज्य देव है (तहा) तैसे ही (लोये) इस लोक मे (सिद्धो वि णाणं सुहं च तहा देवो) सिद्ध भगवान् भी दूसरे कारण की अपेक्षा न करके स्वयं ही स्वभाव से स्व-पर-प्रकाशक केवलज्ञान स्वरूप है तथा परम तृप्तिरूप निराकुलता लक्षणमय सुखरूप है तैसे ही अपने शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमय निर्विकल्पसमाधि से पैदा होने वाले सुन्दर आनन्द में भीगे हुए सुखरूपी अमृत के प्यासे गणधर देव आदि परम योगियों, इन्द्रादि देवों व अन्य निकट भव्यों के मन में निरन्तर भले प्रकार आराधने योग्य तैसे ही अनंतज्ञान आदि गुणों के स्तवन से स्तुति-योग्य जो दिव्य आत्मस्वरूप—स्वभावमय होने से देवता है। इससे जाना जाता है कि मुक्ति प्राप्त आत्माओं को विषयो की सामग्री से भी कुछ प्रयोजन नही है। वास्तव मे शरीर तथा इन्द्रियो के इस तरह स्वभाव से ही आत्मा सुख स्वभाव है, अतएव**

इन्द्रियों के विषय भी मुक्तात्माओं के सुख के कारण नहीं होते है, ऐसा कहते हुए दो गाथाएँ पूर्ण हुई ॥६८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथेदानी श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवा. पूर्वोक्तलक्षणानन्तसुखाधारभूत सर्वज्ञ वस्तुस्तवेन नमस्कुर्वन्ति—

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइय माहप्प जस्स सो अरिहो ॥६८-१॥

तेजो दिट्ठी णाण इड्ढी सोक्ख तहेव ईसरिय तिहुवणपहाणदइय तेज प्रभामण्डल, जगत्त्रयकालत्रयवस्तुगतयुगपत्सामान्यास्तित्वग्राहक केवलदर्शन, तथैव समस्तविशेषास्तित्वग्राहकं केवलज्ञान, ऋद्धिशब्देन समवशरणादिलक्षणा विभूति., सुखशब्देनाव्याबाधान तसुख, तत्पदाभिलाषेण इन्द्रादयोऽपि भृत्यत्व कुर्वन्तीत्येव लक्षणमैश्वर्य, त्रिभुवनाधीशानामपि वल्लभत्व दैव भण्यते **माहप्प जस्स सो अरिहो** इत्थभूत माहात्म्य यस्य सोऽर्हन् भण्यते । इति वस्तुस्तवनरूपेण नमस्कार कृतवन्त. ।

उत्थानिका—आगे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव पूर्व मे कहे हुए लक्षण के धारी अनन्तसुख के आधारभूत सर्वज्ञ भगवान् को वस्तु-स्वरूप से स्तवन की अपेक्षा नमस्कार करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तेजो) प्रभा का मण्डल (दिट्ठी) तीन जगत् व तीन काल की समस्त वस्तुओ की सामान्य सत्ता को एक काल ग्रहण करने वाला केवलदर्शन (णाणं) तथा उनकी विशेष सत्ता को ग्रहण करने वाला केवलज्ञान (इड्ढी) समवशरण की सर्व विभूति (सोक्ख) वाधा रहित अनन्ततसुख, (ईसरियं) व जिनके पद की इच्छा से इन्द्रादिक भी जिनकी सेवा करते है, ऐसा ईश्वरपना (तहेव तिहुवणपहाणदइय) तैसे ही तीन भुवन के वल्लभपना या इष्टपना ऐसा देवपना इत्यादि (जस्स माहप्पं) जिसका महात्म्य है (सो अरिहो) वही अरहंतदेव है । इस प्रकार वस्तु का स्वरूप कहते हुए नमस्कार किया ॥६८।१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तस्यैव भगवत: सिद्धावस्थाया गुणस्तवनरूपेण नमस्कार कुर्वन्ति—

तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिद मणुवदेवपदिभावं ।
अपुणब्भावणिबद्धं पणममि पुणो-पुणो सिद्ध ॥६८-२॥

पणमामि नमस्करोमि **पुणो पुणो** पुन पुन. । क ? **त सिद्ध** परमागमप्रसिद्ध सिद्ध । कथभूत ? **गुणदो अधिगदर** अव्याबाधानन्तसुखादिगुणैरधिकतर. समधिकतरगुण । पुनरपि कथंभूत ? **अविच्छिद मणुवदेवपदिभावं** यथा पूर्वमर्हदवस्थाया मनुजदेवेन्द्रादय समवशरणे समागत्य नमस्कुर्वन्ति तेन प्रभुत्व भवति, तदतिक्रान्तत्वादतिक्रान्तमनुजदेवपतिभाव । पुनश्च कि विशिष्ट ? **अपुणब्भावणिबद्ध** द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारभवाद्विलक्षण शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मोपलम्भलक्षणो योसौ मोक्षस्तस्याधीन-

त्वादपुनर्भावनिबद्धमिति भाव । एव नमस्कारमुख्यत्वेन गाथाद्वय गतम् । इति गाथाष्टकेन पञ्चमस्थलं ज्ञातव्य । एवमष्टादशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन "सुखप्रपञ्च" नामान्तराधिकारो गतः । इति पूर्वोक्त-प्रकारेण "एस सुरासुर" इत्यादि चतुर्दशगाथाभिः पीठिका गता, तदनन्तर सप्तगाथाभि. सामान्य-सर्वज्ञसिद्धि·, तदनन्तर त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः ज्ञानप्रपञ्च, तदनन्तरमष्टादशगाथाभिः सुखप्रपञ्च इति समुदायेन द्वासप्ततिगाथाभिरन्तराधिकारचतुष्टयेन **शुद्धोपयोगाधिकारः** समाप्त. । इत ऊर्ध्वं पञ्चविंशतिगाथापर्यन्त ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानोऽधिकार· प्रारभ्यते, तत्र पञ्चविंशतिगाथामध्ये प्रथम तावच्छुभाशुभविषये मूढत्वनिराकरणार्थं "देवदजदिगुरू" इत्यादि दशगाथ:पर्यन्त प्रथमज्ञान-कण्ठिका कथ्यते । तदनन्तरमाप्तात्मस्वरूपपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं "चत्ता पावारम्भ" सप्तगाथापर्यंन्तन्त द्वितीयज्ञानकण्ठिका, अथानन्तर द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं इत्यादि "दव्वादीएसु" इत्यादि षट्कगाथापर्यन्त तृतीयज्ञानकण्ठिका । तदनन्तर स्वपरतत्त्वपरिज्ञान-विषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'णाणप्पग' इत्यादि गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका । इति चतुष्टयाभिधाना-धिकारे समुदायपातनिका । अथेदानी प्रथमज्ञानकण्ठिकाया स्वतन्त्रव्याख्यानेन गाथाचतुष्टय, तदनन्तर पुण्य जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयतीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टय, तदनन्तरमुपसहाररूपेण गाथाद्वय इति स्थलत्रयपर्यन्त क्रमेण व्याख्यान क्रियते ।

उत्थानिका—आगे सिद्ध भगवान् के गुणो का स्तवनरूप नमस्कार करते हैं ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तं) उस (सिद्धं) सिद्ध भगवान् को जो (गुणदो अधिगतरं) अव्याबाध, अनन्तसुख आदि गुणो करके अतिशयपूर्ण है, (अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं) मनुष्य व देवों के स्वामीपने से उल्लंघन कर गए है अर्थात् जैसे पहले अरहत अवस्था में मनुष्य व देव व इन्द्रादिक समवशरण में आकर नमस्कार करते थे, इससे प्रभुपना होता था अब यहां उस भाव को लांघ गए है । अर्थात् सिद्ध अवस्था में न समवशरण है न देवादि आते है, न प्रत्यक्ष नमस्कार करते है ।**

(अपुणब्भावणिवद्ध) तथा मुक्तावस्था मे निश्चल अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंचपरावर्तन रूप संसार से विलक्षण शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमय निज आत्मा की प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसी मोक्ष के अधीन है अर्थात् स्वाधीन व मुक्त है (पुणो पुणो पणमामि) बार बार नमस्कार करता हूँ ।

विशेष—**यह है कि यहाँ टीकाकार ते अविच्छिदं तथा मणुवदेवपदिभावं इन दोनों पदों को एक मे मानकर ऐसा अर्थ किया है । यदि हम इन दोनों पदों को अलग-अलग मान ले तो यह अर्थ होगा कि वह सिद्ध भगवान् अविनाशी है । उनकी अवस्था का कर्मो से अभाव नही होगा तथा वे मनुष्य व देवो के स्वामीपन को प्राप्त है अर्थात् उनसे महान् इस संसार मे कोई प्राणी नही है । सब उन ही का ध्यान करते है । यहाँ तक कि तीर्थकर भी सिद्धों का ही ध्यान छद्मस्थ अवस्था मे करते है । इस प्रकार नमस्कार की मुख्यता से**

दो गाथाएं पूर्ण हुईं । इस तरह आठ गाथाओ से पांचवा स्थल जानना चाहिये । इस तरह अठारह गाथाओं से व स्थल से सुख प्रपच नाम का अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ इस तरह पूर्व मे कहे प्रमाण "एस सुरासुर" इत्यादि चौदह गाथाओ से पीठिका का वर्णन किया। फिर सात गाथाओं से सामान्यपने सर्वज्ञ की सिद्धि की, फिर तैंतीस गाथाओ से ज्ञान-प्रपंच, फिर अठारह गाथाओं से सुख-प्रपंच, इस तरह समुदाय से बहत्तर गाथाओं के द्वारा तथा चार अन्तर-अधिकारों से शुद्धोपयोग नाम का अधिकार पूर्ण किया ।

उत्थानिका—इसके आगे पचीस गाथा पर्यंत ज्ञानकठिका चतुष्टय नाम का अधिकार प्रारम्भ किया जाता है । इन पच्चीस गाथाओ के मध्य मे पहले शुभ व अशुभ उपयोग मे मूढता को हटाने के लिये "देवदजदि गुरु" इत्यादि दश गाथाओ तक पहली ज्ञानकठिका का कथन है । फिर परमात्मा के स्वरूप के ज्ञान मे मूढता को दूर करने के लिये "चत्ता पावारम्भ" इत्यादि सात गाथाओ तक दूसरी ज्ञानकठिका है । अनन्तर द्रव्यगुण पर्याय के ज्ञान के सम्बन्ध मे मूढता को हटाने के लिये "दव्वादीएसु" इत्यादि छः गाथाओ तक तीसरी ज्ञानकठिका है । फिर स्व और पर तत्व के ज्ञान के सम्बन्ध मे मूढता को हटाने के लिये "णाणप्पग" इत्यादि दो गाथाओ से चोथी ज्ञानकठिका है। इस चार अधिकार की समुदायपातनिका है । अब यहाँ पहली ज्ञानकठिका मे स्वतन्त्र व्याख्यान के द्वारा चार गाथाएँ है । इसके बाद पुण्य जीव के भीतर विषयभोग की तृष्णा को पैदा कर देता है । ऐसा कहते हुए गाथाए चार है । तदन्तर सकोच करते हुए गाथाएँ दो है—इस तरह तीन स्थलतक क्रम से व्याख्यान करते है ।

अथ शुभपरिणामाधिकारप्रारम्भः ।

अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति——

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ।।६९।।

देवतायतिगुरूपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु ।
उपवासादिषु रक्त शुभोपयोगात्मक आत्मा ।।६९।।

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूता द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूता शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलष्येत् ।।६९।।

भूमिका—**अब, इन्द्रिय सुख स्वरूप के विचार को प्रारम्भ करते हुये उसके कारण (शुभ परिणाम) के स्वरूप को कहते है—**

अन्वयार्थ—[देवता—यतिगुरुपूजासु] देव, यति और गुरु की पूजा मे [चैव] तथा [दाने] दान मे [सुशीलेषु वा] तथा सुशीलो मे [उपवासादिषु] और उपवासादिको मे [रक्तः आत्मा] लीन आत्मा [शुभोपयोगात्मक] शुभोपयोगात्मक (शुभोपयोगमयी) है।

टीका—**जब यह आत्मा दुःख की साधनभूत द्वेषरूप तथा इन्द्रिय-विषय के अनुराग रूप अशुभोपयोग भूमिका को उल्लंघन करके, देव-गुरु यति की पूजा, दान, शील और उपवासादिक के प्रीतिस्वरूप धर्मानुराग को अंगीकार करता है, तब (वह) इन्द्रियसुख के कारणभूत शुभोपयोग–भूमिका में अधिरुढ कहलाता है।**

विशेषार्थ—**अतीन्द्रियसुख का कथन करने के पश्चात्, अब आचार्य महाराज इन्द्रियसुख को हेय, दुःखरूप तथा त्याज्य दिखलाते है। उसी प्रकरण में, इस इन्द्रिय-सुख के साधनभूत निरतिशय शुभ परिणाम (पुण्य) को भी, कारण में कार्य का उपचार करके, हेय, दुखरूप तथा त्याज्य बतलाते है। अतः यहां इस प्रकरण में उस निरतिशय पुण्य का कथन है, जो इन्द्रिय–सुख को उपादेय मानते हुये, मात्र उस इन्द्रिय-सुख की प्राप्ति के लिये किया जाता है। इस कुल प्रकरण मे इस बात को ध्यान रखने की अत्यन्त आवश्यक है, वरना भ्रम हो सकता है।**

जो सातिशयपुण्य परमार्थदृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति के लिये किया जाता है, उस सातिशयपुण्य कथन स्वयं ग्रंथकार ने आगे गाथा २४५ से प्रारम्भ किया है और उसको मोक्ष का साधन बतलाया है। विशेषकर गाथा २४५ से २६० तक देखने योग्य है। आचार्यो के कथन में पूर्वापर-विरोध नही हो सकता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां गाथा ६६ से कुल प्रकरण निरतिशयपुण्य का है, जो मात्र इन्द्रिय-सुख की प्राप्ति के लिये किया जाता है। इन्द्रिय सुख हेय है, अतः उसके साधनभूत इन्द्रिय-जनित ज्ञान अथवा क्षायोपशमिकज्ञान को भी गाथा ६४ आदि में हेय बतलाया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि क्षायोपशमिकज्ञान तथा शुभोपयोग सर्वथा हेय है।

तात्पर्यवृत्ति

तद्यथा—अथ यद्यपि पूर्व गाथाषट्केनेन्द्रियसुखस्वरूप भणित तथापि पुनरपि तदेव विस्तरेण कथयन् सन् तत्साधक शुभोपयोग प्रतिपादयति, अथवा द्वितीयपातनिका—पीठिकाया यच्छुभोपयोग-स्वरूप सूचित तस्येदानीमिन्द्रियसुखविशेषविचारप्रस्तावे तत्साधकत्वेन विशेषविवरण करोति—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु उववासादिसु रत्तो तथैवोपवासादिषु च रक्त आसक्त अप्पा जीव सुहोवओगप्पगो शुभोपयोगात्मको भण्यते इति।

तथाहि—देवता निर्दोषिपरमात्मा, इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यति·, स्वय भेदाभेद-रत्नत्रयाराधकस्तदर्थिना भव्याना जिनदीक्षादायको गुरु पूर्वोक्तदेवतायतिगुरूणा तत्प्रतिविम्बादोना च यथासम्भव द्रव्यभावरूपा पूजा, आहारादिचतुर्विधदान च आचारादिकथितशीलव्रतानि तथैवो-दिसा जिनगुणसपत्त्यादिविधिविशेषाश्च। एतेषु शुभानुष्ठानेषु योऽसौ रत: द्वेषरूपे विषयानुरागरूपे चाशुभानुष्ठाने विरत·, स जीव शुभोपयोगी भवतीति सूत्रार्थ. ।।६६।।

उत्थानिका—यद्यपि पहले छ: गाथाओं के द्वारा इन्द्रियो के सुख का स्वरूप कहा है तथापि फिर भी उसी को विस्तार के साथ कहते हुए उस इन्द्रिय सुख के साधक शुभोयोग को कहते है—अथवा दूसरी पातनिका है कि पीठिका में जिस शुभोपयोग का स्वरूप सूचित किया है उसीका यहां इन्द्रियसुख के विशेष कथन में इन्द्रिय सुख के विशेष कथन में इन्द्रिय सुख का साधक रूप विशेष आख्यान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—जो (देवदजदिगुरुपूजासु) देवता, यति, गुरु की पूजा मे (चेव दाणम्मि) तथा दान में (वा सुसीलेसु) और सुशील रूप चारित्रों मे (उववासादिसु) तथा उपवास आदिकों मे (रत्तो) रत है, वह (सुहोवओगप्पगो अप्पा) शुभोपयोगधारी आत्मा कहा जाता है।

विशेष यह है कि जो सर्व दोष–रहित परमात्मा है, वह देवता है, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध आत्मा के स्वरूप के साधन में उद्यमवान है। वह यति है। जो स्वयं निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय का आराधना करने वाला है और ऐसी आराधना के चाहने वाले भव्यों को जिन-दीक्षा का देने वाला है, वह गुरु है। इन देवता, यति और गुरुओं की तथा उनकी मूर्ति आदिकों की यथासम्भव अर्थात् जहां जैसी सम्भव हो वैसी द्रव्य और भाव पूजा करना, आहार, अभय, औषधि और विद्यादान ऐसा चार प्रकार दान करना आचारादि ग्रन्थों में कहे प्रमाण शीलव्रतों को पालना तथा जिनगुणसम्पत्ति को आदि लेकर अनेक विधि विशेष से उपवास आदि करना, इतने शुभ कार्यो में लीनता करता हुआ तथा द्वेषरूप भाव व विषयों के अनुराग रूप भाव आदि अशुभ उपयोग से विरक्त होता हुआ जीव शुभोपयोगी होता है, ऐसा सूत्र का अर्थ है ।।६६।।

भावार्थ—यहां आचार्य ने शुद्धोपयोग मे प्रीतिरूप शुभोपयोग का स्वरूप बताया है अथवा अरहंत, सिद्ध परमात्मा के मुख्य ज्ञान और आनन्द स्वभावों का वर्णन करके उन परमात्मा के आराधन की सूचना की है अथवा मुख्यता से उपासक का कर्तव्य बताया है। शुभोपयोग तीव्र कषायों के अभाव में होता है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने स्वयम्भूस्तोत्र में भक्ति करते हुए यह भाव झलकाया है, जैसे—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चित सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजन.।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासन.।।५।।

वह जगत् को देखने वाले, साधुओं से पूजनीय पूर्ण ज्ञानमय देह के धारी, निरंजन व अल्पज्ञानी अन्यवादियों के मत को जीतने वाले श्री नाभिराजा के पुत्र श्री वृषभ जिनेन्द्र मेरे चित्त को पवित्र करो। भावों की निर्मलता होने से जो शुभ राग होता है, वह तो अतिशय पुण्यकर्म को बांधता है, जो मोक्ष-प्राप्ति में सहकारी कारण होते है। जैसे तीर्थंकर, उत्तमसंहनन आदि। शुभोपयोग में वर्तन करने से उपयोग अशुभोपयोग से बचा रहता है तथा यह शुभोपयोग शुद्धोपयोग में पहुँचने के लिए सीढ़ी है। इसलिये शुद्धोपयोग की भावना करते हुए शुभोपयोग में वर्तन करना चाहिये। वास्तव में शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि के ही होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग को इस काल में उपादेय मानकर उसी की भावना से प्राप्ति के लिये अरहंत-भक्ति आदि शुभोपयोग के मार्ग में वर्तना चाहिये।६९।

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति—

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि[1] सुहं इन्दियं विविधं[2] ।।७०।।

युक्त· शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा।
भूतस्तावत्काल लभते सुखमैन्द्रिय विविधम् ।।७०।।

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुषदेवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते, तावत्कालमनेकप्रकारमिन्द्रियसुखं समासादयतीति ।।७०।।

भूमिका—अब, शुभोपयोग के साध्यपने से इन्द्रियसुख को कहते हैं—

अन्वयार्थ—[शुभेन युक्त] शुभ परिणाम से युक्त [आत्मा] आत्मा [तिर्यक्] तिर्यञ्च [वा] अथवा [मानुषः] मनुष्य [वा] अथवा [देव] देव [भूत] होता हुआ [तावत्काल] उतने समय तक [विविध] अनेक प्रकार के [ऐन्द्रिय] इन्द्रिय-सम्बन्धी [सुख] सुख को [लभते] पाता है।

टीका—यह आत्मा इन्द्रिय-सुख के साधनभूत शुभोपयोग की सामर्थ्य से, उसके (इन्द्रिय सुख के) स्थानभूत (आधारभूत) तिर्यञ्च, मनुष्य और देवत्व की भूमिकाओमे से

---

१ लहइ (ज० वृ०)। २ विविह (ज० वृ०)।

किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक (उसमें) ठहरता है, उतने समय तक अनेक प्रकार के इन्द्रिय-सुख को प्राप्त करता है ॥७०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तशुभोपयोगेन साध्यमिन्द्रियसुख कथयति—

सुहेण जुत्तो आदा यथा निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन युक्तो मुक्तो [1]भूत्वाऽनन्तकालमतीन्द्रियसुखं लभते, तथा पूर्वसूत्रोक्तलक्षणशुभोपयोगेन युक्त परिणतोऽयमात्मा तिरियो वा माणुसो व देवो वा भूदो तिर्यग्मनुष्यदेवरूपो भूत्वा तावदि काल तावत्काल स्वकीयायु पर्यन्त लहदि सुह इन्दिय विविह इन्द्रियजं विविध सुख लभते, इति सूत्राभिप्राय. ॥७०॥

उत्थानिका—आगे बताते है कि पूर्व गाथा मे कथित शुभोपयोग के समय जो पुण्यकर्म बन्ध होता है उसके उदय से इद्रियसुख प्राप्त होता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सुहेण जुत्तो आदा) जैसे निश्चयरत्नत्रयमय शुद्धोपयोग से युक्त आत्मा मुक्त होकर अनन्त काल तक अतीन्द्रियसुख को प्राप्त करता है तैसे ही पूर्व सूत्र मे कहे हुए शुभोपयोग मे परिणमन करता हुआ यह आत्मा (तिरियो वा माणुसो वा देवो वा भूदो) तिर्यंच, मनुष्य या देव होकर (तावदि कालं) अपनी-अपनी आयु पर्यंत (विविहं इंदियं सुह लहदि) नाना प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न सुख को पाता है। यह इस गाथा का अभिप्राय है ॥७०॥

अथैवमिन्द्रियसुखमुत्क्षिप्य दुःखत्वे प्रक्षिपति—

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा[2] रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७१॥

सौख्य स्वभावसिद्ध नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे ।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥७१॥

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकस, तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते । यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरपिशाचपीडया परवशा भृगुप्रपातस्थानीयान्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति ॥७१॥

भूमिका—अब, इस प्रकार इन्दिय-सुख को उठाकर दुःख-रूप मे डालते है (अर्थात् इन्द्रिय-सुख परमार्थ से दुःख ही है, यह बतलाते है):—

अन्वयार्थ—[उपदेसे सिद्ध] उपदेश से (आगम से) सिद्ध है कि [सुराणा अपि] देवो के भी [स्वभावसिद्ध] स्वभावसिद्ध [सौख्य] सुख (आत्मा से उत्पन्न होने वाला

---

१ भूत्वाऽय जीवोऽनन्तकालमतीन्द्रियसुखम् इति पाठान्तरम् ।

२ देहवेदणत्ता (ज० वृ०) ।

वह पुरुष उस कूप में लगे हुए वृक्ष की शाखा को पकड़ कर लटक जाए जिसकी जड़ को सफेद और काले चूहे काट रहे हों तथा उस वृक्ष में मधु मक्खियों का छत्ता लगा हो जिसकी मक्खियाँ उसके शरीर में चिपट रहीं हों, हाथी वृक्ष को टक्कर पर टक्कर मार रहा हो ऐसी विपत्ति में पड़ा हुआ यदि वह मधु के छत्ते से गिरती हुई मधु बूंद के स्वाद को लेता हुआ अपने को सुखी माने, तो उसकी मूर्खता है क्योकि वह शीघ्र ही कूप मे पड़कर मरण को प्राप्त करेगा, यह दृष्टांत ऐसे है कि यह ससाररूपी महा वन है जिसमे मिथ्यादर्शन आदि कुमार्ग में पड़ा हुआ कोई जीव मरणरूपी हाथी के भय से त्रासित होता हुआ किसी मनुष्यलोक को प्राप्त हो जिसके नीचे सातवां नरकरूपी अजगर हो व क्रोध, मान, माया, लोभरूप चार सर्प चारों कोनों मे बैठे हों, जीव आयु कर्मरूपी शाखा मे लटक जाए जिस शाखा की जड़ को शुक्ल कृष्ण पक्षरूपी चूहे निरंतर काट रहे हो व उसके शरीर में मधु-मक्खियों के समान अनेक रोग लग रहे हो तथा मरण रूपी हाथी खड़ा हो और वह मधु की बूंद के समान इन्द्रिय विषय के सुख को भोगता हुआ अपने को सुखी माने, सो उसकी अज्ञानता है। विषय सुख दु ख का घर है। ऐसा सांसारिक सुख त्यागने योग्य है, जबकि मोक्ष का सुख आपत्ति-रहित स्वाधीन तथा अविनाशी है, इसलिये ग्रहण करने योग्य है, यह तात्पर्य है ॥७१॥

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्त्यावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्यनिर्वर्तक-शुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति—

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किध[1] सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥७२॥

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसभव दु खं ।
कथ स शुभो वा अशुभ उपयोगो भवति जोवानाम् ॥७२॥

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरप्रत्ययं दुःखमेवानुभवन्ति। ततः परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्था नावतिष्ठते ॥७२॥

भूमिका—इस प्रकार इन्द्रिय–सुख की दु ख-रूपता प्रगट करके अब इन्द्रिय-सुख के साधनभूत पुण्य को उत्पन्न करने वाले शुभोपयोग तथा दुःख के साधनभूत पाप को उत्पन्न करने वाले अशुभोपयोग की अविशेषता को (यानी-दोनो में कुछ अन्तर नही है, इस बात को) प्रगट करते है—

---

१ किह (ज० वृ०)

अन्वयार्थ—[नरनारकतिर्यक्सुरा] मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव (सभी) [यदि] जो [देहसम्भव] देहोत्पन्न (पॉच इन्द्रियमयी शरीर से उत्पन्न होने वाले) [दुख] दु.ख को [भजति] अनुभव करते है तो [जीवाना] जीवो के [स: उपयोग.] वह उपयोग [शुभ. वा अशुभ.] शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का [कथं भवति] कैसे है (हो सकता) (अर्थात् नही हो सकता है)।

टीका—**यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पत्ति वाले देवादिक, (शुभोपयोग से उत्पन्न हुए पुण्य के उदय से प्राप्त होने वाली ऋद्धि वाले देव इत्यादिक) तथा अशुभोपयोग जन्य उदयागत पाप की आपदा वाले नरकादिक दोनों ही स्वाभाविकसुख के अभाव (के कारण) से अविशेषरूप से (बिना अन्तर के समान रूप से) पंचेन्द्रियात्मक शरीर के कारण से होने वाले दुःख को ही अनुभव करते है, तो इस (कारण) से परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की भिन्नपने की व्यवस्था नहीं ठहरती है ॥७२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण शुभोपयोगसाध्यस्येन्द्रियसुखस्य निश्चयेन दु खत्व ज्ञात्वा तत्साधकशुभोपयोगस्याप्यशुभोपयोगेन सह समानत्व व्यवस्थापयति—

णरणारयतिरियसुरा भजति जदि देहसंभव दुक्खं सहजातीन्द्रियामूर्तसदानन्दैकलक्षण वास्तवसुखमेव। सुखमलभमाना. सन्तो नरनारकतिर्यक्सुरा यदि चेदविशेषेण पूर्वोक्तपरमार्थसुखाद्विलक्षण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरोत्पन्न निश्चयनयेन दु खमेव भजन्ते सेवन्ते **किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाण** व्यवहारेण विशेषेऽपि निश्चयेन स प्रसिद्ध. शुद्धोपयोगाद्विलक्षण. शुभाशुभोपयोग: कथ भिन्नत्व लभते ? न कथमपीति भाव: ॥७२॥

एव स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन प्रथमस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे पूर्व कहे प्रमाण शुभोपयोग से होने वाले इन्द्रियसुख को निश्चय से दु खरूप जानकर, मात्र उस इन्द्रियसुख के साधक ऐसे शुभोपयोग को भी अशुभोपयोग की समानता मे स्थापित करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) जो (णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, पशु और देव स्वाभाविक अतीद्रिय अमूर्तिक सदा आनन्दमयी जो सच्चा सुख है, उसको नही प्राप्त अर्थात् श्रद्धान करते हुए (देह संभवं दुक्खं भजंति) पूर्व मे कहे हुए निश्चय सुख से विलक्षण पंचेन्द्रियमयी शरीर से उत्पन्न हुई पीड़ा को ही निश्चय से सेवते है तो (जीवाणं सो सुहो व असुहो उवओगो किह हवदि) ऐसे जीवों के शुद्धोपयोग से विलक्षण वे शुभ या अशुभ उपयोग व्यवहार से भिन्न होने पर भी निश्चय से किस तरह भिन्नता को रख**

सकता है ? अर्थात् किसी भी तरह भिन्न नहीं है । मिथ्यादृष्टि जीव का शुभ व अशुभ उपयोग एक रूप ही है ॥७२॥

इस तरह स्वतन्त्र चार गाथाओं से प्रथम स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति—

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७३॥

कुलिशायुधचक्रधराः शुभोपयोगात्मकैः भोगैः ।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरताः ॥७३॥

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतैर्भोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते । ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ॥७३॥

भूमिका—(जैसे इन्द्रिय-सुख को दुःखरूप और शुभोपयोग को अशुभोपयोग के समान बताया है इसी प्रकार) अब शुभोपयोग-जन्य फलवाले पुण्य को विशेष रूप से दूषण देने के लिये (इस गाथा में उस पुण्य के अस्तित्व को) स्वीकार करके (अगली गाथा में उसको) खण्डन करते है—

अन्वयार्थ—(क्योकि) [कुलिशायुधचक्रधराः] ब्रज्रधर (इन्द्र) और चक्रधर (चक्रवती) [शुभोपयोगात्मकैः भोगैः] शुभोपयोगमूलक (पुण्यो के फल रूप) भोगो के द्वारा [देहादीनां] देहादि की [वृद्धिं कुर्वन्ति] पुष्टि करते है और [अभिरताः] (इस प्रकार) भोगो मे रत होते हुए [सुखिताः इव] सुखी-जैसे भासित होते है (इसलिये पुण्य विद्यमान अवश्य है) ।

टीका—क्योंकि वास्तव में इन्द्र और चक्रवर्ती, अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा शरीरादि को पुष्ट करते है, (तथा) जैसे गोंचे (जोंके) दूषित रक्त में अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी-जैसी भासित होती है, उनकी तरह उन (पुण्य-जन्य भोगों) में अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए, सुखी-जैसे भासित होते है । इस कारण से शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्य दिखाई देते है (अर्थात् शुभोपयोग का अस्तित्व अवश्य है) किन्तु—॥७३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुण्यानि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिपदं प्रयच्छन्ति इति पूर्वं प्रशंसां करोति । किमर्थम् ? तत्फलाधारेणाग्रे तृष्णोत्पत्तिरूपदुःखदर्शनार्थम्—

कुलिसाउहचक्कधरा देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च कर्तार **सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं** शुभोपयोगजन्यभोगैः कृत्वा देहादीण **विद्धि करति** विकुर्वणारूपेण देहपरिवारादीना वृद्धि कुर्वन्ति । कथभूताः सन्तः ? **सुहिदा इवाभिरदा** सुखिता इवाभिरता आसक्ता इति ।

अयमत्रार्थ —यत्परमातिशयतृप्तिमुत्पादक विषयतृष्णाविच्छित्तिकारक च स्वाभाविकसुख तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ताः सुखाभासेन देहादीना वृद्धि कुर्वन्ति । ततो ज्ञायते तेषा स्वाभाविक सुख नास्तीति ।।७३।।

उत्थानिका—आगे व्यवहारनय से पुण्यकर्म देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि के पद देते है इसलिये उनकी प्रशसा करते है, सो इसलिये बताते है कि आगे इन्ही उत्तम फलो के आधार से मिथ्यादृष्टियो के तृष्णा की उत्पत्ति रूप दुःख दिखाया जाएगा ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(कुलिसाउहचक्कधरा) देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदिक (सुहिदा इव अभिरदा) मानों सुखी है आसक्त होने हुए अर्थात् श्रद्धा करते हुए (सुहोवओगप्पगेहि) भोगेहिं) शुभोपयोग के द्वारा पैदा हुये व प्राप्त हुये भोगों से विक्रिया करते हुए (देहादीणं) शरीर परिवार आदि की (विद्धि करेंति) बढ़ती करते है ।**

यहां यह अर्थ है कि जो परम अतिशयरूप तृप्ति को देने वाला विषयों की तृष्णा को नाश करने वाला स्वाभाविक सुख है उसकी श्रद्धा न करते हुए जीव, जैसे जोके विकार वाले खून में आसक्त हो जाती है वैसे आसक्त होकर सुखाभास में सुख जानते हुए देह आदि की वृद्धि करते है। इससे यह जाना जाता है कि उन इन्द्र व चक्रवर्ती आदि बड़े पुण्यवान् जीवों के भी स्वाभाविक सुख की श्रद्धा नही है ।।७३।।

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ।।७४।।

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि ।
जनयन्ति विषयतृष्णा जीवाना देवतान्तानाम् ।।७४।।

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यन्ते इत्यभ्युपगम्यते, तदा तानि सुधाशनानप्यवधिं कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव समुत्पादयन्ति । न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्यते । अवलोक्यते च सा । ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव ।।७४।।

भूमिका—अब, इस प्रकार स्वीकार किये गये पुण्यों के दुःख के बीजरूप-हेतुपने को (न्याय से) प्रगट करते है—

अन्वयार्थ—[यदि हि] (पूर्वोक्त प्रकार से) जो [परिणामसमुद्भवानि] (शुभोपयोग रूप) परिणामो से उत्पन्न होने वाले [विविधानि पुण्यानि] अनेक प्रकार के पुण्य [संति] है (वे पुण्य) [देवान्ताना जीवानां] देवो तक के जीवो के [विषयतृष्णा] विषय तृष्णाको [जनयन्ति] उत्पन्न करते है।

टीका—**यदि इस प्रकार शुभोपयोग परिणामों से की है उत्पत्ति जिन्होंने (उत्पन्न होने वाले) ऐसे अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान है, यह स्वीकार किया है तो वे (पुण्य) देवों तक के समस्त संसारियों के विषय-तृष्णा को (अवश्य ही उत्पन्न करते है यह भी स्वीकार करना पड़ेगा)। वास्तव मे तृष्णा के बिना दूषित रक्त मे जोंकों (गोंचों) की तरह, समस्त संसारियों की विषयों मे प्रवृत्ति दिखाई न दे, किन्तु वह (प्रवृत्ति) तो दिखाई देती है, इस कारण से पुण्यों के तृष्णा की स्थापना अवाधित ही है (अर्थात् पुण्य तृष्णा के घर है, यह अविरोध रूप से सिद्ध होता है) ॥७४॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुण्यानि जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयन्तीति प्रतिपादयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य यदि चेन्निश्चयेन पुण्यपापरहितपरमात्मनो विपरीतानि पुण्यानि सन्ति। पुनरपि किंविशिष्टानि ? **परिणामसमुब्भवाणि** निर्विकारस्वसंवित्तिविलक्षशुभपरिणाम-समुद्भवानि **विविहाणि** स्वकीयानन्तभेदेन बहुविधानि। तदा तानि किं कुर्वन्ति ? **जणयंति विसयतण्हं** जनयन्ति। का ? विषयतृष्णा। केषां ? **जीवाणं देवदंताणं** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्ध-प्रभृतिनानामनोरथहेयरूपविकल्पजालरहितपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरूपां सर्वात्मप्रदेशेषु परमाह्लादोत्पत्तिभूतामेकाकारपरमसमरसीभावरूपां विषयाकाङ्क्षाग्निजनितपरमदाहविनाशिकां स्वरूपतृप्ति-मलभमानानां देवेन्द्रप्रभृतिबहिर्मुखससारिजीवानामिति।

इदमत्र तात्पर्यम्—यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणिते जलूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्ति कुर्वन्ति। कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दु:खकारणानि इति ज्ञायन्ते ॥७४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि पुण्यकर्म मिथ्यादृष्टि जीवो मे विषय की तृष्णा को पैदा कर देते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि हि) यद्यपि निश्चय करके (परिणामसमुब्भवाणि) विकार रहित स्वसंवेदन भाव से विलक्षण शुभ परिणामों के द्वारा पैदा होने वाले (विविहाणि पुण्णाणि संति) अपने अनन्तभेद से नाना तरह के तथा पुण्य व पाप से रहित परमात्मा से विपरीत पुण्य कर्म होते है तथापि वे (देवदंताणं जीवाणं) देवता तक के जीवों के भीतर (विसयतण्हं) विषयों की चाह को (जणयंति) पैदा कर देते है। ये पुण्यकर्म उन देवेन्द्र आदि बहिर्मुखी जीवों के भीतर विषय की तृष्णा बढ़ा देते है। जिन्होंने देखे, सुने,**

अनुभूत भोगों की इच्छा रूप निदानबन्ध को आदि लेकर नाना प्रकार के मनोरथरूप विकल्पजालों से रहित जो परमसमाधि उससे उत्पन्न जो सुखामृत रूप तथा सर्व आत्मा के प्रदेशों में परम आल्हाद को पैदा करने वाली एक आकार स्वरूप परमसमरसीभावमयी और विषयों की इच्छा रूप अग्नि से पैदा होने वाले जो परमदाह उसको शांत करने वाली ऐसी अपने स्वरूप में तृप्ति को नही प्राप्त किया है।

तात्पर्य यह है कि जो ऐसी विषयों की तृष्णा न होवे तो गंदे रुधिर में जोंकों की आसक्ति की तरह कौन विषय भोगो मे प्रवृत्ति करे ? और जब वे बहिर्मुखी जीव प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं तब अवश्य यह मालूम होता है कि पुण्यकर्म ऐसे जीवों के तृष्णा को पैदा कर देने से दुःख का कारण है ॥७४॥

अथ पुण्यस्य दुःखबीजविजयमाघोषयति—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति [1]अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७५॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णा. दुखितातृष्णाभिर्विषयसौख्यानि।
इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरण दु खसतप्ता ॥७५॥

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नसंसारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिताः सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति। तद्दु.खसन्तातापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान् जलायुका इव, तावद्यावत् क्षयं यान्ति। यथा हि जलायुकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्टकीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते। एवममी अपि पुण्यशालिनः पापशालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्तस्तानेवानुभवन्तश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते। अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्यु ॥७५॥

भूमिका—अब (निरतिशय) पुण्य के दुख के बीज-रूप विजय को घोषित करते है—

अन्वयार्थ—[पुन] और फिर [उदीर्णतृष्णा ते] जिनके तृष्णा उदय हुई है, ऐसे जीव [तृष्णाभि दु·खिता] तृष्णाओ के द्वारा दुखी होते हुए [विपय–सौख्यानि इच्छन्ति] विषयो को चाहते है [च] और [दु खसन्तप्ता] दुखो से सतप्त होते हुए (दुख दाह को सहन न करते हुए) [आमरण] मरण पर्यन्त (उन विषयो को) [अनुभवति] भोगते हैं।

टीका—अब जिनके तृष्णा उदय हुई है ऐसे देवपर्यन्त वे समस्त संसारी जीव पुण्य से रची हुई होने पर भी दुःख के बीजभूत तृष्णाओं के द्वारा अत्यन्त दुखी होते हुए, मृग-

(१) अणुहवंति (ज० वृ०)।

तृष्णा से जल प्राप्ति की इच्छा की भांति, विषयों से सुख को चाहते है। (जैसे हरिण मृग-तृष्णा से जल प्राप्ति की इच्छा कर दुःखी होता है, वैसे ही संसारी जीव विषयों से सुख की इच्छा करके दुःखी होते है, क्योंकि विषयो में सुख नहीं है, किन्तु आकुलता रूप दु.ख ही है)। उस (तृष्णा) के दु ख रूप संताप के वेग को सहन न कर सकने से, जोंक की भांति, विषयों को तब तक भोगते है जब तक कि मरण को प्राप्त नहीं हो जाते।

भावार्थ—जैसे जोंक (गोंच), वास्तव में तृष्णा जिसका बीज है और जो तृष्णा विजयशील है, ऐसे दुःखांकुर से क्रमशः व्याप्त होती हुई दूषित रक्त को चाहती है, और उसी को पीती हुई मरण पर्यत दुःख को पाती है। उसी प्रकार ये (निरतिशय) पुण्यशाली जीव भी पापशाली जीवो की भाँति, तृष्णा जिसका बीज है और जो विजय को प्राप्त है, ऐसे दुखांकुर के द्वारा क्रमशः व्याप्त होते हुए विषयों को चाहते हुए और उनको ही भोगते हुए मरण-पर्यत दुःख पाते है। इस कारण से (निरतिशय) पुण्य सुखाभास रूप दु ख का साधन है।

विशेषार्थ—गाथा ४४ मे ग्रंथकार स्वयं 'पुण्य का फल अरिहंत पद है' ऐसा कह चुके हैं। इस गाथा में निरतिशय पुण्य का कथन है, जो कि भोगों की वांछा से किया जाता है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुण्यानि दु.खकारणानीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति·—

ते पुण उदिण्णतण्हा सहजशुद्धात्मतृप्तेरभावात्ते निखिलससारिजीवा: पुनरुदीर्णतृष्णा: सन्त: **दुहिदा तण्हाहिं** स्वसवित्तिसमुत्पन्नपारमार्थिकसुखाभावात्पूर्वोक्ततृष्णाभिर्दु खिता. सन्त:। कि कुर्वन्ति ? **विसयसोक्खाणि इच्छति** निर्विषयपरमात्मसुखाद्विलक्षणानि विषयसुखानि इच्छन्ति। न केवलमिच्छन्ति **अणुहवंति य** अनुभवन्ति च। कि पर्यन्तम् ? **आमरण** मरणपर्यन्त। कथभूता: ? **दुक्खसतत्ता** दु.खसतप्ता इति।

अयत्रार्थ:—यथा तृष्णोद्रेकेण प्रेरिता. जलौकस: कीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चामरणं दु.खिता भवन्ति, तथा निजशुद्धात्मसवित्तिपराङ्मुखा जीवा अपि मृगतृष्णाभ्योऽम्भासीव विषयानभिलषन्तस्तथैवानुभवन्तश्चामरण दु.खिता भवन्ति। तत एतदायात तृष्णातङ्कोत्पादकत्वेन पुण्यानि वस्तुतो दु·खकारणानि इति ॥७५॥

उत्थानिका—आगे पुण्यकर्म मिथ्यादृष्टि जीवो के लिये दु.ख के कारण है, इस ही पूर्व के भाव को विशेष करके समर्थन करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**पुण**) तथा फिर (**ते**) वे अज्ञानी सर्व संसारी जीव (**उदिण्णतण्हा**) स्वाभाविक शुद्ध आत्मा में तृप्ति को न पाकर तृष्णा को उठाए हुए (**तण्हाहिं**

दुहिदा) स्वसवेदन से उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख उसकी श्रद्धा के अभाव से अनेक प्रकार की तृष्णा से दु.खी होते हुए व (आमरणं दुक्खसंतत्ता) मरण पर्यंत दुःखों से संतापित रहते हुए (विषयसोक्खाणि) विषयों से रहित परमात्मा के सुख से विलक्षण विषय के सुखों को (इच्छंति) चाहते रहते हैं (अणुहवंति व) और भोगते रहते हैं ।

यहाँ यह अर्थ है कि जैसे तृष्णा की तीव्रता से प्रेरित होकर जोंक जंतु खराब रुधिर की इच्छा करता है तथा उसको पीता है, इस तरह करती हुई जोंक मरण पर्यंत दुःखी रहती है अर्थात् खराब रुधिर पीते-पीते उसका मरण हो जाता है परन्तु उसकी तृष्णा नही मिटती, तैसे अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव को न पाने वाले अर्थात् श्रद्धा न करने वाले जीव भी, जैसे मृग तृषातुर होकर बार-बार सूखी नदी के मैदान में जल जान जाता है, परन्तु तृषा न बुझाकर दुःखी ही रहता है, इसी तरह जीव विषयों को चाहते तथा अनुभव करते हुए मरण पर्यंत दुःखी रहते है । इससे यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानी जीवों में तृष्णा रूपी रोग को पैदा करने के कारण से पुण्यकर्म वास्तव मे दु ख का ही कारण है ।।७५।।

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दु.खत्वमुद्योतयति—

सपरं बाधासहिदं[1] विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहिं[2] लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा[3] ।।७६।।

सपर बाधासहित विच्छिन्न बन्धकारण विषमम् ।
यत् इन्द्रियैः लब्ध तत्सौख्य दुःख एव तथा ।।७६।।

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बंधकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात् । सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बासासहितं हि सदशनायोदन्यावृषस्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बन्धकारणं हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंष्ठुलतया च दु खमेव भवति । अथैवं पुण्यमपि पापवद्दु.खसाधनमायातम् ।।७६।।

भूमिका—अब, फिर भी पुण्यजन्य इन्द्रियसुख के अनेक प्रकार से दुःखपने को प्रगट करते है—

अन्वयार्थ—[यत्] जो [इन्द्रियै लब्ध] इद्रियो से प्राप्त होता है [तत् सौख्य]

---

१ बाधासहिय (ज० वृ०) । २ इदियेहि (ज० वृ०) । ३, तहा (ज० वृ०) ।

वह सुख (१) [सपर] पर सम्बन्ध-युक्त (पराधीन) (२) [बाधासहितं] बाधासहित, (३) [विच्छिन्न] विच्छिन्न, (४) [बधकारण] बध का कारण, (५) [विषम] और विषम है, [तथा] इस प्रकार [दु ख एव] वह दुख ही है।

टीका—(१) पर-सम्बन्ध-युक्त होने से, (२) बाधा–सहित होने से, (३) विच्छिन्न होने से, (४) बन्धका कारण होने से, और (५) विषम होने से पुण्य-जन्य भी इन्द्रियसुख दुखरूप ही है।

गाथा का अर्थ पूरा हो चुका। अब उसके भाव को स्वयं टीकाकार स्पष्ट करते है—(१) 'परके सम्बन्ध वाला' होता हुआ पराश्रयता के कारण पराधीनता से, (२) 'बाधा सहित' होता हुआ भोजन, पानी और मैथुन आदि तृष्णा की प्रगटताओं से युक्त होने के कारण अत्यन्त आकुलता से, (३) 'विच्छिन्न' होता हुआ असातावेदनीय का उदय जिसे च्युत कर देता है, ऐसे सातावेदनीय के उदय की प्रवर्तता से अनुभव में आने के कारण विपक्ष की उत्पत्ति वाला होने से, (४) 'बंध का कारण' होता हुआ, विषय-उपभोग के मार्ग मे लगी हुई रागादि दोषों की सेना के अनुसार बन्ध वाले घन-कर्म-समूह के कारण परिणाम मे (फल समय में) दुःसह (दुःख से सहने योग्य) होने से और (५) 'विषम' होता हुआ विशेष वृद्धि और विशेष हानि मे परिणत होने के कारण अत्यन्त अस्थिरता से (इन्द्रिय सुख) दुःख ही है। जबकि ऐसा है (इन्द्रियसुख दुःख ही है) तो पुण्य भी पाप की भांति दुःख के साधन-पने को प्राप्त हुआ। (दु ख का साधन ही सिद्ध हुआ)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुनरपि पुण्योत्पन्नस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दु खत्व प्रकाशयति,—

सपर सह परद्रव्यापेक्षया वर्तते सपर भवतीन्द्रियसुख, पारमार्थिकसुख तु परद्रव्यनिरपेक्षत्वादात्माधीन भवति। **बाधासहिय** तीव्रक्षुधातृष्णाद्यनेकबाधासहितत्वाद्बाधासहितमिन्द्रियसुख, निजात्मसुख तु पूर्वोक्तसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाध। **विच्छिण्ण** प्रतिपक्षभूतासातोदयेन सहितत्वाद्विच्छिन्न सान्तरित भवतीन्द्रियसुख, अतीन्द्रियसुख तु प्रतिपक्षभूतासातोदयाभावान्निरन्तर। **बंधकारण** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृत्यनेकापध्यानवशेन भाविनरकादिदु खोत्पादककर्मबन्धोत्पादकत्वाद्बन्धकारणमतीन्द्रियसुख तु सर्वापध्यानरहितत्वादमन्धकारण। **विसमं** विगत. शम: परमोपशमो यत्र तद्विषममतृप्तिकर हानिवृद्धिसहितत्वाद्वा विषम, अतीन्द्रियसुख तु परमतृप्तिकर हानिवृद्धिरहित च। **ज इंदियेहिं लद्ध तं सोक्खं दुक्खमेव तहा** यदिन्द्रियैर्लब्ध ससारसुख तत्सुख यथा पूर्वोक्तपञ्चविशेषण विशिष्ट भवति तथैव दु.खमेवेत्यभिप्राय: ॥७६॥

एव पुण्यानि जीवस्य तृष्णोत्पादकत्वेन दु.खकारणानि भवन्तीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टय गतम्।

उत्थानिका—आगे फिर भी पुण्य से उत्पन्न जो इन्द्रिय सुख होता है, उसको बहुत प्रकार से दु खरूप प्रकाश करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जं) जो संसारिकसुख (इंदियेहिं लद्धं) पांचों इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त होता है (तं सोक्ख) वह सुख (सपरं) परद्रव्य की अपेक्षा से होता है इसलिये पराधीन है, जब कि पारमार्थिकसुख परद्रव्य की अपेक्षा न रखने से आत्मा के अधीन यानी स्वाधीन है। इन्द्रियसुख (वाधासहियं) तीव्र क्षुधा तृणा आदि अनेक रोगों का सहकारी है, जबकि आत्मीक सुख सर्व बाधाओं से रहित होने से अव्याबाध है। इन्द्रियसुख (विच्छिण्णं) साताका विरोधी जो असातावेदनीयकर्म उसके उदय सहित होने से नाशवंत तथा अन्तर सहित होने वाला है, जबकि अतीन्द्रियसुख असाता के उदय के न होने से निरन्तर विना अन्तर पड़े व नाश हुए रहने वाला है। इन्द्रियसुख (बन्धकारण) देखे, सुने, अनुभव लिये हुए भोगों की इच्छा को आदि लेकर अनेक खोटे ध्यान के अधीन होने से भविष्य मे नरक आदि के दुःखों को पैदा करने वाले कर्मबन्ध को बांधने वाला है अर्थात् कर्मबन्ध का कारण है, जबकि अतीन्द्रियसुख सर्व अपध्यानों से शून्य होने के कारण से बंध का कारण नही है। तथा (विसमं) यह इन्द्रियसुख परम उपशम या शान्तभाव से रहित तृप्तिकारी नही है अथवा हानि वृद्धि रूप होने से एकसा नही चलता किन्तु विषम है, जब कि अतीन्द्रियसुख परम तृप्तिकारी और हानि वृद्धि से रहित है, (तथा दुक्खमेव) इसलिये यह इन्द्रियसुख पांच विशेषण सहित होने से दुःखरूप ही है, ऐसा अभिप्राय है ।।७६।।

इस तरह (मिथ्यादृष्टि) जीव के भीतर तृष्णा पैदा करने निमित्त होने से यह पुण्यकर्म दुःख का कारण है, ऐसा कहते हुए दूसरे स्थल मे चार गाथाएं पूर्ण हुई।

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।।७७।।

न हि मन्यते य एव नास्ति विशेष इति पुण्यपापयो ।
हिण्डति घोरमपार ससार मोहसछन्न· ।।७७।।

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलु परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात् । यस्तु पुनरनयोः कल्याणकालायसनिगडयोरिवाहङ्कारिकं विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसंपदां निदानमिति निर्भरतरं

धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति ॥७७॥

भूमिका—**अब, पुण्य और पाप के अविशेषपने को (अन्तर न होने पनेको—समानता को) निश्चय करते हुए (इस विषय का) उपसंहार करते है—**

अन्वयार्थ—[एव] इस प्रकार [पुण्यपापयो.] पुण्य और पाप मे [विशेप. नास्ति] अन्तर नही है [इति] इस बात को [य·] जो [न मन्यते] नही मानता है [मोहसछन्न] वह मोह से आच्छादित (मिथ्या अभिप्राय से युक्त) होता हुआ [घोर अपार ससार] घोर अपार (अन्तरहित) ससार मे [हिण्डति] परिभ्रमण करता है ।

टीका—**यों पूर्वोक्त प्रकार से शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भांति, और सुख-दुःख के द्वैत की भांति, परमार्थ से पुण्यपाप का द्वैत नही टिकता है क्योकि दोनो मे ही अनात्म-धर्मत्व की अविशेषता (समानता) है । (दोनों आत्मा के धर्म नही हैं) (ऐसा होने पर भी) जो उन दोनों मे, सुवर्ण और लोहे की बेडी की भांति, अहकारिक अन्तर मानता हुआ, (पुण्य) अहमिन्द्र पद आदि सम्पदाओं का हेतु है, इस कारण से अत्यन्त गाढ धर्मानुराग को (शुभ परिणाम को) आश्रय करता है । वह वास्तव में चित्तभूमि के उपरक्त होने के (मनके गाढ रागी हो जाने से) जिसने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है ऐसा वर्तता हुआ, संसारपर्यन्त शारीरिक दुःख को ही भोगता है ॥७७॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ निश्चयेन पुण्यपापयोर्विशेषो नास्तीति कथयन् पुण्यपापयोर्व्याख्यानमुपसहरति,—

ण हि मण्णदि जो एव न हि मन्यते य एव । कि ? **णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाण** पुण्य-पापयोर्निश्चयेन विशेषो नास्ति । स किं करोति ? **हिडदि घोरमपार ससार** हिण्डति भ्रमति । क ? ससार । कथभूत ? घोर अपारं चाभव्यापेक्षया । कथभूत ? **मोहसछण्णो** मोहप्रच्छादित इति ।

तथाहि—द्रव्यपुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेद , भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूतसुखदु.खयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेद·, शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनोऽभिन्नत्वाद्भेदो नास्ति एव शुद्धनयेन पुण्यपापयोरभेद योसौ न मन्यते स देवेन्द्रचक्रवर्तिबलदेववासुदेवकामदेवादिपदनिमित्त निदानबन्धेन पुण्यमिच्छन्निर्मोहशुद्ध त्मतत्त्वविपरीतदर्शनचारित्रमोहप्रच्छादित सुवर्णलोहनिगडद्वयसमानपुण्यपापद्वयबद्ध. सन् ससाररहित-शुद्धात्मनो विपरीत ससार भ्रमतीत्यर्थ ॥७७॥

उत्थानिका—आगे निश्चय से पुण्य पाप मे कोई विशेष नही है ऐसा कहकर फिर इसी व्याख्यान को सकोचते है

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पुण्णपावाणं णत्थि विसेसो त्ति) पुण्य पापकर्म मे निश्चय से भेद नही है (जो एवं ण हि मण्णदि) जो कोई इस तरह नही मानता है (मोहसंछण्णो)**

वह मोहकर्म से आच्छादित जीव (घोरं अपारं संसारं हिडदि) भयानक और अभव्य की अपेक्षा से अपार संसार मे भ्रमण करता है।

विशेष यह है कि द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप में व्यवहार नय से भेद है, भावपुण्य और भावपाप मे तथा पुण्य के फल रूप सुख और दुःख मे अशुद्धनिश्चयनय से भेद है। परन्तु शुद्धनिश्चयनय के ये द्रव्यपुण्य पापादिक सब शुद्ध आत्मा के स्वभाव से भिन्न है, इसलिये इन पुण्य पापो मे कोई भेद नही है। इस तरह शुद्धनिश्चयनय से पुण्य व पाप की एकता को जो कोई नही मानता है वह इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, कामदेव आदि के पदो के निमित्त निदान-बन्ध से पुण्य को चाहता हुआ मोह रहित शुद्ध आत्मतत्त्व से विपरीत दर्शनमोह तथा चारित्रमोह से ढका हुआ सोने और लोहे की दो बेडियों के समान पुण्य पाप दोनों से बधा हुआ संसार रहित शुद्धात्मा से विपरीत संसार मे भ्रमण करता है ॥७७॥

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति——

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥७८॥

एव विदितार्थो यो द्रव्येषु रागमेति द्वेष वा।
उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भव दु खम् ॥७८॥

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेषं चाशेषमेव परिवर्जयति स किलैकान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायः पिण्डादननुष्ठितायः सार. प्रचण्डघनघातस्थानीयं शारीरं दु ख क्षपयति, ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः ॥७८॥

भूमिका—अब इस प्रकार शुभ और अशुभ उपयोग की अविशेषता अवधारित करके समस्त ही राग द्वेष के द्वैत को दूर करते हुए सम्पूर्ण दु.ख को क्षय करने के लिये मन मे दृढ निश्चय करने वाला जीव शुद्धोपयोग मे निवास करता है, शुद्धोपयोग मे निवास करता है, शुद्धोपयोग की शरण लेता है—

अन्वयार्थ—[एव] इस प्रकार [विदितार्थ] जान लिया है पदार्थ को जिसने [य] ऐसा जो जीव [द्रव्येषु] द्रव्यो मे [राग वा द्वेप] राग अथवा द्वेप को [न एति] प्राप्त नही होता है, [उपयोगविशुद्ध] उपयोग से विशुद्ध [स] वह जीव [देहोद्भव दु ख] पञ्चेन्द्रिय सहित देह से उत्पन्न हुए दु ख को [क्षपयति] नाश कर देता है।

टीका—शुभ और अशुभ भावों के अविशेष दर्शन से (समानता की श्रद्धा से) सम्यक् प्रकार से जान लिया है वस्तु के स्वरूप को जिसने ऐसा जो जीव वास्तव में स्व और पर ऐसे दो विभागों मे रहने वाले तथा (अपनी) समस्त पर्यायों सहित (वर्तने वाले) ऐसे समस्त द्रव्यों में राग और द्वेष को सम्पूर्ण को ही (सर्वथा) छोड़ देता है, वह जीव वास्तव मे, एकान्त से उपयोग की विशुद्धता (सर्वथा शुद्धोपयोगी होने) से जिसने पर द्रव्य का आलम्बन छोड़ दिया है, ऐसा वर्तता हुआ—लोहे के गोले मे से लोहे के सार का अनुसरण न करने वाली अग्नि की भाति प्रचड घन के आघात समान शारीरिक दु ख का क्षय करता है। (जैसे अग्नि लोहे के गोले में से लोहे के सत्व को धारण नही करती इस लिये अग्नि पर प्रचंड घन के प्रहार नहीं होते, इसी प्रकार पर-द्रव्य का आलम्बन न करने वाले आत्मा को शारीरिक दुःख का वेदन नहीं होता) इस कारण से मेरे यही एक शुद्धोपयोग शरण है ॥७८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथैव शुभाशुभयोः समानत्वपरिज्ञानेन निश्चितशुद्धात्मतत्त्वः सन् दु खक्षयाय शुद्धोपयोगानुष्ठान स्वीकरोति—

एव विदिदत्थो जो एवं चिदानन्दैकस्वभाव परमात्मतत्त्वमेवोपादेयमन्यदशेष हेयमिति हेयोपादेयपरिज्ञानेन विदितार्थ तत्त्वो भूत्वा य **दव्वेसु ण रागमेदि दोस वा** निजशुद्धात्मद्रव्यादन्येषु शुभाशुभसर्वद्रव्येषु राग द्वेष वा न गच्छति **उवओगविसुद्धो सो** रागादिरहितशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन शुद्धोपयोगेन विशुद्ध सन् स. **खवेदि देहुब्भव दुक्ख** तप्तलोहपिण्डस्थानीयदेहादुद्भव, अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षण परमाकुलत्वोत्पादक लोहपिण्डरहितोऽग्निरिव घनघातपरम्परास्थानीयदेहरहितो भूत्वा-शारीर दु'ख क्षपयतीत्यभिप्राय. एवमुपसहाररूपेण तृतीयस्थले गाथाद्वय गतम् ॥७८॥

इति शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थ गाथादशकपर्यन्त स्थलत्रयसमुदायेन **प्रथमज्ञानकण्ठिका** समाप्ता।

उत्थानिका—इस तरह निश्चयनय से शुभ तथा अशुभ उपयोग को समान जानकर निश्चय शुद्धात्मतत्व होता हुआ ससार के दु खो के क्षय के लिये शुद्धोपयोग के साधन को स्वीकार करता है, ऐसा कहते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एवं विदिदत्थो जो)** इस तरह चिदानन्दमयी एक स्वभाव रूप परमात्मतत्व को उपादेय तथा इसके सिवाय अन्य सर्व को हेय जान करके हेयोपादेय के यथार्थ ज्ञान से तत्त्व स्वरूप का ज्ञाता होकर जो कोई **(दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा)** अपने शुद्ध आतम द्रव्य से अन्य शुभ तथा अशुभ सर्व द्रव्यों में रागद्वेष नहीं करता है। **(सो उवओगविसुद्धो)** वह रागादि से रहित शुद्धात्म अनुभवमयी लक्षण वाले शुद्धोपयोग

से विशुद्ध होता हुआ (देहुब्भवं दुःखं खवेदि) देह के संयोग से उत्पन्न दुःख का नाश करते है। अर्थात् यह शरीर गर्म लोहे के पिण्ड समान है। उससे उत्पन्न दुःख का जो निराकुलता लक्षणमयी निश्चयसुख से विलक्षण है और बड़ी भारी आकुलता को पैदा करने वाला है, वह संयमी आत्मा लोहपिण्ड से रहित अग्नि के समान अनेक चोटों का स्थान जो शरीर उससे रहित होता हुआ नाश कर देता है, यह अभिप्राय है। इस तरह सक्षेप करते हुए तीसरे स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुई ऊपर लिखित प्रमाण शुभ तथा अशुभ की गूढता को दूर करने के लिये दश गाथाओं तक तीन स्थलों के समुदाय से पहली ज्ञान कंठिका पूर्ण हुई।

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि[1] ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ।।७९।।

त्यक्त्वा पापारभ समुत्थितो वा शुभे चरित्रे।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मक शुद्धम् ।।७९।।

यः खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिक नाम चारित्रं प्रतिज्ञायापिशुभोपयोगवृत्त्या—बकाभिसारिकयेवाभिसार्यमाणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल समासन्नमहादुःखसङ्कटः कथमात्मानमविप्लुतं लभते। अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ।।७९।।

भूमिका—अब सर्व सावद्य (सर्व पाप) योग को छोड़कर, चारित्र अङ्गीकार किया हो, तो भी यदि मैं शुभोपयोग परिणति के वश के कारण, मोहादि को उन्मूलन न करूं, मेरे शुद्ध आत्मा का लाभ कहां से होगा? (अर्थात् नहीं होगा) इस प्रकार विचार करके (मोहादि के उन्मूलन के लिये) सर्वारम्भ (सर्व उद्यम-सर्व पुरुषार्थ) से कटिबद्ध होता हूँ—

अन्वयार्थ—[पापारम्भं] पाप आरम्भ को [त्यक्त्वा] छोडकर [शुभे चारित्रे] शुभ चारित्र मे [समुत्थित] उद्यत हुआ भी [यदि] यदि [मोहादीन्] मोह आदि को [न जहाति] नही छोडता है तो [सः] वह [शुद्ध आत्मक] शुद्ध अप्त्मा को [न लभते] प्राप्तनही करता।

टीका—जो जीव वास्तव में समस्त-सावद्य (पाप) योग के प्रत्याख्यान (त्याग) स्वरूप परम सामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका (शील-रहित स्त्री) की भांति शुभ उपयोग परिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ

१ चरियम्हि (ज० वृ०)।

(शुभोपयोग परिणति के प्रेम में फंसता हुआ) मोह की सेना की वशवर्तिता को दूर नही कर डालता (तो) जिसे महा-दु:ख संकट निकट है, ऐसा वह निश्चय से कैसे शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर सकता है ? (नहीं कर सकता) इस कारण से मेरे द्वारा मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिये कमर कसी गई है ।।७६।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभाशुभोपयोगनिवृत्तिलक्षणशुद्धोपयोगेन मोक्षो भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम् । अत्र तु द्वितीयज्ञानकण्ठिकाप्रारम्भे शुद्धोपयोगाभावे शुद्धात्मान न लभते, इति तमेवार्थं व्यतिरेकरूपेण दृढयति—

चत्ता पावारंभ पूर्वं गृहवासादिरूप पापारम्भ त्यक्त्वा **समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि** सम्यगुपस्थितो वा पुनः क्व ? शुभचरित्रे **ण जहदि जदि मोहादी** न त्यजति यदि चेन्मोहरागद्वेषान् **ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं** न लभते स आत्मान शुद्धमिति । इतो विस्तरः—कोऽपि मोक्षार्थी परमोपेक्षा-लक्षण परमसामायिक पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्विषयसुखसाधकशुभोपयोगपरिणत्या मोहितान्तरङ्ग सन् निर्विकल्पसमाधिक्षणणपूर्वोक्तसामायिकचारित्राभावे सति निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतान् मोहादीन्न त्यजति यदि चेत्तर्हि जिनसिद्धसदृश निजशुद्धात्मान न लभत इति सूत्रार्थं ।।७६।।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्र मे यह कह चुके है कि शुभ तथा अशुभ उपयोग से रहित शुद्ध उपयोग से मोक्ष होता है । अब यहा दूसरी ज्ञान कठिका के व्याख्यात के प्रारम्भ मे शुद्धोपयोग के अभाव मे वह आत्मा शुद्ध आत्मीक स्वभाव को नही प्राप्त करता है ऐसा कहते हुए उस ही पहले प्रयोजन को व्यतिरेकपने से दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पावारंभं चत्ता) पहले गृह में वास करना आदि पाप के आरम्भ को छोड़कर (वा सुहम्मि चरियम्हि समुट्ठिदो) तथा शुभचारित्र में भले प्रकार आचरण करता हुआ (जदि मोहादी ण जहदि) यदि कोई मोह, रागद्वेषादि भावों को नहीं त्यागता है (सो अप्पगं सुद्धं ण लहदि) सो शुद्ध आत्मा को नही पाता है । इसका विस्तार यह है कि कोई भी मोक्ष का अर्थी पुरुष परम उपेक्षा या वैराग्य के लक्षण को रखने वाले परम सामायिक करने की पूर्व में प्रतिज्ञा करके पीछे विषयो के सुख के साधन के लिये जो शुभोपयोग की परिणतियां है उनमें परिणमन करके अंतरंग में मोही होकर यदि निर्विकल्प-समाधिलक्षणमयी पूर्व में कहे हुए मोह रहिल शुद्ध आत्मतत्व के विरोधी मोह आदिको को नही छोड़ता है, तो वह जिन या सिद्ध के समान अपने आत्मस्वरूप नही पाता है ।।७६।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धोपयोगाभावे यादृश जिनसिद्धस्वरूप न लभते तमेव कथयति—

तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो ।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ।।७९-१।।

तवसजमप्पसिद्धो समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपन विजयनं तपः, बहिरंगेन्द्रियप्राणसयमबलेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात्समरसीभावेन परिणमन सयमः, ताभ्या प्रसिद्धो जातस्तप सयमप्रसिद्ध. **सुद्धो** क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः **सग्गापवग्गमग्गकरो** स्वर्गः प्रसिद्ध. केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयलक्षणोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्मार्ग करोत्युपदिशति स्वर्गापवर्गमार्गकरः **अमरासुरिंदमहिदो** तत्पदाभिलाषिभिरमरासुरेन्द्रैर्महितः पूजितोऽमरासुरेन्द्रमहित. **देवो सो** स एव गुणविशिष्टोऽर्हन् देवो भवति। **लोयसिहरत्थो** स एव भगवान् लोकाग्रशिखरस्थः सन् सिद्धो भवतीति जिनसिद्धस्वरूपज्ञातव्यम्।

उत्थानिका—आगे शुद्धोषयोग के अभाव मे जिस तरह के जिन व सिद्ध स्वरूप को यह नही प्राप्त करता है उसको कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सो देवो) वह देव (तवसंजमप्पसिद्धो) सर्व रागादि परभावों की इच्छा के त्याग रूप अपने स्वरूप में दीप्तमान होना ऐसा जो तप तथा बाहरी इन्द्रियसयम और प्राणिसंयम के बल से अपने शुद्धात्मा में स्थिर होकर समतारस के भाव से परिणमना जो संयम इन दोनों से सिद्ध हुआ है, (सुद्धो) क्षुधा आदि अठारह दोषों से रहित शुद्ध वीतराग है, (सग्गापवग्गमग्गकरो) स्वर्ग तथा केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय लक्षण रूप मोक्ष इन दोनों के मार्ग का उपदेश करने वाला है, (अमरासुरिंदमहिदो) उसही पद के इच्छुक स्वर्ग के अथवा भवनत्रिक के इन्द्रों द्वारा पूजनीय है, तथा (लोयसिहरत्थो) लोक के अग्र शिखर पर विराजित है, ऐसा जिन सिद्ध का स्वरूप जानना योग्य है ।।७९।१।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तमित्थभूत निर्दोषिपरमात्मान ये श्रद्दधति मन्यन्ते तेऽक्षयसुख लभन्त इति प्रज्ञापयति—

त देवदेवदेव जदिवरवसह गुरू तिलोयस्स ।
पणमति जे मणुस्सा ते सोक्ख अक्खयं जति ।।७९-२।।

त देवदेवदेव देवदेवाः सौधर्मेन्द्रप्रभृतयस्तेषा देव आराध्यो देवदेवस्त देवदेवदेवं, **जदिवरवसह** जितेन्द्रियत्वेन निजशुद्धात्मनि यत्नपरास्ते यतयस्तेषां वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभः प्रधानो यतिवरवृषभस्त यतिवरवृषभ, **गुरूं तिलोयस्स** अनन्तज्ञानादिगुरुगुणैस्त्रैलोक्यस्यापि गुरुस्त त्रिलोकगुरु **पणमति जे मणुस्सा** तमित्थभूत भगवन्त ये मनुष्यादयो द्रव्यभावनमस्काराभ्या प्रणमन्त्याराधयन्ति **ते सोक्खं अक्खय जति** ते तदाराधनाफलेन परम्परयाऽक्षयानन्तसौख्य यान्ति लभन्त इति सूत्रार्थ ।।७९-२।।

उत्थानिका—आगे सूचना करते है कि जो कोई इस प्रकार निर्दोप परमात्मा को मानते है, अपनी श्रद्धा में लाते है वे ही अविनाशी आत्मीक सुख को पाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जे मणुस्सा) जो कोई भव्य मनुष्य आदिक (तं देवदेवदेवं) उस महादेव को जो देवों के देव सौधर्म इन्द्र आदि का भी देव है अर्थात् उनके द्वारा आराधना के योग्य है, (जदिवरवसहं) इन्द्रियों के विषयो के जीतकर अपने शुद्ध आत्मा मे**

यत्न करने वाले यतियों में श्रेष्ठ जो गणधरादिक उनमें भी प्रधान है, तथा (तिलोयस्स गुरुं) अनन्तज्ञान आदि महान् गुणों के द्वारा जो तीन लोक का भी गुरु है, उसे (पणमंति) द्रव्य और भाव नमस्कार के द्वारा प्रणाम करते है तथा पूजते है व उसका ध्यान करते है (ते) वे उसकी सेवा के फल से (अक्खयं सोक्खं जंति) परम्परा करके अविनाशी अतीन्द्रिय-सुख को पाते है, ऐसा सूत्र का अर्थ है। यहां आचार्य ने उपासक के लिये यह शिक्षा दी है कि "जो जैसा भावै सो तैसा हो जावै" अविनाशी अनंत अतीद्रियसुख का निरंतर लाभ आत्मा की शुद्ध अवस्था मे होता है। उस अवस्था की प्राप्ति का उपाय यद्यपि साक्षात् शुद्धोपयोग में तन्मय होकर निर्विकल्पसमाधि मे वर्तन करना है तथापि परम्परा से उसका उपाय अरहंत और सिद्ध जमाकर उनको नमस्कार करना, पूजन करना, स्तुति करना आदि है ॥७६–२॥

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु [1]जादि तस्स लयं ॥८०॥

यो जानात्यर्हन्त द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वै.।
स जानात्यात्मान मोह.'खलु याति तस्य लयम् ॥८०॥

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात्। अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्म-रूपं, ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः। तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वय-व्यतिरेक पर्यायाः। तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमु-त्पश्यति। यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुण, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिणामतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चि-द्विवर्तनग्रन्थय इति यावत्। अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्ताश्चेतन एव सक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हितं विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्द-तस्तदुत्तरोत्तरक्षणक्षीयमाणकर्तृकर्मक्रियाविभागतया निक्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते। यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ॥८०॥

---

१ जाइ (ज० वृ०)।

भूमिका—अब कैसे मेरे द्वारा मोह की सेना जीतने योग्य है, इसके उपाय को सोचते है—

अन्वयार्थ—[य.] जो [अरहंत] अरहन्त को [द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः] द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने द्वारा [जानाति] जानता है, [स.] वह [आत्मान] (अपने) आत्मा को [जानाति] जानता है और [तस्य मोहः] उस जीव का मोह [खलु] अवश्य [लय याति] नाश को प्राप्त होता है ।

टीका—जो वास्तव में अरहंत को द्रव्य रूप से गुण रूप से और पर्याय रूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों (अरहंत और अपनी आत्मा) में निश्चय से अन्तर नहीं है । अरहंत का रूप भी अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भांति परिस्पष्ट (शुद्ध) आत्मा का रूप (ही) है, इस कारण से उनका (अरहन्त का) ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है । वहाँ (अरहन्त में) अन्वय रूप द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है, और अन्वय के व्यतिरेक (भिन्न-भिन्न, क्रम से होने वाली) पर्याये है । वहाँ सर्वतः विशुद्ध भगवान् अरहन्त में (जीव) तीनों प्रकार युक्त समय को भी (द्रव्य गुण पर्यायमय निज आत्मा को भी) अपने मन से देख लेता है । जो यह चेतन है, यह अन्वय है, वह द्रव्य है, जो अन्वय के आश्रय रहने वाला चैतन्य है, यह विशेषण है, वह गुण है, और जो एक समय मात्र मर्यादित काल परिमाण के कारण से परस्पर भिन्न-भिन्न अन्वय के व्यतिरेक है वे पर्याये है—जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ (गांठे) है । इस प्रकार अरहन्त के द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप है ।

अब, (१) इस प्रकार त्रैकालिक को भी (त्रिकाल इसी स्वभाव को धारण करने वाली अपनी आत्मा को भी) एक काल में समझ लेने वाले, (२) झूलते हुए हार में मोतियों की तरह (जैसे मोतियों को झूलते हुए हार में अन्तर्गत माना जाता है उसी प्रकार चिद्विवर्तो को (चैतन्य पर्यायों को) चेतन में ही अन्तर्गत करके तथा विशेषण विशेष्यता की वासना का अन्तर्धान होने से, हार में सफेदी की तरह (जैसे सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है, उसी प्रकार) चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके केवल हार की तरह (जैसे मोती व सफेदी आदि के विकल्प को छोड़कर मात्र हार को जानता है, उसी प्रकार) केवल आत्मा को जानने वाले, (३) उसके उत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग नाश को प्राप्त हो जाने के निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होने वाले, (४) उत्तम मणि की भाति अकम्परूप से प्रवंत रहा है निर्मल प्रकाश जिसका, ऐसे उस

जीव के अवश्य ही निराश्रयता के कारण से मोहांधकार नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा है तो मेरे द्वारा मोह की सेना को जीतने के लिये उपाय प्राप्त कर लिया गया ॥८०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ "चत्तापावारंभ" इत्यादि सूत्रेण यदुक्त शुद्धोपयोगाभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाभावेन शुद्धात्मलाभो न भवति तदर्थमेवेदानीमुपाय समालोचयति—

जो जाणदि अरहंतं य कर्ता जानाति । क ? अर्हन्त । कैः कृत्वा ? **दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं** द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वै **सो जाणदि अप्पाणं** स पुरुषोऽर्हत्परिज्ञानात्पश्चादात्मान जानाति **मोहो खलु जाइ तस्स लय** तत आत्मपरिज्ञानात्तस्य मोहो दर्शनमोहो लय विनाशक्षय यातीति । तद्यथा—केवलज्ञाना-दयो विशेषगुणा, अस्तित्वादय. सामान्यगुणा:, परमौदारिकशरीराकारेण यदात्म-प्रदेशानामवस्थान स व्यञ्जनपर्याय., अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षण प्रवर्तमाना अर्थपर्याया एव लक्षण-गुणपर्यायाधारभूतममूर्तमसख्यातप्रदेश शुद्धचैतन्यान्वयरूप द्रव्य चेति, इत्थभूत द्रव्यगुणपर्यायस्वरूप पूर्वमर्हदभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चयनयेन तदेवागमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निज-शुद्धात्मभावनाभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसदवेनज्ञानेन तथैवागमभाषयाध प्रवृत्तिकरणापूर्वकरणा-निवृत्तिकरणसज्ञदर्शनमोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति । तदनन्तरमविकल्प स्वरूप रूपे प्राप्ते, यथा पर्यायस्थानीयमुक्ताफलानि गुणस्थानीय धवलत्व चाभेदनयेन हार एव, तथा-पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्याया अभेदनयेनात्मैवेति भावयतो दर्शनमोहान्धकार प्रलीयते । इति भावार्थ ॥८०॥

उत्थानिका—आगे "चत्तापावारम्भ" इत्यादि सूत्र से जो कहा जा चुका है कि शुद्धोपयोग के बिना मोह आदि का नाश नही होता है और मोहादि के नाश के बिना शुद्धात्मा का लाभ नही होता है, उस ही शुद्धात्मा के लाभ के लिये अब उपाय बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो कोई (अरहत) अरहंत भगवान् को (दव्वत्तगुणत्तपज्जत्तेहि) द्रव्यपने, गुणपने, तथा पर्यायपने को (जाणदि) जानता है (सो) वह पुरुष (अप्पाणं जाणदि) अर्हत के ज्ञान के पीछे अपने आत्मा को जानता है। उस आत्मज्ञान के प्रताप से (तस्स मोहो) उस पुरुष का दर्शनमोह (खलु लयं जादि) निश्चय से क्षय हो जाता है। इसका विस्तार यह है कि अर्हंत आत्मा के केवलज्ञान आदि विशेष गुण है। अस्तित्व आदि सामान्य गुण है। परम औदारिकशरीर के आकार जो आत्मा के प्रदेशों का होना सो व्यंजनपर्याय है। अगुरुलघुगुण द्वारा छः प्रकार वृद्धि-हानि रूप से वर्तन करने वालीं अर्थ-पर्याय है। इस तरह लक्षणधारी गुण और पर्यायों के आधाररूप, अमूर्तिक असंख्यात प्रदेशी, शुद्ध चैतन्यमयी अन्वयरूप अर्थात् नित्यस्वरूप अरहंत द्रव्य है। इस तरह द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अरहंत परमात्मा को पहले जानकर फिर निश्चयनय से उसी द्रव्यगुण पर्याय को आगम की सारभूत जो अध्यात्मभाषा है, उसके द्वारा अपने शुद्ध आत्मा**

की भावना के सन्मुख होकर अर्थात् विकल्प-सहित स्वसंवेदनज्ञान में परिणाम करते हुए तसे ही आगम की भाषा से अध.करण अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नाम के परिणाम विशेषों के बल से जो विशेषभाव दर्शनमोह के अभाव करने मे समर्थ है, अपने आत्मा में जोड़ता है। उसके पीछे निर्विकल्प स्वरूप की प्राप्ति के लिए जैसे पर्याय रूप से मोती के दाने, गुण रूप से सफेदी आदि अभेदनय से एक हार रूप ही मालूम होते है, तैसे पूर्व में कहे हुए द्रव्य गुण पर्याय अभेद-नय से आत्मा ही है, इस तरह भावना करते-करते दर्शनमोह का अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥८०॥

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवातत्त्वात्मन· सम्यक्।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मान लभते शुद्धम् ॥८१॥

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति। यदि पुनः पुनरपि तावनुवर्तेते तदा प्रमादतन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति। अतो मया रागद्वेष-निषेधायात्यन्तं जागरितव्यम् ॥८१॥

भूमिका—अब, इस प्रकार प्राप्त कर लिया है चिन्तामणि रत्न जिसने ऐसे मेरे भी प्रमाद चौर है—यह विचार कर जागृत रहता है—

अन्वयार्थ—[व्यपगतमोह·] दूर हो गया है मोह जिसका और [आत्मन· सम्यक् तत्त्व उपलब्धवान्] आत्मा के सम्यक् (वास्तविक) तत्त्व को प्राप्त हुआ—जैसा [जीव] जीव [यदि] जो [रागद्वेषौ] राग द्वेष को [जहाति] छोडता है तो [स] वह [शुद्ध आत्मान] शुद्ध आत्मा को [लभते] प्राप्त कर लेता है।

टीका—इस प्रकार जिस उपाय का स्वरूप वर्णन किया है, उस उपाय के द्वारा मोह को दूर करके भी तथा सम्यक् आत्मतत्त्व को प्राप्त करके भी यदि (जीव) राग द्वेष को निर्मूल करता है तो शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है। और यदि पुन पुनः (राग-द्वेष) को अनुसरण करता है, तो प्रमाद की अधीनता से शुद्धात्म-तत्त्व की प्राप्तिरूप चितामणि-रत्न लुट गया है जिसका, ऐसा वह जीव अन्तरंग मे खेद को प्राप्त होता है। इसलिये मुझको राग द्वेष को दूर करने के लिये अत्यन्त जागृत रहना चाहिये ॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्रमादोत्पादकचारित्रमोहसञ्ज्ञश्चौरोस्तीति मत्वाप्तपरिज्ञानादुपलब्धस्य शुद्धात्मचिन्तामणे. रक्षणार्थं जागर्तीति कथयति—

जीवो जीव. कर्ता । किं विशिष्ट. ? **ववगदमोहो** शुद्धात्मतत्त्वरुचिप्रतिबन्धकविनाशितदर्शन-मोहः । पुनरपि किंविशिष्टः ? **उवलद्धो** उपलब्धवान् ज्ञातवान् । किं ? **तच्चं** परमानन्दैकस्वभावात्म-तत्त्व । कस्य सम्बन्धी ? **अप्पणो** निजशुद्धात्मन' । कथ ? **सम्मं** सम्यक् सशयादिरहितत्वेन **जहदि जदि रागदोसे** शुद्धमानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसञ्ज्ञौ रागद्वेषौ यदि त्यजति **सो अप्पाणं लहदि सुद्धं** स एवमभेदरत्नत्रयपरिणतो जीव. शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मान लभते, मुक्तो भवतीति ।

किंच पूर्वं ज्ञानकण्ठिकाया **"उवओगयिसुद्धो सो खवेदि देहुब्भव दुक्ख"** इत्युक्तं, अत्र तु **"जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्ध"**इति भणितम्, उभयत्र मोक्षोस्ति को विशेष. ? प्रत्युत्तरमाह—तत्र शुभाशुभयोर्निश्चयेन समानत्व ज्ञात्वा पश्चाच्छुद्धे शुभरहिते निजस्वरूपे स्थित्वा मोक्ष लभते, तेन कारणेन शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्ठिका भण्यते । अत्र तु द्रव्यगुणपर्यायैराप्त-स्वरूप ज्ञात्वा पश्चात्तद्रूपे स्वशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्ष प्राप्नोति, ततः कारणादियमाप्तात्ममूढत्व-निरासार्थं ज्ञानकण्ठिका इत्येतावान् विशेष. ॥८१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि इस जगत् मे प्रमाद को उत्पन्न करने वाला चारित्र-मोह नाम का चोर है, ऐसा मानकर आप्त श्री अरहत भगवान् के स्वरूप के ज्ञान से जो शुद्धात्मारूपी चितामणिरत्न प्राप्त हुआ है उसकी रक्षा के लिये ज्ञानी जीव जागता रहता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(ववगदमोहो जीवो) शुद्धात्मतत्व की रुचि के रोधक दर्शनमोह को जिसने दूर कर दिया है, ऐसा सम्यग्दृष्टि आत्मा (अप्पणो तच्चं सम्मं उवलद्धो) अपने ही शुद्ध आत्मा के परमानंदमयी एक स्वभावरूप तत्त्व को संशय आदि से रहित भले प्रकार जानता हुआ (जदि रागदोसे जहदि) यदि शुद्धात्मा के अनुभव रूपी लक्षण को धरने वाले वीतरागचारित्र के बाधक चारित्रमोहरूपी रागद्वेषों को छोड़ देता है (सो सुद्धं अप्पाणं लहदि) तब वह निश्चय अभेदरत्नत्रय में परिणमन करने वाला आत्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप आत्मा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ।**

शंका—**ज्ञानकंठिका में** "उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भव दुक्ख" **ऐसा कहा था । यहां '-जहदि जदि रागदोसे अप्पाणं लहदि सुद्धं" ऐसा कहा है । दोनों में ही मोक्ष की बात है, इनमें विशेष क्या है ?**

समाधान—**वहां तो शुभ या अशुभ उपयोग को निश्चय से से समान जानकर फिर शुभ से रहित शुद्धोपयोग रूप निज आत्मस्वरूप में ठहरकर मोक्ष पाता है, इस कारण से शुभ अशुभ सम्बन्धी मूढ़ता हटाने के लिये ज्ञानकंठिका को कहा है । यहां तो द्रव्य, गुण, पर्यायों**

के द्वारा आप्त—अरहंत के स्वरूप को जानकर पीछे अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप में ठहरकर मोक्ष प्राप्त करता है । इस कारण से यहां आप्त और आत्ममूढता के निराकरण के लिए ज्ञान कंठिका को कहा है इतना हीविशेष है ॥८१॥

सूचना—इस गाथा में आचार्य ने स्पष्ट रूप से चारित्र की आवश्यकता को बता दिया है ।

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण[1] खविदकम्मंसा ।
किच्चा [2]तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः ।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृत्तास्ते नमस्तेभ्यः ॥८२॥

यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थकराः प्रकारान्तरस्यासंभवादसंभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परेषामप्यायत्यामिदानीत्वे वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य निःश्रेयसमध्याश्रिताः । ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते । अलमथवा प्रलपितेन । व्यवस्थिता मतिर्मम, नमो भगवद्भ्यः ॥८२॥

भूमिका—अब, (पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित यह ही एक, भगवन्तों के द्वारा स्वयं अनुभव करके दिखलाया गया मोक्ष का सच्चा मार्ग है, इस प्रकार बुद्धि को व्यवस्थित (निश्चित) करता है—

अन्वयार्थ—[सर्वेऽपि च) सब ही [अर्हन्तः] अरहन्त [तेन विधानेन] उसी विधि से [क्षपितकर्मांशाः] कर्मांशो का क्षय करके (और) [तथा] उसी प्रकार [उपदेश कृत्वा] उपदेश को करके [ते निवृता] वे निर्माण को प्राप्त हुए [नमः तेभ्यः] उनके लिये नमस्कार हो ।

टीका—क्योंकि वास्तव में भूतकाल में क्रमश. हुए सब ही तीर्थंकर भगवान्, प्रकारान्तर का असभव होने से जिसमें द्वैत सभव नही है, ऐसे इस एक ही प्रकार से कर्मांशों के क्षय को स्वयं अनुभव करके (तथा) परम आप्तता के कारण भविष्यकाल में अथवा इस (वर्तमान) काल में अन्य मुमुक्षुओं के भी इसी प्रकार से उस (कर्मक्षय) का उपदेश

---

१ विहाणेण (ज० वृ०) । २ तहोवदेस (ज० वृ०) ।

देकर निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए। इस कारण से निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है यह निश्चित किया जाता है। अथवा, अधिक प्रलाप से बस हो, मेरी बुद्धि व्यवस्थित (सुनिश्चित) हो गई है। भगवन्तों के लिये नमस्कार हो ॥८२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वं द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं विज्ञाय पश्चात्तथाभूते स्वात्मनि स्थित्वा सर्वेऽप्यर्हन्तो मोक्ष गता इति स्वमनसि निश्चयं करोति—

सव्वेवि य अरहंता सर्वेऽपि चार्हन्तः **तेण विहाणेण** द्रव्यगुणपर्यायैः पूर्वमर्हत्परिज्ञानात्पश्चात्तथाभूतस्वात्मावस्थानरूपेण तेन पूर्वोक्तप्रकारेण **खविदकम्मंसा** क्षपितकर्मांशा विनाशितकर्मभेदा भूत्वा **किच्चा तहोवदेसं** अहो भव्या अयमेव निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षमार्गो नान्य इत्युपदेशं कृत्वा **णिव्वादा** *निर्वृता अक्षयानन्तसुखेन तृप्ता जाताः, ते ते भगवन्तः।* **णमो तेसिं** एवं मोक्षमार्गनिश्चयं कृत्वा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवास्तस्मै निजशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपमोक्षमार्गाय तदुपदेशकेभ्योऽर्हद्भ्यश्च तदुभयस्वरूपाभिलाषिणः सन्तो 'नमोस्तु तेभ्य' इत्यनेन पदेन नमस्कारं कुर्वन्तीत्यभिप्रायः ॥८२॥

उत्थानिका—आगे आचार्य अपने मन मे यह निश्चय करके वैसा ही कहते है कि पहले द्रव्य गुण पर्यायो के द्वारा आप्त अरहंत के स्वरूप को जानकर पीछे उसी रूप अपने आत्मा मे ठहर कर सर्व ही अर्हंत हुए मोक्ष गए है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तेण विहाणेण) इसी विधान से जैसा पहले कहा है कि पूर्व मे द्रव्य गुण, पर्यायों के द्वारा अरहंतों के स्वरूप को अपने आत्मा मे ठहरकर अर्थात् पुनः पुनः आत्मध्यान करके (खविदकम्मंसा) कर्मो के भेदों को क्षय करके (सव्वे वि य अरहंता) सर्व ही अरहंत हुए (तहोवदेसं किच्चा) फिर वैसा ही उपदेश करके कि अहो भव्य जीवो! यह निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप लक्षण को धरने वाला मोक्षमार्ग है, दूसरा नही है, (ते णिव्वादा) वे भगवान् निर्वृत्त हो गए अर्थात् अक्षय अनंतसुख से तृप्त सिद्ध हो गए (तेसिं णमो) उनको नमस्कार हो। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव इस तरह मोक्षमार्ग का निश्चय करके अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव-स्वरूप मोक्षमार्ग और उसके उपदेशक अरहंतों को इन दोनो के स्वरूप की इच्छा करते हुए "नमोस्तु तेभ्यः" इस पद से नमस्कार करते है—वह अभिप्राय है ॥८२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ रत्नत्रयाराधका एव पुरुषा दानपूजागुणप्रशंसानमस्कारार्हा भवन्ति नान्य इति कथयति—

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं ॥८२-१॥

दंसणसुद्धा निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः **पुरिसा** पुरुषा जीवाः। पुनरपि कथंभूताः ? **णाण-**

पहाणा निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानसाधकेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमाभ्यासलक्षणज्ञाने प्रधाना: समर्था. प्रौढज्ञानप्रधाना । पुनश्च कथभूता ? **समग्गचरियत्था** निर्विकारनिश्चलात्मानुभूतिलक्षणनिश्चय-चारित्रसाधकेनाचारादिशास्त्रकथितमूलोत्तरगुणानुष्ठानादिरूपेण चारित्रेण समग्रा: परिपूर्णा समग्र-चारित्रस्था· **पूजासक्काररिहा** द्रव्यभावलक्षणपूजा गुणप्रशसा सत्कारस्तयोरर्हा योग्य भवन्ति । **दाणस्स य हि** दानस्य च हि स्फुट ते पूर्वोक्तरत्नत्रयाधारा **णमो तेसि** नमस्तेभ्य नमस्कारस्यापि त एव योग्या ।।८२-१।।

एवमाप्तात्मस्वरूपविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथासप्तकेन द्वितीयज्ञानकण्ठिका गता ।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो पुरुष रत्नत्रय के आराधन करने वाले है वे ही दान, पूजा, गुणानुवाद, प्रशसा तथा नमस्कार के योग्य होते है, और कोई नही ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दसणसुद्धा) अपने शुद्ध आत्मा की रुचि-रूप सम्यग्दर्शन को साधने वाले, तीन मूढता आदि पच्चीस दोष रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धानरूप लक्षण के धारी सम्यग्दर्शन से जो शुद्ध है (णाणपहाणा) उपमा रहित स्वसवेदन ज्ञान के साधक वीतराग सर्वज्ञ से कहे हुए परमागम के अभ्यास रूप लक्षण के धारी ज्ञान मे जो समर्थ है तथा (समग्गचरियत्था) विकार रहित निश्चल आत्मानुभूति के लक्षण रूप निश्चयचारित्र के साधने वाले आचार आदि शास्त्र में कहे हुए मूलगुण और उत्तरगुण की क्रिया रूप चारित्र से जो पूर्ण है अर्थात् पूर्ण चारित्र के पालने वाले (पुरिसा) जो जीव है वे (पूजा-सक्काररिहा) द्रव्य व भावरूप पूजा व गुणों की प्रशंसारूप सत्कार के योग्य है, (दाणस्स य हि) तथा प्रगटपने दान के योग्य है । (णमो तेसिं) उन पूर्व में कहे हुए रत्नत्रय के धारियों को नमस्कार हो क्योंकि वे ही नमस्कार के योग्य है ।**

भावार्थ—**आचार्य ने इसके पहले की गाथा में सच्चे आप्त को नमस्कार करके यहां सच्चे गुरु को नमस्कार किया है । इस गाथा मे बता दिया है कि जो साधु निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के धारी है उन्हीं को अष्टद्रव्य से भाव सहित पूजना चाहिये, व उन्ही की प्रशंसा करनी चाहिये । उन्ही का पूर्ण आदर करना चाहिये तथा उन्ही को दान देना चाहिये व उन्ही को नमस्कार करना चाहिये । प्रयोजन यह है कि उच्च आदर्श ही हमारा हितकारी हो सकता है । उन्ही का भाव व आचरण हम उपासकों को उन रूप वर्तन करने की योग्यता की प्राप्ति के लिये प्रेरणा करता है । निर्ग्रन्थ साधु ही मोक्षमार्ग पर चलते हुए भक्तजनों को साक्षात् मोक्ष का मार्ग दिखाने वाले होते है । जैन गृहस्थो का मुख्य कर्तव्य है कि ऐसे साधुओं की सेवा करे, व साधुपद धारने की चेष्टा मे उत्साही रहे ।।८२।१।।**

इस तरह आप्त और आत्मा के स्वरूप में मूढता या अज्ञानता को दूर करने के लिये सात गाथाओं से दूसरी ज्ञानकंठिका पूर्ण की ।

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो [1]पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति ॥
क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य राग वा द्वेष वा ॥८३॥

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नायमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु विषयेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य प्रचुरतरम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति । अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ॥८३॥

भूमिका—अब, शुद्धात्म लाभ के लुटेरे मोह के स्वभाव को और भेदों को व्यक्त करते है—

अन्वयार्थ—[जीवस्य] जीव का [द्रव्यादिकेषु] द्रव्यादिको मे [मूढ भावः) जो मूढभाव अर्थात् अज्ञानभाव है [इति मोहः भवति] वह मोह है [तेन अवच्छन्न.] उस मोह से व्याप्त हुआ (यह जीव) [राग वा द्वेष प्राप्य] राग अथवा द्वेष को प्राप्त करके [क्षुभ्यति] क्षुब्ध होता है ।

टीका—पूर्व (गाथा ८० में) वर्णित द्रव्य गुण पर्यायों में धतूरा खाये हुए पुरुष की भाँति जीव के जो तत्त्व में अप्रतिपत्ति लक्षण (वास्तविक स्वरूप की अश्रद्धा रूप) मूढभाव (अज्ञानभाव) है, वह वास्तव में मोह है । उस मोह से आच्छादित हो गया है निज रूप जिसका, ऐसा आच्छादित होता हुआ यह आत्मा (१) पर-द्रव्य को आत्म द्रव्य रूप से, पर-गुण को आत्म-गुण रूप से और पर-पर्याय को आत्म-पर्याय भाव से समझता हुआ (अंगीकार करता हुआ, (२) अतिरूढ़ दृढ़तर संस्कार के कारण से पर-द्रव्य को ही दिन प्रतिदिन (सदा) ग्रहण करता हुआ, (३) (निन्दनीय) इन्द्रियों की रुचि के वश से अद्वैत में भी द्वैतरूप प्रवर्तित होते हुए रुचिकर और अरुचिकर विषयों में रागद्वेष को करके, अति

---

१ पप्पा (ज० वृ०) ।

प्रचुर जल-समूह के वेग से प्रहार को प्राप्त (खण्डों को प्राप्त) सेतुबन्ध (पुल) की भ
(रागद्वेष रूप) दो भागों में खण्डित हुआ, अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है। इस का
मोह, राग और द्वेष के भेद से मोह तीन प्रकार का है ॥८३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतमोहस्य स्वरूप भेदाश्च प्रतिपादयति—

दव्वादिएसु शुद्धात्मादिद्रव्येषु, तेषा द्रव्याणामनन्तज्ञानाद्यस्तित्वादिविशेषसामान्यलक्षणगु
शुद्धात्मपरिणतिलक्षणसिद्धत्वादिपर्यायेषु च यथ सभव पूर्वोपवर्णितेषु वक्ष्यमाणेषु च **मूढो भावो** ए
पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायेषु विपरीताभिनिवेशरूपेण तत्त्वसशयजनको मूढो भाव: **जीवस्स हवदि मोहो**
इत्थमूतो भावो जीवस्य दर्शनमोह इति भवति। **खुब्भदि तेणुच्छण्णो** तेन दर्शनमोहेनावच्छन्नो झम्
सन्नक्षुभितात्मतत्त्वविपरीतेन क्षोभेण क्षोभ स्वरूपचलन विपर्यय गच्छति। कि कृत्वा ? **पप्पा राग
दोसं वा** निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूप चारित्रमोहसज्ञ राग
वा प्राप्य चेति। अनेन किमुक्त भवति। मोहो दर्शनमोहो रागद्वेषद्वय चारित्रमोहश्चेति त्रिभूमि
मोह इति ॥८३॥

उत्थानिका—आगे शुद्ध आत्मा के लाभ के विरोधी मोह के स्वरूप और भेदों
कहते है—

अवन्य सहित विशेषार्थ—(**दव्वादिएसु**) शुद्ध आत्मा आदि द्रव्यों के अनन्तज्ञान
व अस्तित्व आदि विशेष और सामान्य गुणों में तथा शुद्ध आत्मा की परिणति रूप सि
आदि पर्यायों में जिनका यथा-सम्भव पहले वर्णन हो चुका है व जिनका आगामी व
किया जायगा इन सब द्रव्य गुण पर्यायों में विपरीत अभिप्राय रखकर (**मूढो भावो**) त
में संशय रूप अज्ञानभाव को उत्पन्न करने वाला (**जीवस्स मोहो त्ति हवदि**) इस संस
जीव के दर्शन-मोहनीय-कर्म है (**तेणोच्छण्णो**) इस दर्शन-मोहनीयकर्म से आच्छादित ह
यह जीव (**रागं व दोसं वा पप्पा**) विकार रहित शुद्धात्मा से विपरीत इष्ट अ
इन्द्रियों के विषयों में हर्ष विषाद रूप चारित्रमोहनीय नाम के रागद्वेष भाव को पा
(**खुब्भदि**) क्षोभ रहित आत्मतत्व से विपरीत क्षोभ के कारण अपने स्वरूप से चल
वर्तन करता है। इस कथन में यह बतलाया गया कि दर्शनमोह का एक और चा
मोह के दो भेद राग, द्वेष इन तीन भेदरूप मोह है ॥८३॥

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि [1]विविधो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

---

१ विविहो (ज० वृ०)।

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य ।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते सक्षपयितव्याः ॥८४॥

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य तृणपटलावच्छन्नगर्तसंगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधावितस्य च सिन्धुरस्येव भवति नाम नानाविधो बन्धः। ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीयाः ॥८४॥

भूमिका—**अब, (मोह से) अनिष्ट कार्य के कारण-पने को कह कर तीन भेद वाले भी मोह के नाश करने को सूत्र द्वारा कहते हैं:—**

अन्वयार्थ—[वा मोहेन] अथवा मोह से, [वा रागेण] अथवा राग से, [वा द्वेषेण] अथवा द्वेष से [परिणतस्य जीवस्य] परिणत जीव के [विविध बन्धः] विविध (नाना प्रकार) का बन्ध [जायते] होता है। [तस्मात्] इसलिये [ते] वे (मोह, राग, द्वेष) [सक्षपयितव्या] पूर्णतया नाश करने योग्य है।

टीका—**इस प्रकार (१) तत्त्व की अप्रतिपत्ति (वस्तु-स्वरूप के अज्ञान) से (२) मोह रूप से अथवा रागरूप से अथवा द्वेषरूप से परिणत, ऐसे इस जीव के (१) घास के ढेर से ढके हुए खड्डे को प्राप्त होने वाले, (२) हथिनी रूपी कुट्टनी के शरीर में आसक्त, तथा (३) विरोधी हाथी को देखकर उत्तेजित होकर (उसकी ओर) दौड़ने वाले हाथी की भांति, विविध प्रकार का बन्ध होता है। इस कारण से अनिष्ट कार्य को करने वाले मोह, राग और द्वेष मुमुक्षु द्वारा भले प्रकार जड़मूल से उखाड़कर नाश करने चाहिये (अर्थात् जिस प्रकार से उनकी सत्ता बिल्कुल समाप्त हो जाय, उस प्रकार से नाश करने चाहिये) ॥८४॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ दुःखहेतुभूतबन्धस्य कारणभूता रागद्वेषमोहा निर्मूलनीय। इत्याघोपयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स मोहरागद्वेषपरिणतस्य मोहादिरहितपरमात्म-स्वरूपपरिणतिच्युतस्य बहिर्मुखजीवस्य **जायदि विविहो बंधो** शुद्धोपयोगलक्षणो भावमोक्षस्तद्बलेन जीवप्रदेशकर्मप्रदेशानामत्यन्तविश्लेषो द्रव्यमोक्षः, इत्थभूतद्रव्यभावमोक्षाद्विलक्षण. सर्वप्रकारोपादेयभूत-स्वाभाविकसुखविपरीतस्य नारकादिदुःखस्य कारणभूतो विविधबन्धो जायते। **तम्हा ते सखवइदव्वा** यतो रागद्वेषमोहपरिणतस्य जीवस्येत्थभूतो बन्धो भवति ततो रागादिरहितशुद्धात्मध्यानेन ते रागद्वेष-मोहाः सम्यक् क्षपयितव्या इति तात्पर्यम् ॥८४॥

उत्थानिका—आगे आचार्य यह घोषणा करते है कि इन राग द्वेष मोह को जो ससार के दुखो के कारणरूप कर्मबध के कारण है, निर्मूल करना चाहिए।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(मोहेण व रागेण व दोसेण वा परिणदस्स जीवस्स) मोह राग द्वेष से वर्तने वाले बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव के जो मोहादि-रहित परमात्मा के स्वरूप मे परिणमन करने से दूर है (विविहो बंधो जायदि) नाना प्रकार कर्मो का बंध उत्पन्न होता है अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाला भाव—मोक्ष है, उस भावमोक्ष के बल से जीव के प्रदेशो से कर्मो के प्रदेशों का बिल्कुल अलग हो जाना द्रव्यमोक्ष है, इस प्रकार द्रव्य, भाव मोक्ष से विलक्षण तथा सर्व तरह से ग्रहण करने योग्य स्वाभाविक सुख से विपरीत जो नरक आदि का दुःख उसको उदय में लाने वाला कर्म-बंध होता है (तम्हा ते संखवइदव्वा) इसलिये जब राग द्वेष मोस वर्तने वाले जीव के इस तरह कर्मबंध होता है, तब रागादि से रहित शुद्ध आत्मा ध्यान बल से इन राग द्वेष मोह का भले प्रकार क्षय करना योग्य है, यह तात्पर्य है ॥८४॥

अथामी अमीभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु[1] ।
विसएसु[2] य [3]पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥

अर्थे अयथाग्रहण करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु ।
विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ॥८५॥

अर्थानामयथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्ध्या च मोहमभीष्टविषयसंगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः ॥८५॥

भूमिका—अब, ये (राग, द्वेष और मोह) इन चिन्हों द्वारा पहिचान कर, उत्पन्न होते ही नष्ट करने योग्य है, यह प्रकट करते है:—

अन्वयार्थ—[अर्थे अयथाग्रहण] पदार्थ मे अन्यथा ग्रहण (पदार्थो का मिथ्यास्वरूप ग्रहण करना) [च] और [तिर्यङ्मनुजेषु करुणाभाव:] तिर्यचो मनुष्यो मे करुणाभाव, [विषयेषु प्रसग च] तथा विषयो मे प्रसग (इष्ट विषयो मे प्रीति और अनिष्ट विषयो मे अप्रीति) [एतानि] ये सब [मोहस्य लिगानि] मोह के चिन्ह है।

टीका—पदार्थो की अयथार्थ (मिथ्या) प्रतिपत्ति (जानना श्रद्धान) से तथा जानने देखने योग्य तिर्यञ्चो, मनुष्यों मे करुणाबुद्धि से मोह मिथ्यात्व को (जानकर), इष्ट विषयों की प्रीति से राग को और अनिष्ट विषयों की अप्रीति से द्वेष को (जानकर) इस प्रकार

१ मणुवतिरिएसु (ज० वृ०)। २ विसयेसु (ज० वृ०)। ३ अप्पसगो (ज० वृ०)।

तीन लिंगों से (तीन प्रकार के मोह को) पहिचानकर, तत्काल ही उत्पन्न होते ही तीन प्रकार का मोह नष्ट कर देने योग्य है ।।८५।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ स्वकीयस्वकीयलिङ्गै रागद्वेषमोहान् ज्ञात्वा यथासभव त एव विनाशयितव्या इत्युपदिशति—

अट्ठे अजधागहण शुद्धात्मादिपदार्थे यथास्वरूपस्थितेऽपि विपरीताभिनिवेशरूपेणायथाग्रहण **करुणाभावो य** शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीत: करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभाव· । केषु विषयेषु ? **मणुवतिरिएसु** मनुष्यतिर्यग्जीवेषु, इति दर्शनमोहचिन्ह । **विसयेसु अप्पसगो** निर्विषयसुखास्वादरहितबहिरात्मजीवाना मनोज्ञामनोज्ञविषयेषु च योसौ प्रकर्षेण सङ्ग· सगर्गस्त दृष्ट्वा प्रीत्यप्रीतिलिङ्गाभ्या चारित्रमोहसज्ञौ रागद्वेषौ च ज्ञायेते विवेकिभि·, ततस्तत्परिज्ञानानन्तरमेव निर्विकारस्वशुद्धात्मभावनया **मोहस्सेदाणि लिगाणि** रागद्वेषमोहा निहन्तव्या इति सूत्रार्थ ।।८५।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि राग द्वेप मोहो को उनके चिन्हो से पहचानकर यथासम्भव उनका विनाश करना चाहिये ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अट्ठे अजधागहणं) शुद्ध आत्मा आदि पदार्थो के स्वरूप मे उनका जैसा स्वभाव है उस स्वभाव में उनको रहते हुए भी विपरीत अभिप्राय से और का और अन्यथा समझना तथा (करुणाभावो य मणुवतिरिएसु) शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप परम उपेक्षा संयम् से विपरीत दया का परिणाम अथवा व्यवहारनय की अपेक्षा से तिर्यञ्च मनुष्यों में दया का अभाव होना दर्शनमोह का चिन्ह है (विसएसु अप्पसंगो) विषय-रहित सुख के स्वाद को न पाने वाले बहिरात्मा जीवों का इष्ट अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों में जो अधिक संसर्ग रखना क्योंकि इसको देखकर विवेकी पुरुष प्रीति अप्रीतिरूप चारित्रमोह के राग द्वेष भेद को जानते है, इसलिये (मोहस्सेदाणि लिगाणि) मोह के ये ही चिन्ह हैं । अर्थात् इन चिन्हों को जानने के पीछे ही विकार-रहित अपने शुद्ध आत्मा की भावना के द्वारा इन राग द्वेष मोह का घात करना चाहिये, ऐसा सूत्र का अर्थ है ।।८५।।**

भावार्थ—**यहाँ पर करुणा में जो अध्यवसाय है उसको अथवा करुणा के अभाव को मोह का चिन्ह कहा है । श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने बोधपाहुड गाथा २५ में 'धम्मो दयाविसुद्धो' शब्दों द्वारा यह कहा है कि धर्म दया करि विशुद्ध है, भावपाहुड गाथा १३१ मे मुनि को जीवों की रक्षा करने का उपदेश दिया है । शीलपाहुड गाथा १९ मे जीव-दया को जीव का स्वभाव बतलाया है—**

**जीवदया दम सच्चे अचोरिय वभचेर सतोसे ।
समद्दसण णाण तओ य सीलस्स परिवारो ।।**

अर्थात्—जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप ये सब शील (जीव स्वभाव) के परिवार है।

श्री वीरसेनस्वामी ने भी धवल ग्रन्थ में कहा है—"करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति किं ण वुत्तं ? ण करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं ? ण एस दोसो, संजमघादि-कम्माणं फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।"

शंका—करुणा का कारण भूत करुणा कर्म है, यह क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, करुणा जीव का स्वभाव है, अतएव उसे कर्म-जनित मानने में विरोध आता है।

शका—तो फिर अकरुणा का कारण कर्म कहना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसे संयमघातिया कर्मो के फलरूप से स्वीकार किया गया है।

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि [1]मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं[2] ॥८६॥

जिनशास्त्रात् अर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्यनियमात्।
क्षीयन्ते मोहोपचयः तस्मात् शास्त्र समध्येतव्यम् ॥८६॥

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथा ज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम्। तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते। इदं विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्द प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्ट-संवेदनशक्तिसंपदःसहृदयहृदयानंदोद्भेददायिना प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वतः समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहो-पचयः। अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ॥८६॥

भूमिका—अब, मोह के नाश के दूसरे उपाय का विचार करते है—

अन्वयार्थ—[जिनशास्त्रात्] जिन शास्त्र से (जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत) [प्रत्यक्षादिभि.] (तथा) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से [अर्थान्] पदार्थो को [बुध्यमानस्य] जानने वाले (पुरुष)

१. मोहोवचओ (ज० वृ०)। २ समहिदव्व (ज० वृ०)।

के [नियमात्] नियम से [मोहोपचय.] मोह-समूह [क्षीयते] नष्ट हो जाता है। [तस्मात्] इस कारण से [शास्त्र] शास्त्र [समध्येतव्य] सम्यक् प्रकार से अध्ययन करने योग्य है।

टीका—**जो द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभाव रूप अरहन्त के ज्ञान से आत्मा का वैसा ज्ञान मोह क्षय के उपाय-पने से वास्तव मे पहले (अस्सीवी गाथा मे) प्रतिपादित किया गया है वह उपाय वास्तव में इस (निम्नलिखित) उपायान्तर को अपेक्षित करता है (उपायान्तर की अपेक्षा रखता है)।**

(१) प्रथम भूमिका मे गमन करने वाले के (२) जो सर्वज्ञ के द्वारा जान कर कहा हुआ होने से सर्व प्रकार से अवाधित है, ऐसे इस शब्द प्रमाण को (द्रव्यश्रुतप्रमाण को) प्राप्त करके क्रीडा करने वाले के, (३) उसके संस्कार से प्रगट हो गई है विशिष्ट सवेदन-शक्ति रूप सम्पदा जिसके, (४) सहृदयजनों के हृदय को आनन्द का उद्भेद देने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा उससे अविरोधी अन्य प्रमाण समूह से तत्वतः समस्त वस्तु मात्र को जानने वाले के, ऐसे जीव के अतत्त्व अभिनिवेश के संस्कार को करने वाला मोहोपचय (मोह समूह) क्षय को प्राप्त होता ही है। इस कारण से वास्तव में मोह के क्षय करने में शब्दब्रह्म की उत्कृष्ट उपासना (अर्थात्) भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ किये गये परिणाम से सम्यक् प्रकार अभ्यास करना उपायान्तर है। (अर्थात् जो परिणाम भाव ज्ञान के अवलम्बन से दृढीकृत हो ऐसे परिणाम से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करना सी मोह क्षय करने के लिये उपायान्तर है) ॥८६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानाभावे मोहो भवतीति यदुक्त पूर्वं तदर्थमागमाभ्यास कारयति, अथवा द्रव्यगुणपर्यायत्वैरर्हत्परिज्ञानादात्मपरिज्ञान भवतीति यदुक्त, तदात्मपरिज्ञानमिममागमाभ्यासमपेक्षत इति पातनिकाद्वय मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति,—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा जिनशास्त्रात्सकाशाच्छुद्धात्मादिपदार्थान् प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्बुध्यमानस्य जानतो जीवस्य नियमान्निश्चयात्। कि फल भवति ? **खीयदि मोहोवचओ** दुरभिनिवेशसस्कारकारी मोहोपचय· क्षीयते प्रलीयते क्षय याति। **तम्हा सत्थं समहिदव्व** तस्माच्छास्त्र सम्यगध्येतव्य पठनीयमिति।

तद्यथा—वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशास्त्रात् **"एगो मे सस्सदो अप्पा"** इत्यादि परमात्मोपदेशकश्रुतज्ञानेन तावदात्मान जानीते कश्चिद्भव्य, तदनन्तर विशिष्टाभ्यासवशेन परमसमाधिकाले रागादिविकल्परहितमानसप्रत्यक्षेण च तमेवात्मान परिच्छिनत्ति। तथैवानुमानेन वा, तथाहि—अत्रैव देहे निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मास्ति। कस्माद्धेतो ? निर्विकारस्वसवेदनप्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति, तथैवान्येपि पदार्था यथासभवमागमाभ्यासबलोत्पन्नप्रत्यक्षेणानुमानेन वा ज्ञायन्ते। ततो मोक्षार्थिना भव्येनागमाभ्यासः कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥८६॥

उत्थानिका—आगे यह पहले कह चुके है कि द्रव्य, गुण पर्याय का ज्ञान न होने से मोह रहता है इसलिये अब आचार्य आगम के अभ्यास की प्रेरणा करते है अथवा यह पहले कहा था कि द्रव्यपने, गुणपने व पर्यायपने के द्वारा अरहत भगवान् का स्वरूप जानने से आत्मा का ज्ञान होता है। ऐसे आत्मज्ञान के लिये आगम के अभ्यास की अपेक्षा है। इस प्रकार दोनो पातनिकाओ को मन मे रखकर आचार्य सूत्र कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जिणसत्थादो) जिन शास्त्र की निकटता से (अट्ठे) शुद्ध आत्मा आदि पदार्थो को (पच्चक्खादीहिं) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा (बुज्झदो) जानने वाले जीव के (णियमा) नियम से (मोहोवचओ) मिथ्या अभिप्राय के संस्कार को करने वाला मोहकर्म का समूह (खीयदि) क्षय हो जाता है (तम्हा) इसलिये (सत्थं समाहिदव्वं) शास्त्र को अच्छी तरह पढ़ना चाहिये।

विशेष यह है कि कोई भव्य जीव वीतराग सर्वज्ञ से कहे हुए शास्त्र से "एगो मे सस्सदो अप्पा" इत्यादि परमात्मा के उपदेशक श्रुतज्ञान के द्वारा प्रथम ही अपने आत्मा के स्वरूप को जानता है, फिर विशेष अभ्यास के वश से परमसमाधि के काल में रागादि विकल्पों से रहित मानस प्रत्यक्ष से उस ही आत्मा का अनुभव करता है। तैसे ही अनुमान से भी निश्चय करता है। जैसे इस ही देह में निश्चयनय से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा है क्योकि विकार-रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से वह इस ही तरह जाना जाता है, जिस तरह सुख दुःख आदि। तैसे ही अन्य भी पदार्थ यथासम्भव आगम से उत्पन्न प्रत्यक्ष से वा अनुमान से जाने जा सकते है। इसलिये मोक्ष के अर्थी पुरुष को आगम का अभ्यास करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥८६॥

भावार्थ—जिनवाणी मे प्रसिद्ध चारों ही अनुयोगों का कथन हर एक मुमुक्षु को जानना चाहिये। जितना अधिक शास्त्रज्ञान होगा उतना अधिक स्पष्ट ज्ञान होगा। जितना स्पष्ट ज्ञान होगा उतना ही निर्मल मनन होगा। प्रथमानुयोग में पूज्य पुरुषों के जीवन चरित्र उदाहरण रूप से कर्मो के प्रपंच को व संसार या मोक्षमार्ग को दिखलाते है। कारणानुयोग में जीवों के भावों के वर्तन की अवस्थाओं को व कर्मो की रचना को व लोक के स्वरूप को इत्यादि तारतम्य कथन को किया गया है। चरणानुयोग मे मुनि तथा श्रावक के चारित्र के भेदों को बताकर व्यवहारचारित्र पर आरूढ़ किया गया है। द्रव्यानुयोग मे छः द्रव्यों का स्वरूप बताकर आत्म-द्रव्य के मनन, चिंतन व ध्यान का उपाय बताकर निश्चयरत्नत्रय के पथ को दर्शाया गया है। इन चारों ही प्रकार के

सैकड़ों ग्रन्थ जिनवाणी में हैं—इनका अभ्यास सदा ही उपयोगी है। सम्यक्त्व होने के पीछे सम्यक्चारित्र की पूर्णता व सम्यग्ज्ञान की पूर्णता के लिये भी जिनवाणी का अभ्यास कार्यकारी है। इस पंचम काल में तो इसका आलम्बन हर एक मुमुक्षु के लिये बहुत ही आवश्यक है क्योकि यथार्थ उपदेष्टाओं का सम्बन्ध बहुत दुर्लभ है। जिनवाणी के पढ़ते रहने से एक मूढ मनुष्य भी ज्ञानी हो जाता है। आत्म हित के लिये यह अभ्यास परम उपयोगी है। स्वाध्याय के द्वारा आत्मा मे ज्ञान प्रगट होता है, कषायभाव घटता है संसार से ममत्व हटता है, मोक्ष भाव से प्रेम जगता है। इसी के निरन्तर अभ्यास से मिथ्यात्वकर्म और अनंतानुबन्धी कषाय का उपशम हो जाता है और सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने श्री समयसार कलश में कहा है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके जिनवचसि रमन्ते ये स्वय वान्तमोहा।
सपदि समयसार ते परज्योतिरुच्चै-रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥

अर्थ—निश्चयनय और व्यवहारनय के विरोध को मेटने वाली स्याद्वाद से लक्षित जिनवाणी में जो रमते हैं वे स्वयं मोह को वमन कर शीघ्र ही परमज्ञान ज्योतिमय शुद्धात्मा को, जो नया नहीं है और न किसी नय के पक्ष से खंडन किया जा सकता है, देखते ही है।

स्वाध्याय श्रावकधर्म और मुनिधर्म के लिये उपकारी है। मन को अपने अधीन रखने में सहायक है ॥८६॥

अथ कथ जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिदा[1]।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥८७॥

द्रव्याणि गुणास्तेषा पर्यायाअर्थसज्ञया भणिताः।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः ॥८७॥

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः, तत्र गुणपर्याया-नियर्ति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्थाः द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयर्ति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयर्ति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्था. पर्यायाः। यथा हि सुवर्ण पीततादीन् गुणान् कुण्डलादीश्च पर्यायानियर्ति तैरर्यमाण वा अर्थो द्रव्यस्थानीयं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयर्ति तेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीत-तादयो गुणाः, यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयर्ति तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः

---

१ भणिया (ज० वृ०)।

कुण्डलादय पर्यायाः । एवमन्यत्रापि । यथा चैतेषु सुवर्णपीतताादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीतताादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेववात्मा तथा च तेषु द्रव्यगुण-पर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा ।।८७।।

भूमिका—अब, जिनेन्द्र के शब्दब्रह्म मे पदार्थों की व्यवस्था (स्थिति) किस प्रकार है, सो विचार करते है,—

अन्वयार्थ—[द्रव्याणि] द्रव्य [गुणाः] गुण [तेषा पर्याया.] और उन द्रव्यो और गुणो की पर्यायें [अर्थसज्ञया] अर्थ नाम से [भणिताः] कहे गये है । उनमे [गुणपर्यायाणा आत्मा द्रव्य] गुण पर्यायो का आत्मा [तदात्मरूप आधार] द्रव्य है [इति उपदेश.] ऐसा उपदेश है ।

टीका—द्रव्य, गुण और पर्यायें, अभिधेयभेद होने पर भी अभिधान का अभेद होने से, 'अर्थ' है [अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्यायों में वाच्य का भेद होने पर भी वाचक में भेद न रखे तो 'अर्थ' ऐसे एक ही वाचक (शब्द) से ये तीनों कहे जाते है ।] उनमें (उन द्रव्य, गुण और पर्यायों मे), जो गुणों को और पर्यायों को प्राप्त करते है अथवा जो गुणों पर्यायों को प्राप्त करते है अथवा जो गुणों और पर्यायों को प्राप्त करते है अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते है, ऐसे 'अर्थ' द्रव्य है । जो द्रव्यो को आश्रय-पने से प्राप्त करते है अथवा जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते है, 'अर्थ' गुण है । जो द्रव्यों को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते है, अथवा जो द्रव्यों के द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त किये जाते है, ऐसे 'अर्थ' पर्याय है । जैसे वास्तव में जो (सुवर्ण) पीलापन इत्यादि गुणों को और कुण्डल इत्यादि पर्यायों को प्राप्त करता है अथवा उनके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह स्वर्ण पदार्थ द्रव्य के स्थान पर है । जैसे (जो) सुवर्ण को आश्रय-पने से प्राप्त करते है, अथवा आश्रयभूत सुवर्ण के द्वारा प्राप्त किये जाते है वे पदार्थ पीलापन आदि गुण है और जैसे (जो) सुवर्ण को क्रम-परिणाम से प्राप्त करती है अथवा सुवंण के द्वारा उस क्रम परिणाम से प्राप्त की जाती है वे पदार्थ कुण्डल आदि पर्यायें है । इसी प्रकार अन्यत्र भी है (इस दृष्टान्त की भांति सर्व द्रव्य, गुण, पर्यायों में भी समझना चाहिये) । और जैसे उन सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायों में पीलापन आदि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायों के सुवर्ण से अपृथक्पना होने से, सुवर्ण ही आत्मा है, उसी प्रकार उन द्रव्य गुण पर्यायों में, गुण-पर्यायों का आत्मा, द्रव्य से अपृथक्पना होने से, द्रव्य ही है ।।८७।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यगुणपर्यायाणामर्थसज्ञा कथयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया द्रव्याणि गुणास्तेषा द्रव्याणा पर्यायाश्च त्रयोऽप्यर्थसज्ञया भणिताः कथिता अर्थसंज्ञा भवन्तीत्यर्थ । तेसु तेषु त्रिपु द्रव्यगुणपर्यायेषु मध्ये **गुणपज्जयाणं अप्पा** गुणपर्यायाणा सबन्धी आत्मा स्वभाव. । क इति पृष्टे ? **दव्व त्ति उवदेसो** द्रव्यमेव स्वभाव इत्युपदेश , अथवा द्रव्यस्य क स्वभाव ? इति पृष्टे गुणपर्यायाणामात्मा एव स्वभाव इति । अथ विस्तर.—अनन्तज्ञानसुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियत्वसिद्धत्वादिपर्यायाश्च इयर्ति गच्छति परिणमत्याश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते । कि ? शुद्धात्मद्रव्यम् । तच्छुद्धात्मद्रव्यमाधारभूतमियर्ति गच्छन्ति परिणमन्त्याश्रयन्ति येन कारणेन ततोर्था भण्यन्ते । के ते ? ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्याया । ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाणामात्मा स्वभाव । क इति पृष्टे शुद्धात्मद्रव्यमेव स्वभाव अथवा शुद्धात्मद्रव्यस्य क. स्वभाव इति पृष्टे पूर्वोक्तगुणपर्याया एव । एवं शेषद्रव्यगुणपर्यायाणामप्यर्थसज्ञा बोद्धव्येत्यर्थ. ।।८७।।

उत्थानिका—आगे द्रव्य, गुण पर्यायो की अर्थसज्ञा को, कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वाणि) द्रव्य, (गुणा) उनके सहभावी गुण व (तेसिं पज्जाया) उन द्रव्यो की पर्याये ये तीनों ही (अट्ठसण्णया) अर्थ के नाम से (भणिया) कहे गए है । अर्थात् तीनों को ही अर्थ कहते है । (तेसु) इन तीन द्रव्य गुण पर्यायों में से (गुणपज्जयाणं अप्पा) अपने गुण और पर्यायों का सम्बन्धी स्वभाव (दव्व त्ति) द्रव्य है, ऐसा उपदेश है । अथवा यह प्रश्न होने पर कि द्रव्य का क्या स्वभाव है ? यही उत्तर होगा कि जो गुण पर्यायों का आत्मा या आधार है, वही द्रव्य है, वही गुण पर्यायों का निजभाव है । विस्तार यह है कि जिस कारण से शुद्धात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि गुणों को तैसे ही अमूर्तिकपना, अतीन्द्रियपना, सिद्धपना आदि पर्यायों को इयर्ति अर्थात् परिणमन करती है व आश्रय करती है इसलिये शुद्धात्मा द्रव्य अर्थ कही जाती है । तैसे ही जिस कारण से ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्याये अपने आधारभूत शुद्धात्मा द्रव्य को इयर्ति अर्थात् परिणमन करती है–आश्रय करती है, इसलिये वे ज्ञानगुण व सिद्धत्व आदि पर्याये भी अर्थ कही जाती है । ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्यायों का जो कुछ सर्वस्व है वही उनका निजभावस्व भाव है और वह शुद्धात्मा द्रव्य ही स्वभाव है । अथवा यह प्रश्न किया जाय कि शुद्धात्मा द्रव्य का क्या स्वभाव है तो कहना होगा कि पूर्व मे कही हुई गुण और पर्याये है । जिस तरह आत्मा की अर्थ संज्ञा जानना, उसी तरह द्रव्यों को व उनके गुण पर्यायों की अर्थ संज्ञा है, ऐसा जानना चाहिये ।।८७।।**

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुषं व्यापारयति—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ[1] जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि[2] अचिरेण कालेण ॥८८॥

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् ।
सः सर्वदुःखमोक्ष प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥८८॥

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारिधारापथस्थानीयमुपदेश य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःखपरिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव । अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि ॥८८॥

भूमिका—अब, इस प्रकार मोह क्षय के उपायभूत जिनेश्वर के उपदेश की प्राप्ति होने पर भी पुरुषार्थ अर्थ-क्रियाकारी (प्रयोजन-भूत क्रिया का करने वाला) है, इसलिये पुरुषार्थ करते है—

अन्वयार्थ—[यः] जो [जैन उपदेश] जिनेन्द्र के उपदेश को [उपलभ्य] प्राप्त करके [मोहरागद्वेषान्] मोह, राग, द्वेष को [निहंति] हनता है [नाश करता है] [स] वह [अचिरेण कालेन] अल्पकाल मे [सर्वदु खमोक्ष] सब दु खो से छुटकारे को [प्राप्नोति] पाता है ।

टीका—वास्तव में इस अति-दीर्घ संसार मार्ग में किसी भी प्रकार से जिनेन्द्रदेव के इस तीक्ष्ण असिधारा (तलवार की धार) समान उपदेश को प्राप्त करके भी, जो कोई मोह राग द्वेष के ऊपर अतिदृढता-पूर्वक हाथ में तलवार लिये हुए (पुरुष) की भांति प्रहार करता है वही सब दुःखों से छुटकारे को शीघ्र ही प्राप्त होता है । अन्य (कोई) व्यापार (प्रयत्न-क्रिया) समस्त दुःखों से परिमुक्त नही करता (जैसे मनुष्य के हाथ में तीक्ष्ण तलवार होने पर भी वह शत्रुओं पर अत्यन्त वेग से उसका प्रहार करे तो ही वह शत्रु-सम्बन्धी दुःख से मुक्त होता है, अन्यथा नही । इस प्रकार इस अनादि संसार में महा भाग्य से जिनेश्वर देव के उपदेश रूपी तीक्ष्ण तलवार को प्राप्त करके भी जो जीव मोह रागद्वेष रूपी शत्रुओं पर अति दृढता-पूर्वक उसका प्रहार करता है, वही सर्व दुःखों से मुक्त होता है–अन्यथा नही) । इसलिये सम्पूर्ण प्रयत्न से मोह का क्षय करने के लिये मै पुरुषार्थ मे स्थित होता हूँ ॥८८॥

---

१ उवलद्ध (ज० वृ०) । २ पावइ (ज० वृ०) ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ दुर्लभजैनोपदेश लब्ध्वापि य एव मोहरागद्वेपान्निहन्ति स एवाशेषदु खक्षय प्राप्नोतीत्यावेदयति—

जो मोहरागदोसे णिहणदि य एव मोहरागद्वेषान्नि हन्ति। कि कृत्वा ? **उवलद्ध** उपलभ्य प्राप्य। कम् ? **जोण्हमुवदेसं** जैनोपदेश, **सो सव्वदुक्ख मोक्ख पावाइ** स सर्वदुःखमोक्ष प्राप्नोति। केन ? **अचिरेण कालेण** स्तोककालेनेति।

तद्यथा—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियादिदुर्लभपरम्परया जैनोपदेश प्राप्य मोहरापद्वेप-विलक्षण निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षण निश्चयसम्यक्त्वज्ञानद्वयाविनाभूत वीतरागचारित्रसज्ञ निशितखड्ग य एव मोहरागद्वेषशत्रूणामुपरि दृढतर पातयति स एव पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुख-विलक्षणाना दुःखाना क्षयं करोतीत्यर्थं ॥८८॥

एव द्रव्यगुणपर्यायविषये मूढत्वनिराकरणार्थं गाथाषट्केन तृतीयज्ञानकण्ठिका गता।

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते है कि इस दुर्लभ जैन के उपदेश को प्राप्त करके जो भी कोई मोह रागद्वेषो को नाश करते है, वे ही सर्व दु खो का क्षय करके निज स्वभाव प्राप्त करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) **जो कोई भव्य जीव (जोण्हमुवदेसं उवलद्ध) जैन के उपदेश को पाकर (मोहरागदोसे णिहणदि) मोह रागद्वेष को नाश करता है (सो) वह (अचिरेण कालेण) अल्पकाल में ही (सव्वदुखमोक्खं पावइ) सर्व दुःखो से छूट जाता है।**

विषय यह है कि जो कोई भव्य जीव एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय, फिर पंचेन्द्रिय फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्भभपने की परम्परा को समझकर अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होने वाले जैन तत्व के उपदेश को पाकर मोह रागद्वेष से विलक्षण अपने शुद्धात्मा के निश्चल अनुभव रूप निश्चयसम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से अविनाभूत वीतरागचारित्ररूपी तीक्ष्ण खड्ग को मोह रागद्वेष शत्रुओं के ऊपर पटकता है वह ही वीर पुरुष परमार्थ रूप अनाकुलता लक्षण को रखने वाले सुख से विलक्षण सब दुःखों का क्षय कर देता है यह अर्थ है ॥८८॥

भावार्थ—**आचार्य ने इस गाथा में चारित्र पालने की प्रेरणा की है। तथा वृत्ति-कार के भावानुसार यह बात समझनी चाहिये कि मनुष्य जन्म का पाना ही अति कठिन है। निगोद एकेन्द्रिय से उन्नति करते हुए पंचेन्द्रिय शरीर में आना बड़ा दुर्लभ है। मनुष्य होकर भी जिनेन्द्र भगवान् का सार-उपदेश मिलना दुर्लभ है। यदि कोई शास्त्रो का मनन करेगा और गुरु से समझेगा तथा अनुभव में लायेगा तो उसे निज भगवान् का उपदेश समझ पड़ेगा। भगवान् का उपदेश आत्मा के शत्रुओं के नाश के लिये निश्चयरत्नत्रय**

रूप स्वात्मानुभव है। इसी के द्वारा रागद्वेष मोह का नाश हो सकता है। सिवाय इस खड्ग के और किसी में बल नही है जो इन अनादि से लगे हुए आत्मा के वैरियों का नाश कर सके। जो कोई इस उपदेश को समझ भी लेवे परन्तु पुरुषार्थ करके स्वात्मानुभव न करे तो वह कभी भी दुःखों से छूटकर मुक्त नही हो सकता। जैसा यहाँ आचार्य ने कहा है, वैसा ही श्री समयसार जी में आपने इन रागद्वेष मोह के नाश का उपाय इस गाथा से सूचित किया है—

जो आदभावणमिण णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण॥

अर्थ—जो कोई मुनि नित्य उद्यमवंत होकर निज आत्मा की भावना को आचरण करता है, वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से छूट जाता है ॥८८॥

इस तरह द्रव्य, गुण, पर्याय के सम्बन्ध में मूढता को दूर करने के लिये छह गाथाओं से तीसरी ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई।

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

ज्ञानात्मकमात्मान पर च द्रव्यत्वेनाभिसबद्धम्।
जानाति यदि निश्चयतो य सो मोहक्षय करोति ॥८९॥

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसम्बद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति। अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥८९॥

भूमिका—अब, स्व-परके विवेक की (भेदज्ञान की) सिद्धि से ही मोह का क्षय हो सकता है। इसलिये स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते है—

अन्वयार्थ—[यः] जो [ज्ञानात्मक आत्मान] ज्ञानमयी (ज्ञान-स्वरूप) अपने को [च] और [पर] पर को [द्रव्यत्वेन अभिसम्बद्ध] (निज निज) द्रव्यत्व से सम्बद्ध [निश्चयत] निश्चय से (जानाति) जानता है [स·] वह [मोहक्षय करोति] मोह के क्षय को करता है।

टीका—जो स्वकीय (अपने) चैतन्यात्मक द्रव्यत्व से भले प्रकार संबद्ध (संयुक्त) अपने को और परको परकीय (दूसरे के) यथोचित द्रव्यत्व से भले प्रकार सम्बद्ध

ही निश्चय से जानता है, स्व–परके विवेक को प्राप्त वह ही सम्पूर्ण मोहको नष्ट करता है। इस कारण से स्व-परके विवेक के लिये मै प्रयत्नशील हूँ ॥८९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ स्वपरात्मयोर्भेदज्ञानात् मोहक्षयो भवतीति प्रज्ञापयति—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसबद्धं जाणदि जदि ज्ञानात्मकमात्मान जानाति यदि। कथंभूत ? स्वकीयशुद्धचैतन्यद्रव्यत्वेनाभिसबद्ध, न केवलमात्मान। परं च यथोचितचेतनाचेतनपरकीय-द्रव्यत्वेनाभिसबद्धं। कस्मात् ? णिच्छयदो निश्चयत. निश्चयनयानुकूल भेदज्ञानमाश्रित्य। जो य कर्ता सो स मोहक्खयं कुणदि निर्मोहपरमानन्दैकस्वभाव-शुद्धात्मनो विपरीतस्य मोहस्य क्षयं करोतीति सूत्रार्थ. ॥८९॥

उत्थानिका—आगे सूचित करते है कि अपने आत्मा और पर के भेद-विज्ञान से मोह का क्षय होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई (णिच्छयदो) निश्चयनय के द्वारा भेद-ज्ञान को आश्रय करके (जदि) यदि (णाणप्पगप्पमपाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं जाणदि) अपने ज्ञान-स्वरूप आत्मा को अपने ही शुद्ध चैतन्य द्रव्य से सम्वन्धित तथा अन्य चेतन अचेतन पदार्थो को यथायोग्य अपने से भिन्न चेतन अचेतन द्रव्य से सम्बन्धित जानता है या अनुभव करता है (सो मोहक्खयं कुणदि) वही मोह-रहित परमानन्दमयी एक स्वभावरूप शुद्धात्मा से विपरीत मोह का क्षय करता है ॥८९॥

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु[1] इच्छादि[2] णिम्मोहं जदि अप्पणो अप्पा ॥९०॥

तस्माज्जिनमार्गात् गुणैरात्मान पर च द्रव्येषु।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥९०॥

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतया साधारणता-मुपादाय विशेषणतामुपगतैरनन्तायां द्रव्यसंततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवण-बुद्धयो लब्धवर्णाः तथाहि—यदिदं सदकारणतया, स्वतः सिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यं जानामि। एवं पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय तस्मिन्नेव च वर्तमानै सकलत्रिकाल-कलितध्रौव्यं द्रव्यमाकाशं धर्ममधर्मं कालं पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि। ततो नाह-

---

१ अहिगच्छदु (ज० वृ०)। २ इच्छादि (ज० वृ०)।

माकाशं न धर्मो ना धर्मो न च कालो न पुद्गलो नात्मान्तरं च भवामि, यतोऽमीष्वेकाप-वरकप्रबोधितानेकदीपप्रकाशेष्विव, संभूयावस्थितेष्वपि मच्चैतन्यं स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति। एवमस्य निश्चितस्वपर विवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ॥६०॥

भूमिका—अब, सब प्रकार से स्व-परके विवेक की सिद्धि आगम से करने योग्य है, इस प्रकार उपसहार करते है—

अन्वयार्थ—[तस्मात्] इस कारण से (क्योकि स्व-पर के विवेक द्वारा मोह का नाश हो सकता है इस कारण से) [यदि] जो [आत्मा] आत्मा [आत्मनः] अपनी [निर्मोह] निर्मोहता [इच्छति] चाहता है तो [जिनमार्गात्] जिन मार्ग से (जिन आगम से) [द्रव्येषु] (छह) द्रव्यो मे से [गुणैः] (विशेष) गुणो के द्वारा [आत्मान परं च] स्व और पर को [अभिगच्छतु] जानो।

टीका—मोहका क्षय करने के प्रति अभिमुख बुध-जन इस जगत् में निश्चय से आगम में कथित अनन्त गुणों मे से किन्ही गुणों के द्वारा–जो गुण अन्य (द्रव्य) के साथ योग (सम्बन्ध) रहित होने से असाधारणता को धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुए है, उनके द्वारा-अनन्त द्रव्य-परम्परा में स्व-परके विवेक को प्राप्त करो (मोह का क्षय करने के इच्छुक पडित जन आगम-कथित अनन्त गुणों में असाधारण लक्षणभूत गुणों के द्वारा अनन्त द्रव्य-परम्परा में 'यह स्व-द्रव्य है और यह पर द्रव्य है'' ऐसा विवेक करो), जो कि इस प्रकार है—

सत् और अकारण होने से स्वतःसिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से स्व पर का ज्ञायक, ऐसा जो यह मेरे साथ संबन्ध वाला मेरा चैतन्य है तथा जो (चैतन्य) समान–जातीय अथवा असमान–जातीय अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है, उस (चैतन्य) के द्वारा मै अपने आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ, इस प्रकार पृथक् रूप से वर्तने वाले स्वलक्षणों के द्वारा जो अन्य द्रव्य को छोड़कर उसी द्रव्य में वर्तते हैं उनके द्वारा–आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्मा को सकल त्रिकाल मे ध्रुवत्व-धारक द्रव्य के रूप मे निश्चित करता हूँ (जैसे चैतन्य लक्षण के द्वारा आत्मा को ध्रुव द्रव्य के रूप में जाना, उसी प्रकार अवगाहहेतुत्व, गति-हेतुत्व, इत्यादि लक्षणो से जो कि स्वलक्षणभूत द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों मे नही पाये जाते उनके द्वारा-आकाश धर्मास्तिकाय इत्यादि को भिन्न-भिन्न ध्रुव द्रव्यों के रूप में

जानता हूँ)। इसलिये न मै आकाश हूँ, न धर्म हूँ, न अधर्म हूँ, न काल हूँ, न पुद्गल हूँ और न आत्मान्तर (अन्य आत्मा) हूँ, क्योंकि मकान के एक ही कमरे मे जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाशों की भांति, इकट्ठे (एक क्षेत्रावगाही) रहने वाले द्रव्यो मे भी मेरा चैतन्य, निजस्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ, मुझको पृथक् जनाता (प्रगट करता) है। इस प्रकार निश्चित किया है स्व-पर का विवेक जिसने—ऐसे इस आत्मा के वास्तव में विकार को उत्पन्न करने वाले मोहांकुर का प्रादुर्भाव नही होता ॥६०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वसूत्रे यदुक्त स्वपरभेदविज्ञान तदागमतः सिद्धयतीति प्रतिपादयति—

तम्हा जिणमग्गादो यस्मादेव भणित पूर्वं स्वपरभेदविज्ञानाद् मोहक्षयो भवति, तस्मात्कारणाज्जिनमार्गाज्जिनागमात् **गुणेहिं गुणै आदं** आत्मान, न केवलमात्मान **पर च** परद्रव्य च। केषु मध्ये ? **दव्वेसु** शुद्धात्मादिषड्द्रव्यमध्येषु **अहिगच्छदु** अभिगच्छतु जानातु यदि। किं ? **णिम्मोह इच्चदि जदि** निर्मोहभावमिच्छति यदिचेत्। स कः ? **अप्पा** आत्मा। कस्य सबन्धित्वेन ? **अप्पणो** आत्मन इति।

तथाहि—यदिदं मम चैतन्य स्वपरप्रकाशक तेनाह कर्ता शुद्धज्ञानदर्शनभाव स्वकीयमात्मानं जानामि, परं च पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूप शेषजीवान्तर च पररूपेण जानामि, तत कारणादेकापवरकप्रबोधितानेकप्रदीपप्रकाशेष्वेव सभूयावस्थितेष्वपि सर्वद्रव्येषु मम सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्य केनापि सह मोहो नास्तीत्यभिप्रायः ॥६०॥

एव स्वपरपरिज्ञानविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका गता। इति पञ्चविशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकार. समाप्त.।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्र मे जिस स्व-पर के भेद-विज्ञान की बात कही है, वह भेद-विज्ञान जिन-आगम के द्वारा सिद्ध हो सकता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तम्हा) क्योकि पहले यह कह चुके है कि स्व पर के भेद-विज्ञान से मोह का क्षय होता है इसलिये (जिणमग्गादो) जिन-आगम (दव्वेसु) शुद्धात्मा आदि छ. द्रव्यों के मध्य मे से (गुणैः) उनके उन गुणों के द्वारा (आदं परं च) आत्मा को और परद्रव्य को (अहिगच्छदु) जाने, (जदि) यदि (अप्पा) आत्मा (अप्पणो) अपने भीतर (णिम्मोहं) मोह-रहित भाव को (इच्चदि) चाहता है।**

विशेष यह है कि जो यह मेरा चैतन्यभाव अपने को और पर को प्रकाशमान करने वाला है उसी करके मै शुद्ध ज्ञानदर्शन भाव को अपना आत्मा रूप जानता हूँ तथा पर जो पुद्गल आदि पांच द्रव्य है तथा अपने जीव के सिवाय अन्य सर्व जीव है, उन सबको पररूप से जानता हूँ। इस कारण से जैसे एक घर मे जलते हुए अनेक दीपकों का प्रकाश है किन्तु सबका प्रकाश अलग-अलग है। इस ही तरह सर्व द्रव्यों के भीतर मे मेरा

सहज शुद्ध चिदानन्दमय एक स्वभाव अलग है उसका किसी के साथ मोह नही है, यह अभिप्राय है ॥६०॥

इस तरह स्व-पर के ज्ञान मे मूढता को हटाते हुए दो गाथाओं के द्वारा चौथी ज्ञानकठिका पूर्ण हुई ।

इस तरह पच्चीस गाथाओं के द्वारा ज्ञानकंठिका का चतुष्टय नाम का दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ।

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति—

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे ।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥६१॥

सत्तासम्बद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये ।
श्रद्धधाति न स श्रमण ततो धर्मो न नंभवति ॥६१॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशेषाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः । यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति ॥६१॥

भूमिका—अब, जिनेन्द्र के कहे हुए पदार्थों के श्रद्धान विना धर्म लाभ नहीं होता, यह न्यायपूर्वक विचार करते हैं—

अन्वयार्थ—[य· श्रामण्ये] जो श्रमण अवस्था मे [एतान् मत्तासवद्धान् सविशेपान्] इन सत्ता—सयुक्त सविशेप पदार्थों को [न एव श्रद्दधाति] श्रद्धान नही करता [स] वह [श्रमण न] श्रमण नही है [तत] उस (श्रमणाभासपने) से [धर्म. न संभवति] धर्म का उद्भव नही होता है ।

टीका—जो (जीव) सादृश्य अस्तित्व से समानता को धारण करते हुये भी स्वरूप अस्तित्व से विशेष-युक्त इन द्रव्यो को स्व-पर के भेद से नही जानता हुआ और श्रद्धान नही करता हुआ, यो ही (ज्ञान श्रद्धान के बिना) मात्र श्रमणता मे (द्रव्य मुनित्व मे) आत्मा को (अपने को) दमन करता है, वह वास्तव मे श्रमण नहीं है । क्योंकि जैसे रेत और स्वर्ण-कणो मे भेद ज्ञात न होने पर, मात्र धूल के (रेत के) धोने मे स्वर्ण का उद्भव नही होता, इसी प्रकार स्व-पर का भेद ज्ञान न होने से, मात्र श्रमणाभासपने मे निरुपराग (निर्विकार) आत्मतत्त्व की उपलब्धि (प्राप्ति) लक्षण वाला धर्म लाभ का भी उद्भव नही होता ॥६१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपदार्थश्रद्धानमन्तरेण श्रमणो न भवति, तस्माच्छुद्धोपयोगलक्षण-धर्मोऽपि न सभवतीति निश्चिनोति—

सत्तासबद्धे महासत्तासबन्धेन सहितान् **एदे** एतान् पूर्वोक्तशुद्धजीवादिपदार्थान्। पुनरपि किं विशिष्टान्? **सविसेसे** विशेषसत्तावान्तरसत्तास्वकीयस्वरूपसत्ता तया सहितान् **जो हि णेव सामण्णे सद्दहदि** यः कर्ता द्रव्यश्रामण्ये स्थितोऽपि न श्रद्धत्ते हि स्फुट **ण सो समणो** निजशुद्धात्मरुचिरूप-निश्चयसम्यक्त्वपूर्वकपरमसामायिकसयमलक्षणश्रामण्याभावात्स श्रमणो न भवति। इत्थभूतभाव-श्रामण्याभावात् **तत्तो धम्मो ण संभवदि** तस्मात्पूर्वोक्तद्रव्यश्रमणत्सकाशान्निरुपरागशुद्धात्मानुभूति-लक्षणधर्मोऽपि न सभवतीति सूत्रार्थ ॥९१॥

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते है कि दोषरहित अरहत परमात्मा द्वारा कहे हुए पदार्थो के श्रद्धान के बिना कोई श्रमण या साधु नही हो सकता है ऐसे श्रद्धारहित साधु मे शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाला धर्म भी सभव नही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) **जो कोई जीव (हि) निश्चय से (सामण्णे) द्रव्य रूप से साधु अवस्था में विराजमान होकर भी (सत्तासंबंद्धे सविसेसे) महासत्ता के सबंध रूप सामान्य अस्तित्व सहित तथा विशेष सत्ता या अवान्तर सत्ता या अपने स्वरूप की सत्ता सहित विशेष अस्तित्व सहित (एदे) इन पूर्व मे कहे हुए शुद्ध जीव आदि पदार्थो को (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (सो समणो ण) वह अपने शुद्ध आत्मा की रुचि रूप निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक परम सामायिक संयम लक्षण को रखने वाले साधुपने के बिना भाव साधु नहीं है, इस तरह भाव साधुपने के अभाव से (तत्तो धम्मो ण संभवदि) उस पूर्वोक्त द्रव्य साधु से वीतराग शुद्धात्मानुभव लक्षण को धरने वाला धर्म भी नही पालन हो सकता है, यह सूत्र का अर्थ है ॥९१॥**

अथ 'उवसपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इति प्रतिज्ञाय 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इति साम्यस्य धर्मत्वं निश्चित्य 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निर्ध्वस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्योतयता संवेदन-स्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम्।

तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परमनि:स्पृहमात्मतृप्तां पारमेश-

वरीप्रवृत्तिमभ्युपगत कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते—

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥९२॥

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते ।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमणः ॥९२॥

यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री । सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते । ततो वीतरागचारित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्तसमस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते । अलमति विस्तरेण । स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे स्वस्ति तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोह-ग्रन्थिः । स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ॥९२॥

भूमिका—"उपसंपद्ये साम्यं यतो निर्वाणसंप्राप्तिः" इस प्रकार (पांचवीं गाथा में) प्रतिज्ञा करके, 'चारित्रं खलु धर्मः' धर्मः यः 'तत् साम्यं इति निर्दिष्टं' इस प्रकार (सातवी गाथा मे) साम्य के धर्म-पनेको निश्चित करके, 'परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयं इति प्रज्ञप्तं तस्मात् धर्मपरिणत आत्मा धर्मः मन्तव्यः" इस प्रकार (आठवी गाथा में) जो आत्मा का धर्मत्व कहना प्रारम्भ किया और जिसकी सिद्धि के लिये "धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः प्राप्नोति निर्वाणसुखं" इस प्रकार (ग्यारहवीं गाथा मे) निर्वाण सुख का साधन शुद्धोपयोग कथन करने के लिये प्रारम्भ किया, विरोधी शुभ अशुभ उपयोगों को नष्ट किया (हेय बताया), शुद्धोपयोग के स्वरूप को (चौदहवीं गाथा मे) वर्णन किया, उस (शुद्धोपयोग) के प्रसाद से उत्पन्न होने वाले आत्मा के सहज ज्ञान और आनन्द को समझाते हुये ज्ञान के स्वरूप का (गाथा २१ से ५२ तक) और सुख के स्वरूप का (गाथा ५३ से ६८ तक) विस्तार किया, उसको (आत्मा के धर्मत्व को) अब किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग के प्रसाद से (गाथा ७८ से ९१ तक) सिद्ध करके, परम निःस्पृह आत्मतृप्त पारमेश्वरी प्रवृत्ति को प्राप्त होते हुये कृतकृत्यता को प्राप्त करके अत्यन्त अनाकुल होकर, जिनके भेदवासना (विकल्प परिणाम) की प्रगटता का प्रलय हुआ है ऐसे होते हुए ठहरते है । अब (आचार्य देव) मै स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ" इस प्रकार रहते है (ऐसे भाव में निश्चल-स्थिर होते है)—

अन्वयार्थ—[य.] जो [निहतमोहदृष्टि.] जिसकी मोहदृष्टि नष्ट हो गई है (सम्यग्दृष्टि है) [आगम-कुशलः] आगम मे कुशल है (सम्यग्ज्ञानी है) और [विरागचरिते अभ्युत्थित.] जो वीतरागचारित्र मे आरूढ है, [महात्मा श्रमण] (वह) महात्मा श्रमण [धर्म इति विशेषित] "धर्म" इस नाम से विशेषित किया गया है। अर्थात् वह धर्म ही है।

टीका—**जो यह आत्मा स्वयं धर्म होता है, वह वास्तव मे मनोरथ ही है। उसके (आत्मा के या मनोरथ के) तो विघ्न डालने वाली एक (मात्र) बहिर्मोहदृष्टि (बहिर्मुख मोहदृष्टि) ही है, और वह (मोह-दृष्टि) आगम–कौशल्य (आगम में कुशलता) से तथा आत्मज्ञान से नष्ट हो चुकी है। इसलिये अब वह मेरे पुन. उत्पन्न नहीं होगी। इसलिये वीतरागचारित्र रूप से प्रगटता को प्राप्त (वीतरागचारित्ररूप पर्याय में परिणत) मेरा यह आत्मा, स्वयं धर्म होकर, समस्त विघ्नों का नाश हो जाने से, सदा निष्कम्प ही रहता है। अधिक विस्तार से बस हो। जयवन्त वर्तो स्याद्वाद मुद्रित जैनेन्द्र-शब्द-ब्रह्म और जयवन्त वर्तो शब्द-ब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वोपलब्धि, कि जिसके प्रसाद से अनादि संसार से बंधी हुई मोहग्रन्थि तत्काल ही छूट गई है। और जयवन्त वर्तो परम वीतरागचारित्र स्वरूप शुद्धोपयोग, कि जिसके प्रसाद से यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है ॥९२॥**

कलश (मन्दाक्राता छन्द)

आत्मा धर्म· स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं,
नित्यानन्दप्रसरसरसज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां,
स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥५॥

अन्वय—**इति शुद्धोपयोगं प्राप्य आत्मा स्वयं धर्मः भवन् नित्यानन्दप्रसरसन्संज्ञानतत्त्वे उच्चैः अविचलतया स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलसद्रत्नदीपस्य निःप्रकम्पप्रकाशां लक्ष्मी प्राप्स्यति।**

अन्वयार्थ—[इति] इस प्रकार [शुद्धोपयोग] शुद्धोपयोग को [प्राप्य] प्राप्त करके [आत्मा] आत्मा [स्वय] स्वय [धर्म. भवन्] धर्म होता हुआ [अर्थात् स्वय धर्मरूप परिणत होता हुआ] [नित्यानन्दप्रसरसरस ज्ञानतत्त्वे] नित्य आनन्द के प्रसार से सरस (शाश्वत आनन्द के प्रसार से रस-युक्त) ज्ञान तत्त्व मे (लीन होकर) [उच्चै. अविचलतया] अत्यन्त अविचलता के कारण [स्फूर्जज्ज्योति.-सहजविलसद्रत्नदीपस्य] दैदीप्यमान और

सहजरूप से विलसित (स्वभाव से ही प्रकाशित) रत्नदीपक की [निःकप-प्रकाशा] निष्कप-प्रकाशमय [लक्ष्मी] शोभा को [प्राप्स्यति] पाता है (अर्थात् रत्नदीपक की भाँति स्वभाव से ही निष्कपतया अत्यन्त प्रकाशित होता जानता रहता है)।

निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्व यथावत् तत्सिद्धचर्थं प्रशमविषय ज्ञेयतत्त्व बुभुत्सुः।
सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या प्रादुर्भूतिर्न भवति यथा जातु मोहांकुरस्य ॥६॥

अन्वय—**आत्मनि अधिकृतं ज्ञानतत्त्वं इति यथावत् निश्चित्य तत्सिद्धचर्थ प्रशम-विषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वान् अर्थान् द्रव्यगुणपर्याययुक्त्या यथा कलयति येन मोहांकुरस्य जातु प्रादुर्भूतिः न भवति।**

अन्वयार्थ—[आत्मनि अधिकृत] आत्मारूपी अधिकरण (आश्रय) मे रहने वाले ज्ञान तत्व को [इति] इस प्रकार [यथावत् निश्चित्य] यथार्थतया निश्चय करके, [तत्सिद्धचर्थ] उसकी सिद्धि के लिये (केवलज्ञान प्रगट करने के लिये) [प्रशमविषय] प्रशम के लक्ष्य से (उपशम प्राप्त करने के हेतु से) [ज्ञेयतत्त्व बुभुत्सु] ज्ञेय तत्त्व को जानने का इच्छुक जीव [सर्वान् अर्थान्] सब पदार्थो को [द्रव्यगुणपर्याययुक्त्या] द्रव्य-गुण-पर्याय सहित [यथा] इस प्रकार से [कलयति] जानता है [येन] (कि) जिससे [मोहाकुरस्य] मोहाकुर की [जातु] कभी किंचित् मात्र भी [प्रादुर्भूति. न भवति] उत्पत्ति नही होती।

प्रवचनसार श्री अमृतचन्द्र सूरि विरचित तत्त्वदीपिका नामक टीका सहित ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ "**उपसंपयामि सम्मं**" इत्यादि नमस्कारगाथाया यत्प्रतिज्ञात, तदनन्तर "**चारित्त खलु धम्मो**" इत्यादिसूत्रेण चारित्रस्य धर्मत्व व्यवस्थापित, अथ "**परिणमदि जेण दव्वं**" इत्यादिसूत्रेणात्मनो धर्मत्व भणितमित्यादि। तत्सर्व शुद्धोपयोगप्रसादात्प्रसाध्येदानी निश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मैव धर्म इत्यवतिष्ठते। अथवा द्वितीयपातनिकासम्यक्त्वाभावे श्रमणो न भवति तस्मात् श्रमणाद्धर्मोपि न भवति, तर्हि कथ श्रमणो भवति ? इति पृष्टे प्रत्युत्तर प्रयच्छन् ज्ञानाधिकारमुपसहरति—

जो णिहदमोहदिट्ठी तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वोत्पन्नेन निजशुद्धात्मरुचिरूपेण निश्चयसम्यक्त्वेन परिणतत्वान्निहतमोहदृष्टिर्विध्वसितदर्शनमोहो य। पुनश्च किं रूप: ? **आगमकुसलो** निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपरमागमाभ्यासेन निरुपाधिस्वसवेदनज्ञानकुशलत्वादागमकुशल आगमप्रवीण.। पुनश्च कि रूप. ? **विरागचरियम्हि अब्भुट्ठिदो** व्रतसमितिगुप्त्यादिबहिरङ्गचारित्रानुष्ठानवशेन स्वशुद्धात्मनि निश्चलपरिणतिरूपवीतरागचारित्रपरिणतत्वात् परमवीतरागचारित्रे सम्यगभ्युत्थित उद्यत। पुनरपि कथभूत. ? **महप्पा** मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा **धम्मोत्ति विसेसिदो समणो** जीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनापरिणतात्मा स श्रमण एवाभेदनयेन धर्म इति विशेषितो मोहक्षोभविहीनात्मपरिणामरूपो निश्चयधर्मो भणित इत्यर्थ ॥९२॥

उत्थानिका—आगे आचार्य महाराज ने पहली नमस्कार की गाथा मे "उवसपयामि सम्म" आदि मे जो प्रतिज्ञा की थी। उसके पीछे "चारित्त खलु धम्मो" इत्यादि सूत्र से

चारित्र के धर्मपना व्यवस्थापित किया था तथा "परिणमदि जेण दव्वं" इत्यादि सूत्र से आत्मा के धर्मपना कहा था इत्यादि सो सब शुद्धोपयोग के प्रसाद से साधने योग्य है। अव यह कहते है कि निश्चयरत्नत्रय मे परिणमन करता हुआ आत्मा ही धर्म है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि सम्यक्त्व के बिना मुनि नही होता है ऐसे मिथ्यादृष्टि श्रमण से धर्म सिद्ध नही होता है, तब फिर किस तरह श्रमण होता है ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हुए इस ज्ञानाधिकार को सकोच करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो समणो) जो साधु (णिहदमोहदिट्ठी) तत्वार्थ श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा उत्पन्न निश्चयसम्यग्दर्शन में परिणमन करने से दर्शनमोह को नाश कर चुका है, (आगमकुसलो) निर्दोष परमात्मा से कहे हुए परमागम के अभ्यास से उपाधि रहित स्वसवेदनज्ञान की चतुराई से आगमज्ञान में प्रवीण है, (विरागचरियम्हि अब्भुट्ठिदो) व्रत, समिति, गुप्ति आदि बाहरी चारित्र के साधन के वश से अपने शुद्धात्मा में निश्चल परिणमन रूप वीतरागचारित्र मे वर्तने के द्वारा परम वीतरागचारित्र मे भले प्रकार उद्यमी है तथा (महप्पा) मोक्ष रूप महा पुरुषार्थ को साधने के कारण महात्मा है वही (धम्मो त्ति विसेसिदो) जीना, मरना, लाभ, अलाभ आदि में समता की भावना मे परिणमन करने वाला श्रमण ही अभेदनय से मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणामरूप निश्चयधर्म कहा गया है ॥९२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथैवभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतमहातपोधनस्य योऽसौ भक्ति करोति तस्य फल दर्शयति—

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणणमसणादिहि तत्तो सो धम्ममादियदि ॥९२-१॥

जो तं दिठ्ठा तुट्ठो यो भव्यवरपुण्डरीको निरुपरागशुद्धात्मोपलम्भलक्षणनिश्चयधर्मपरिणत पूर्वसूत्रोक्त मुनीश्वरं दृष्ट्वा तुष्टो निर्भरगुणानुरागेण सतुष्टः सन्। किं करोति ? **अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कार** अभ्युत्थान कृत्वा मोक्षसाधकसम्यक्त्वादिगुणाना सत्कारं प्रशसा करोति **वंदणणमसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि** "तवसिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि वदना भण्यते, नमोस्त्विति नमस्कारो भण्यते, तत्प्रभृतिभक्तिविशेषै' तस्माद्यतिवरात्स भव्यः पुण्यमादत्ते पुण्य गृह्णाति इत्यर्थ ॥९२-१॥

उत्थानिका—आगे ऐसे निश्चयरत्नत्रय मे परिणमन करने वाले महामुनि की जो कोई भक्ति करता है उसके फल को दिखाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो तं दिट्ठा तुट्ठो) जो कोई भव्यों मे प्रधान वीतराग शुद्धात्मा के अनुभवरूप निश्चयधर्म में परिणामने वाले सूत्र में कहे हुए मुनीश्वर को देखकर पूर्ण गुणों में अनुरागभाव से संतोषी होता हुआ (अब्भुट्ठित्ता) उठकर (वंदणणमंसणादिहिं सक्कारं करेदि) "तव सिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि वदना तथा "नमोस्तु" रूप नमस्कार इत्यादि भक्ति विशेषों के द्वारा सत्कार या प्रशंसा करता है (सो तत्तो धम्ममादियदि) सो भव्य उस यतिवर के निमित्त से धर्म प्राप्त करता है ॥९२।१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तेन पुण्येन भवान्तरे कि फल भवतीति प्रतिपादयति—

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसि गदिं पय्या।
विहविस्सरियेहिं सया सपुण्णमणोरहा होंति ॥६२-२॥

तेण णरा व तिरिच्छा तेन पूर्वोक्तपुण्येनात्र वर्तमानभवे नरा वा तिर्यञ्चो वा **देविं वा माणुसि गदि पय्या** भवान्तरे देवी वा मानुषी वा गति प्राप्य **विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति** राजाधिराजरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रादिपरिपूर्णविभूतिर्विभवो भण्यते, आज्ञाफलमैश्वर्य भण्यते, ताभ्या विभवैश्वर्याभ्यां सपूर्णमनोरथा भवन्तीति । तदेव पुण्य भोगादिनिदानरहितत्वेन यदि सम्यक्त्वपूर्वक भवति तर्हि तेन परम्परया मोक्ष लभन्त इति भावार्थः ॥६२-२॥

इति श्रीजयसेनाचार्य कृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तप्रकारेण "एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं" इतीमा गाथामादि कृत्वा द्वासप्ततिगाथाभिः शुद्धोपयोगाधिकार, तदनन्तर "देवजदिगुरुपूजासु" इत्यादि पञ्चविशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः ततश्च "सत्तासंबंधे" इत्यादि सम्यक्त्वकथनरूपेण प्रथमा गाथा, रत्नत्रयाधारपुरुषस्य धर्म सम्भवतीति "जो णिहदमोह-दिट्ठी" इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्, तस्य निश्चयधर्मसज्ञतपोधनस्य योऽसौ भक्ति करोति तत्फलकथनेन "जो तं दिट्ठा" इत्यादि गाथाद्वयम् । इत्यधिकार—द्वयेन पृथग्भूतगाथाचतुष्टयसहिते-नैकोत्तरशतगाथाभि—र्ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक-नामा प्रथमो महाधिकार. समाप्तः ॥१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि उस पुण्य से परभव मे क्या फल होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तेण) उस पूर्व में कहे हुए पुण्य से (णरा वा तिरिच्छा) वर्तमान के मनुष्य या तिर्यंच (देविं वा माणुसि गदि पय्या) मरकर अन्यभव मे देव या मनुष्य की गति को पाकर (विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति) राजा-धिराज-सम्बन्धी रूप, सुन्दरता, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदि से पूर्ण विभूति तथा आज्ञारूप ऐश्वर्य से सफल मनोरथ होते है। वही पुण्य यदि भोगों के निदान विना सम्यक्दर्शन पूर्वक होता है तो उस पुण्य से परम्परा मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह भावार्थ है ॥६२।२॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य-वृत्ति टीका मे पूर्व में कहे प्रमाण "एस सुरासुरमणुसिंदवदियं" इस गाथा को आदि लेकर ७२ (बहत्तर) गाथाओं में शुद्धोपयोग का अधिकार है, फिर "देवदजदि गुरु पूजासु" इत्यादि पच्चीस गाथाओं से ज्ञानकंठिका चतुष्टय नाम का दूसरा अधिकार है फिर "सत्तासंबद्धेदे" इत्यादि सम्यक्दर्शन का कथन करते हुए प्रथम गाथा, तथा रत्नत्रय के धारी पुरुष के ही धर्म सम्भव है, ऐसा कहते हुए "जो णिहद-मोहदिट्ठी' इत्यादि दूसरी गाथा है, इस तरह दो स्वतन्त्र गाथाएं है। उस निश्चयधर्म-धारी तपस्वी की जो कोई भक्ति करता है उसका फल कहते हुए "जो तं दिट्ठा" इस तरह दो अधिकारों से व पृथक् चार गाथाओ से, सब एक-सौ-एक गाथाओं से यह ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक नामक प्रथम अधिकार समाप्त।

卐

ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन

२

अथ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनं, तत्र पदार्थस्य सम्यग्द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥९३॥

अर्थ खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि ।
तैस्तु पुन. पर्याया पर्ययमूढा हि परसमयाः ॥९३॥

इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमय· । द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वाद्गुणात्मकानि । पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि । तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्याय । स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च । तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि । गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः । सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च । तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः, विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः । अथेदं दृष्टान्तेन द्रढयति—यथैव हि सर्व एव पटोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन चाभिनिर्वर्त्यमानस्तन्मय एव, तथैव हि सर्व एव पदार्थोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन च द्रव्यनाम्नाभिनिर्वर्त्यमानो द्रव्यमय एव । यथैव च पटेऽवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव । तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्य पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव । तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव ।

यथैव चानेकपटात्मको द्विपटिका त्रिपटिकेति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव चानेककौशेयककार्पाससमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव च क्वचित्पटे स्थूलात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण कालक्रमवृत्तेन नानाविधेन परिणमन्नानात्वप्रतिपत्तिर्गुणात्मकः स्वभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु सूक्ष्मात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः गुणात्मकः स्वभावपर्यायः। यथैव च पटे रूपादीनां स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मकोविभावपर्यायः इयं हि सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा। यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भवन्ति ॥९३॥

भूमिका—अब ज्ञेयतत्त्व का प्रज्ञापन करते है, अर्थात् ज्ञेयतत्त्व बतलाते है। उसमें (प्रथम ही) पदार्थ के द्रव्यगुणपर्याय के सम्यक् (यथार्थ) स्वरूप का वर्णन करते है:—

अन्वयार्थ—[अर्थः खलु] पदार्थ वास्तव मे [द्रव्यमयः] द्रव्यस्वरूप है, [द्रव्याणि] द्रव्य [गुणात्मकानि] गुणात्मक [भणितानि] कहे गये है, [तैः तु पुनः] और द्रव्य तथा गुणो से [पर्यायाः] पर्याय होती है। [पर्यायमूढाः हि] पर्यायमूढ जीव [परसमयाः] परसमय [मिथ्यादृष्टि) है।

टीका—इस विश्व में वास्तव में जो कोई जानने में आने वाला पदार्थ है, वह समस्त ही विस्तारसामान्यसमुदायात्मक (गुणात्मक अर्थात् गुणो का समूह) और आयतसामान्यसमुदायात्मक (क्रमभावी पर्यायात्मक-पर्यायों का समूह) द्रव्य से रचित होने से द्रव्यमय है अर्थात् द्रव्य है और द्रव्य एक जिनका आश्रय है ऐसे विस्तार विशेष स्वरूप गुणों से रचित होने से, गुणात्मक है।

पर्यायें जो कि आयतविशेष स्वरूप है, जिनके लक्षण (ऊपर) कहे गये है ऐसे द्रव्यों से, तथा जिनके लक्षण ऊपर कहे गये ऐसे गुणों से रचित होने से—द्रव्यात्मक भी है तथा गुणात्मक भी है। उनमे, अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की (ज्ञान कराने की) कारणभूत द्रव्यपर्याय है। वह दो प्रकार है। (१) समानजातीय (२) असमानजातीय।

उसमे (१) समानजातीय वह है,—जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्वयणुक त्र्यणुक इत्यादि (२) असमानजातीय वह है, जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि। गुण द्वारा आयतरूप अनेकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत गुणपर्याय है। वह भी दो प्रकार है। (१) स्वभावप्रर्याय, (२) विभावपर्याय। उसमे, समस्त द्रव्यों के अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानि—वृद्धि रूप अनेकतत्व की अनुभूति स्वभावपर्याय है, रूपादि के या ज्ञानादि के स्व पर के कारण *प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य के कारण देखने मे आने वाले स्वभाव विशेषरूप अनेकत्व से आ पड़ने वाली विभावपर्याय है।

अब यह (पूर्वोक्त) कथन को दृष्टान्त से दृढ़ करते है जैसे सम्पूर्ण पट अवस्थायी (स्थिर) विस्तार सामान्य समुदाय से (चौड़ाई से) और दौड़ते (बहते, प्रवाह रूप काल-क्रम से चलते हुये) आयत सामान्य समुदाय से (लम्बाई से) रचित होता हुआ तन्मय ही है, इसी प्रकार सब ही पदार्थ 'द्रव्य' नामक अवस्थायी विस्तार सामान्य समुदाय से और दौड़ते हुये आयत सामान्य समुदाय से रचित होता हुआ द्रव्यमय ही है। और जैसे पट में, अवस्थायी विस्तार सामान्य समुदाय या दौड़ते हुये आयत सामान्यसमुदाय (रूप पट) गुणो से रचित होता हुआ गुणों से पृथक् नही प्राप्त होने से गुणात्मक ही है, उसही प्रकार से पदार्थो मे, अवस्थायी विस्तार सामान्य समुदाय या दौड़ता हुआ आयत सामान्य समुदाय जिसका नाम 'द्रव्य' है वह—गुणों से रचित होता हुआ गुणों से पृथक् नही प्राप्त होने से गुणात्मक ही है। और जैसे अनेक पटात्मक (एक से अधिक वस्त्रों से निर्मित) द्विपटिक, +त्रिपटिक समानजातीय द्रव्य-पर्याय है, उसी प्रकार अनेक पुद्गलात्मक द्वि-अणुक, त्रिअणुक आदि समानजातीय द्रव्यपर्याय है और जैसे अनेक रेशमी और सूती पटों के बने हुए द्विपटिक, त्रिपटिक ऐसी असमानजातीय द्रव्यपर्याय है, उसी प्रकार अनेक जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य ऐसी असमानजातीय द्रव्य पर्याय है। जैसे कभी पट में अपने स्थूल अगुरुलघुगुण द्वारा कालक्रम से प्रवर्तमान अनेक प्रकार रूप से परिणमित होने के कारण अनेकत्व की प्रतिपत्ति रूप गुणात्मक स्वभावपर्याय है। उसी प्रकार समस्त द्रव्यो में अपने

---

*—स्व उपादान और पर निमित्त है। + —द्विपटिक-दो थानो को जोडकर (सीकर) बनाया गया एक वस्त्र (यदि दोनो थान एक ही जाति के हो तो समानजातीय द्रव्यपर्याय कहलाता है, और यदि दो था भिन्न जाति के हो(जैसे एक रेशमी और दूसरा सूती) तो असमान जातीय द्रव्यप्रर्याय कहलाता है।

अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति रूप (नाना-पनका ज्ञान कराने वाली) गुणात्मक स्वभावपर्याय है, और जैसे पट में स्व-पर के कारण रूपादिक के प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य से दिखलाये हुये स्वभाव विशेष अनेकपने से आ पड़ने रूप गुणात्मक विभावपर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्यों मे रूपादि के या ज्ञानादि के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य से दिखलाये हुये स्वभाव विशेष से अनेकपने से आ पड़ने रूप गुणात्मक विभाव-पर्याय है। वास्तव मे यह सर्व पदार्थो के द्रव्यगुण पर्याय स्वभाव की प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था भली उत्तम-पूर्ण-योग्य है, अन्य कोई नहीं, क्योंकि बहुत से (जीव) पर्याय मात्र ही अवलम्बन करके तत्त्व की अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे मोह को प्राप्त होते हुए परसमय (मिथ्या-दृष्टि) होते है ॥६३॥

तात्पर्यवृत्ति

इत ऊर्ध्व "सत्तासबद्धे दे" इत्यादि गाथासूत्रेण पूर्व सक्षेपेण यद्वचाख्यात सम्यग्दर्शन तस्येदानी विषयभूतपदार्थव्याख्यानद्वारेण त्रयोदशाधिकशतप्रमितगाथापर्यन्त विस्तरव्याख्यान करोति। अथवा द्वितीयपातनिका—पूर्व यद्वचाख्यात ज्ञान तस्य ज्ञेयभूतपदार्थान् कथयति। तत्र त्रयोदशाधिकशतगाथासु मध्ये प्रथमस्तावत् "तम्हा तस्स णमाइं" इमा गाथामादि कृत्वा पाठक्रमेण पञ्चत्रिंशद्गाथापर्यन्त सामान्यज्ञेयव्याख्यान, तदनन्तर "दव्व जीवमजीव" इत्याद्येकोनविशतिगाथापर्यन्त विशेषज्ञेयव्याख्यान, अथानन्तर "सपदेसेहिं समग्गो लोगो" इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्त सामान्यभेदभावना, ततश्च "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्याद्येकपञ्चाशद्गाथापर्यन्त विशेषभेदभावना चेति, द्वितीयमहाधिकारे समुदायपातनिका।

अथेदानी सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये प्रथमा नमस्कारगाथा, द्वितीया द्रव्यगुणपर्यायव्याख्यानगाथा, तृतीया स्वसमयपरसमयनिरूपणाथा, चतुर्थी द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनगाथा चेति पीठिकाभिधाने प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाचतुष्टय। तदनन्तर 'सब्भावो हि सहावो" इत्यादिगाथाचतुष्टयपर्यन्त सत्तालक्षणव्याख्यानमुख्यत्व, तदनन्तर "ण भवो भगविहिणो" इत्यादिगाथात्रयपर्यन्तमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणकथनमुख्यता, ततश्च "पाडुब्भवदि य अण्णो" इत्यादि गाथाद्वयेन द्रव्यपर्याय—निरूपणमुख्यता। अथानन्तर "ण हवदि जदि सद्दव्व" इत्यादि गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्ति कथयति, तदनन्तर 'जो खलु दव्वसहावो' इत्यादि सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथम गाथा, द्रव्येण सह गुणपर्याययोरभेदमुख्यत्वेन 'णत्थि गुणोत्ति य कोई' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वय, तदनन्तर द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकनयेन सदुत्पादो भवति, पर्यायार्थिकनयेनासदित्यादिकथनरूपेण 'एवविह' इतिप्रभृति गाथाचतुष्टय, ततश्च 'अत्थित्ति य' इत्याद्येकसूत्रेण नयसप्तभङ्गीव्याख्यानमिति समुदायेन चतुर्विशतिगाथाभिरष्टभि. स्थलैर्द्रव्यनिर्णय करोति। तद्यथा—अथ सम्यक्त्व कथयति—

तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चंपि तम्मणो होज्ज ।
वोच्छामि सगहादो परमट्ठविणिच्छ्याधिगमं ॥

तम्हा तस्स णमाइ किच्चा यस्मात्सम्यक्त्व विना श्रमणो न भवति तस्मात्कारणात्तस्य सम्यक्चारित्रयुक्तस्य पूर्वोक्ततपोधनस्य नमस्या नमस्क्रिया नमस्कार कृत्वा **णिच्च पि तम्मणो होज्ज** नित्यमपि तद्गतमना भूत्वा **वोच्छामि** वक्ष्याम्यह् कर्ता **सगहादो** सग्रहात्सक्षेपात्सकाशात् । कि ? **परमट्ठविणिच्छयाधिगम** परमार्थविनिश्चयाधिगम सम्यक्त्वमिति परमार्थविनिश्चयाधिगमशब्देन सम्यक्त्व कथ भण्यत इति चेत्—परमोऽर्थ· परमार्थः शुद्धबुद्धैकस्वभाव. परमात्मा, परमार्थस्य विशेपेण सशयादिरहितत्वेन निश्चय परमार्थनिश्चियरूपोऽधिगम शङ्काद्यष्टदोषरहितश्च य परमार्थतोऽर्थावबोधो यस्मात्सम्यक्त्वात्तत् परमार्थविनिश्चयाधिगम । अथवा परमार्थविनिश्चयोऽनेकान्तात्मकपदार्थ समूहस्तस्याधिगमो यस्मादिति ।

अथ पदार्थस्य द्रव्यगुणपर्यायस्वरूप निरूपयति—

अत्थो खलु दव्वमओ अर्थो ज्ञानविषयभूतः पदार्थ खलु स्फुट द्रव्यमयो भवति । कस्मात् ? तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्यलक्षणेन द्रव्येण निष्पन्नत्वात् । तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्यलक्षण कथ्यते—एककाले नानाव्यक्तिगतोऽन्वयस्तिर्यक्सामान्य भण्यते, तत्र दृष्टान्तो यथा—नानासिद्धजीवेषु सिद्धोऽयमित्यनुगताकारः सिद्धजातिप्रत्यय. । नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतोऽन्वय उर्ध्वतासामान्य भण्यते । तत्र दृष्टान्त. यथा—य एव केवलज्ञानोत्पत्तिक्षणे मुक्तात्मा द्वितीयादिक्षणेष्वपि स एवेतिप्रतीतिः, अथवा नाना गोशरीरेषु गौरय गौरयमिति गोजातिप्रतीतिस्तिर्यक्सामान्य । यथैव चैकस्मिन् पुरुषे बालकुमाराद्यवस्थासु स एवाय देवदत्त इतिप्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्यम् ।

दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि, अन्वयिनो गुणा अथवा सहभुवो गुणा इति गुणलक्षणं । यथा अनन्तज्ञानसुखादिविशेषगुणेभ्यस्तथैवागुरुलघुकादिसामान्यगुणेभ्यश्चाभिन्नत्वाद्गुणात्मक भवति सिद्धजीवद्रव्य, तथैव स्वकीयविशेषसामान्यगुणेभ्य. सकाशादभिन्नत्वात् सर्वद्रव्याणि गुणात्मकानि भवन्ति । **तेहि पुणो पज्जाया** तै. पूर्वोक्तलक्षणैर्द्रव्यगुणैश्च पर्याया भवन्ति, व्यतिरेकिणः पर्याया, अथवा क्रमभुव· पर्याया इति पर्यायलक्षण । यथैकस्मिन् मुक्तात्मद्रव्ये किञ्चिदूनचरमशरीराकारगतिमार्गणाविलक्षण सिद्धगतिपर्याय तथागुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपाः साधारणस्वभावगुणपर्यायाश्च, तथा सर्वद्रव्येषु स्वभावद्रव्यपर्यायाः स्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाश्च, तथैव स्वभावविभावगुणपर्यायाश्च **"जेसि अत्थसहाओ"** इत्यादिगाथाया, तथैव "भावा जीवादीया" इत्यादिगाथाया च पञ्चास्तिकाये पूर्व कथितक्रमेण यथासभव ज्ञातव्या. **पज्जयमूढा हि परसमया** यस्मादित्थभूतद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानमूढा अथवा नरकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति । तस्मादियं पारमेश्वरी द्रव्यगुणपर्यायव्याख्या समीचीना भद्रा भवतीत्यभिप्राय. ॥९३॥

पूर्व पीठिका—आगे इस द्वितीय अधिकार की सूची लिखते है—

इसके आगे "सत्ता सबद्धेदे" इत्यादि गाथा सूत्र से जो पूर्व मे सक्षेप से सम्यग्दर्शन का व्याख्यान किया था, उसी को यहाँ विषयभूत पदार्थो के व्याख्यान के द्वारा एकसौ तेरह गाथाओ मे विस्तार से व्याख्यान करते है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि पूर्व मे जिस ज्ञान का व्याख्यान किया था उसी ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थो को अब कहते है। यहा इन एकसौ तेरह गाथाओ के मध्य मे पहले ही "तम्हा तस्स णमाइ" इस गाथा को आदि लेकर पाठ के क्रम से पैतीस गाथाओ तक सामान्य ज्ञेय पदार्थ का व्याख्यान है। उसके पीछे "दव्व जीवमजीव" इत्यादि उन्नीस गाथाओ तक विशेष ज्ञेय पदार्थ का व्याख्यान है। उसके पीछे "सपदेसेहि समग्गो लोगो" इत्यादि आठ गाथाओ तक सामान्य भेद की भावना है फिर "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्यादि इक्यावन गाथाओ तक विशेष भेद की भावना है। इस तरह इस दूसरे अधिकार मे समुदाय पातनिका है।

अब यहाँ सामान्य ज्ञेय के व्याख्यान मे पहले ही नमस्कार गाथा है फिर द्रव्य गुण पर्याय की व्याख्यान गाथा है। तीसरी स्वसमय परसमय को कहने वाली गाथा है। चौथी द्रव्य की सत्ता आदि तीन लक्षणो को सूचना करने वाली गाथा है, इस तरह पीठिका नाम के पहले स्थल मे स्वतन्त्र रूप से गाथाये चार है। उसके पीछे "सब्भावो हि सहावो" इत्यादि चार गाथाओ तक सत्ता के लक्षण के व्याख्यान की मुख्यता है फिर "ण भवो भगविहीणो" इत्यादि तीन गाथाओ तक उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण के कथन की मुख्यता है फिर "पाडुब्भवदि य अण्णो" इत्यादि दो गाथाओ से द्रव्य की पर्याय के निरूपण की मुख्यता है। फिर "ण हवदि जदि सद्दव्व" इत्यादि चार गाथाओ से सत्ता और द्रव्य का अभेद है इस सम्बन्ध मे युक्ति को कहते है। फिर "जो खलु दव्वसहाओ" इत्यादि सत्ता और द्रव्य मे गुण गुणी सम्बन्ध है ऐसा कहते हुए पहली गाथा, द्रव्य के साथ गुण और पर्यायो का अभेद है इस मुख्यता से "णत्थि गुणोत्ति य कोई" इत्यादि दूसरी ऐसी दो स्वतन्त्र गाथाए है। फिर द्रव्य का द्रव्यार्थिकनय से सत् का उत्पाद होता है इत्यादि कथन करते हुए "एव विह" इत्यादि गाथाए चार है। फिर "अत्थित्ति य" इत्यादि एक सूत्र मे सप्तभंगी का व्याख्यान है। इस तरह समुदाय मे चौवीस गाथाओ मे और आठ स्थलो मे द्रव्य का निर्णय करते है।

अब आगे सम्यक्त्व को कहते है—

क्योकि सम्यग्दर्शन के बिना साधु नही होता है (तम्हा) इस कारण से (तस्स) उस सम्यक्त्व सहित सम्यक्चारित्र से युक्त पूर्व मे कहे हुए साधु को (णमाइ किच्चा) नमस्कार करके (णिच्चति त मणो होज्ज) तथा नित्य ही उन साधुओ मे मन को धारण करके (परमट्ठविणिच्छयाधिगम) परमार्थ जो एक शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा है उसको विशेष करके सशय आदि से रहित निश्चय कराने वाले सम्यक्त्व को अर्थात् जिस सम्यक्त्व से शका आदि आठ दोष रहित वास्तव मे जो अर्थ का ज्ञान होता है उस सम्यक्त्व को अथवा अनेक धर्मरूप पदार्थ–समूह का अधिगम जिससे होता है ऐसे कथन को (सगहादो) सक्षेप से (वोच्छामि) कहूगा ।

उत्थानिका— आगे पदार्थ के द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप को कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(खलु) निश्चय से (अत्थो) ज्ञान का विषयभूत पदार्थ (दव्वमओ) द्रव्यमय होता है । क्योकि वह पदार्थ तिर्यक्–सामान्य तथा ऊर्ध्वता सामान्यमय द्रव्य से निष्पन्न होता है अर्थात् उसमे तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य रूप द्रव्य का लक्षण पाया जाता है । इन दो प्रकार के सामान्य का स्वरूप ऐसा है–एक ही समय मे नाना व्यक्तियों मे पाया जाने वाला जो अन्वय उसको तिर्यक् सामान्य कहते है । यहाँ यह दृष्टांत है कि जैसे नाना प्रकार सिद्ध जीवों मे यह सिद्ध है, ऐसा जोड़ रूप एक तरह के स्वभाव को रखने वाला सिद्धकी जाति का विश्वास है—इस एक जातिपने को तिर्यक् सामान्य कहते है तथा भिन्न-भिन्न समयों मे एक ही व्यक्ति का एक तरह का ज्ञान होना सो ऊर्ध्वता सामान्य कहा जाता है । यहाँ यह दृष्टांत है कि जैसे जो कोई केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय मुक्तात्मा है दूसरे तीसरे आदि समयों से भी वही है, ऐसी प्रतीति होना सो ऊर्ध्वता सामान्य है । अथवा दोनों सामान्य के दो दूसरे दृष्टांत है—जैसे नाना गौके शरीरों में यह गौ है, यह गौ है ऐसी गो–जाति की प्रतीति होना सो तिर्यक्सामान्य है । तथा जो कोई पुरुष बाल, कुमारादि अवस्थाओं मे था सो ही यह देवदत्त है, ऐसा विश्वास सो ऊर्ध्वता सामान्य है ।**

(दव्वाणि) द्रव्य सब (गुणप्पगाणि) गुणमयी (भणिदाणि) कहे गए है । जो द्रव्य के साथ अन्वयरूप रहे अर्थात् उसके साथ-साथ वर्तें वे गुण होते है–ऐसा गुण का लक्षण है । जैसे सिद्ध जीव द्रव्य है, सो अनन्तज्ञान सुख आदि विशेष गुणो से तथा अगुरुलघुक आदि सामान्यगुणो से अभिन्न है अर्थात् ये सामान्य विशेष गुण सिद्ध आत्मा के साथ

सदा पाए जाते है, तैसे ही सर्व द्रव्य अपने-अपने सामान्य विशेष गुणो से अभिन्न है, इसलिये सब द्रव्य गुणरूप होते है। (पुणो) तथा (तेहिं पज्जाया) उन्हीं पूर्व में कहे हुए लक्षण स्वरूप द्रव्य व गुणों से पर्याये होती है जो एक दूसरे से भिन्न अथवा क्रम-क्रम से हो, उनको पर्याय कहते है, यह पर्याय का लक्षण है। जैसे एक सिद्ध भगवान्‌रूपी द्रव्य में अन्तिम शरीर से कुछ कम आकारमयी, गति मार्गणा से विलक्षण सिद्धगति रूप पयाये, है तथा अगुरुलघु गुण में षट्‌गुणी वृद्धि तथा हानिरूप साधारण स्वाभाविक गुण पर्यायें, स्वजातीय विभाव द्रव्य पर्याये तैसे ही स्वाभाविक और वैभाविक गुण पर्याये होती है।" "जेसि अत्थिसहाओ" इत्यादि गाथा मे तथा "भावा जीवादीया" इत्यादि गाथा में श्री पंचास्तिकाय के भीतर पहले कथन किया गया है सो वहाँ से यथासम्भव जान लेना योग्य है। (पज्जय मूढा) जो इस प्रकार द्रव्य गुण पर्याय के ज्ञान से मूढ़ है अथवा मै नारकी आदि पर्यायरूप सर्वथा नही हूँ इस भेदविज्ञान को अथवा अनेकान्त को न समझकर अज्ञानी है वे (हि) वास्तव में (परसमया) परात्मवादी मिथ्यादृष्टी है। इसलिये यही जिनेन्द्र परमेश्वर की करी हुई समीचीन द्रव्यगुण पर्याय की व्याख्या कल्याणकारी है, यह अभिप्राय है ॥९३॥

अथानुषङ्गिकीमिमामेव स्वसमयपरसमयव्यवस्थां प्रतिष्ठाप्योपसंहरति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा [1]परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया [2]मुणेदव्वा ॥९४॥

ये पर्यायेषु निरता जीवाः परसमयिका इति निर्दिष्टाः।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया ज्ञातव्याः ॥९४॥

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसंभावनक्लीबास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्यहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्वहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगतत्वात्परसमया जायन्ते। ये तु पुनरसंकीर्णद्रव्यगुणपर्यायसुस्थितं भगवंतमात्मनः स्वभावं सकलविद्यानामेकमूलमुपगम्य यथोदितात्मस्वभावसंभावनसमर्थतया पर्यायमात्राशक्तिमत्यस्यात्मनः स्वभाव एव स्थितिमासूत्रयन्ति, ते खलु सहजविजृम्भितानेकान्तदृष्टिप्रक्षपितसमस्तैकान्तदृष्टिपरिग्रहग्रहा

---

१ परसमयिग त्ति। २ मुणेयव्वा (ज० वृ०)।

मनुष्यादिगतिषु तद्विग्रहेषु चाविहिताहङ्कारममकारा अनेकापवरकसंचारितरत्नप्रदीपमिवैकरूपमेवात्मानमुपलभमाना, अविचलितचेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रान्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासीन्यमवलबमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसगतितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते । अतः स्वसमय एवात्मनस्तत्त्वम् ॥९४॥

भूमिका—अब आनुषंगिक ऐसी यह ही स्वसमय-परसमय की व्यवस्था (भेद) निश्चित करके (उसका) उपसंहार करते है—

अन्वयार्थ—[ये जीवाः] जो जीव [पर्यायेषु निरताः] (विभाव) पर्यायो मे लीन है [परसमयिका' इति निर्दिष्टा.] उन्हे पर-समय कहा गया है [आत्मस्वभावे स्थिता] जो जीव आत्मस्वभाव मे स्थित है [ते] वे [स्वकसमयाः ज्ञातव्या.] स्व-समय जानने योग्य है ।

टीका—जो (१) जीव पुद्‌गलात्मक असमानजातीय द्रव्य पर्याय का, जो सकल अविद्याओं की (मिथ्या-ज्ञान की) एक जड़ है, आश्रय करते है (२) यथोक्त आत्म स्वभाव की संभावना (अनुभव) करने में नपुंसक है, (३) उस (पर्याय) मे ही आसक्ति को प्राप्त हैं, वे (१) जिनकी निरर्गल एकान्तदृष्टि उछलती है, (२) 'यह मै मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' इस प्रकार अहंकार-ममकार से ठगाये हुए, (३) अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्म व्यवहार से च्युत होकर, (४) जिसमें समस्त क्रिया-कलाप को छाती से लगाया जाता है ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय करके, (५) रागी-द्वेषी होते हुए, (६) परद्रव्यरूप कर्म के साथ सगति के कारण वास्तव में परसमय होते है (अर्थात् परसमयरूप परिणमित होते हैं ।)

जो, असंकीर्ण पर से भिन्न द्रव्य गुण-पर्यायों से सुस्थित भगवान् आत्मा के स्वभाव का, जो सकल विद्याओं का एक मूल है, आश्रय करके, यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना में (अनुभव में) समर्थ होने से, पर्यायमात्र की आसक्ति को छोड़ करके, आत्मा के स्वभाव में ही स्थिति करते है (लीन होते है), वे (१) जिन्होंने सहज विकसित अनेकान्तदृष्टि से समस्त एकान्तदृष्टि के परिग्रह के आग्रह प्रक्षीण (नष्ट) कर दिये है, (२) मनुष्यादि गतियो मे और उन गतियों के शरीरो मे अहंकार—ममकार न करके, अनेक कक्षों (कमरों) में संचारित रत्नदीपक की भांति एकरूप ही आत्मा को उपलब्ध (अनुभव) करते हुये, (३) अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्म व्यवहार को अंगीकार करके, (४) जिसमें समस्त

क्रिया-कलाप से भेट की जाती है ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय नहीं करते हुए, (५) राग-द्वेष की प्रगटता रुक जाने से, परम उदासीनता का आलंबन लेते हुये, (६) समस्त परद्रव्यों की संगति दूर कर देने से, मात्र स्वद्रव्य के साथ ही संगति होने से, वास्तव में स्वसमय होते है, अर्थात् स्वसमयरूप परिणमित होते है । इसलिये स्वसमय ही आतमा का तत्व है । परसमय के कथन मे जो बात जिस नम्बर पर कही गई है, स्वसमय के कथन में उसके सापेक्ष नम्बर पर ठीक उसके विपरीत बात दिखलाई गई है । इसी बात का ध्यान दिलाने के लिये भाषा टीका मे नम्बर डाले गये है ॥९४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्रसगायाता परसमयस्वसमयव्यवस्था कथयति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा ये पर्यायेषु निरता जीवा: **परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा** ते परसमया इति निर्दिष्टा कथिता । तथाहि मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहङ्कारो भण्यते, मनुष्यादिशरीर तच्छरीराधारोत्पन्नपञ्चेन्द्रियविषयसुखस्वरूप च ममेति ममकारो भण्यते, ताभ्या परिणता: ममकाराहकाररहितपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतेश्च्युता ये ते कर्मोदयजनितपरपर्यायनिरतत्वात्परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते **आदसहावम्मि ठिदा** ये पुनरात्मस्वरूपे स्थितास्ते **सगसमया मुणेयव्वा** स्वसमया मन्तव्या ज्ञातव्या इति । तद्यथा—अनेकापवरकसचारितैकरत्नप्रदीप इवानेकशरीरेष्वप्येकोहमिति दृढसस्कारेण निजशुद्धात्मनि स्थिता ये ते कर्मोदयजनितपर्यायपरिणतिरहितत्वात्स्वसमया भवन्तीत्यर्थ ॥४९॥

उत्थानिका—आगे यहाँ प्रसग पाकर परसमय और स्वसमय की व्यवस्था बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जे जीवा) जो जीव (पज्जयेसु णिरदा) पर्यायों में लवलीन है । अर्थात् जिनको पर्याय के अतिरिक्त द्रव्य सामान्य का बोध नहीं है (परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा) परसमयरूप कहे गए है । विस्तार यह है कि मै मनुष्य, पशु, देव, नारकी इत्यादि पर्याय रूप ही हूँ, इस भाव को अहंकार कहते है । यह मनुष्य आदि शरीर तथा उस शरीर के आधार से उत्पन्न पंचेन्द्रियों के विषय रूप सुख मेरे स्वभाव हैं इस भाव को ममकार कहते है । जो अज्ञानी ममकार और अहंकार से रहित परम चैतन्य चमत्कार की परिणति से अनभिज्ञ इन अहंकार ममकार भावो से परिणमन करते है, वे जीव कर्मो के उदय से उत्पन्न परपर्याय मे सर्वथा लीन होने के कारण से परसमय कहे जाते हैं । (आदसहावम्मि ठिदा) जो ज्ञानी अपने आत्मा के स्वभाव में ठहरे हुए है (ते सगसमया मुणेयव्वा) वे स्वसमयरूप जानने चाहिये । विस्तार यह है कि जैसे एक रत्न-दीपक अनेक प्रकार के घरो मे घुमाए जाने पर भी एक रत्न-रूप ही है, इसी तरह अनेक शरीरो मे

घूमते रहने पर भी मै एक वही आत्मद्रव्य हूँ, इस तरह दृढ़ संस्कार के द्वारा जो अपने शुद्धात्मा में ठहरते है वे कर्मो के उदय से होने वाली मनुष्य पर्याय में परिणति से रहित अर्थात् रागद्वेष न करते हुए स्वसमयरूप होते है, ऐसा अर्थ है ।।९४।।

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति—

[1]अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं[2] ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं[3] ति वुच्चंति ।।९५।।

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्धम् ।
गुणवच्च सपर्याय यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ।।९५।।

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम् । तत्र द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधं, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति । तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः। गुणा विस्तारविशेषाः ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः । अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः । पर्याया आयतविशेषाः, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः । न च तैरुत्पादादिभिर्गुणपर्यायैर्वा सह द्रव्यं लक्ष्यलक्षणभेदेऽपि स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथाविधत्वादुत्तरीयवत् । यथा खलुत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनांतरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा तदेव द्रव्यमप्युत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वपरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्वते । यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानम-

---

१ अपरिच्चत्तसहाव (ज० वृ०) । २ सजुत्त (ज० वृ०) । ३ दव्व त्ति (ज० वृ०) ।

वस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्येककालमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्या द्रव्यत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयं विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमपि विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमायतविशेषात्मकैः पर्यायवर्तिभिस्तन्तुभिर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्यायतविशेषात्मकैः पर्यायैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते ॥९५॥

भूमिका—अब द्रव्य का लक्षण बतलाते है—

अन्वयार्थ—[अपरित्यक्तस्वभावेन] स्वभाव को छोडे बिना [यत्] जो [उत्पादव्ययध्रुवत्वसम्बद्धम्] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है [च] तथा [गुणवत् सपर्यायं] गुणयुक्त और पर्यायसहित है, [तत्] उसे [द्रव्यम् इति] 'द्रव्य' ऐसा [ब्रुवन्ति] कहते है।

टीका—यहां (इस विश्व में) वास्तव में जो, स्वभावभेद किये बिना उत्पाद-व्यय ध्रौव्य त्रयसे और गुण पर्यायद्वय से लक्षित होता है, वह द्रव्य है। इनमें से (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य गुण और पर्याय में से) वास्तव में द्रव्य का स्वभाव अस्तित्वसामान्यरूपअन्वय[1] है, अस्तित्व को तो दो प्रकार का आगे कहेगे—१. स्वरूप अस्तित्व २. सादृश्य अस्तित्व। उत्पाद, प्रादुर्भाव (प्रगट होना–उत्पन्न होना) है, व्यय, प्रच्युति (नष्ट होना) है, ध्रौव्य, अवस्थिति (टिकना) है, गुण, विस्तार–विशेष है। वे सामान्य–विशेषात्मक[2] होने से दो प्रकार के है। इनमें, अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व भोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण है। अवगाह–हेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्त्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण है। पर्याय आयत, विशेष है। वे पूर्व ही (९३वीं गाथा की टीका में) कही गई चार प्रकार की है।

---

१ अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय है, ऐसा एकरूप भाव द्रव्य का स्वभाव है। अर्थात् विशेप–पर्यायो से निरपेक्ष धारावाही सामान्य स्वरूप। (अन्वय-एकरूपता, सादृश्यभाव)। २ जो गुण एक से अधिक द्रव्यो मे पाया जाय वह सामान्य है। जो मात्र एक ही द्रव्य मे पाया जाय वह विशेप है।

द्रव्य का उन उत्पादादि के साथ अथवा गुणपर्यायों के साथ लक्ष्य—लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है (सत्ता भेद नही है) स्वरूप से ही द्रव्य वैसा होने से (अर्थात् द्रव्य ही स्वयं उत्पादि रूप तथा गुणपर्यायरूप परिणमन करता है, इस कारण स्वरूप भेद नही है), वस्त्र के समान।

जैसे मलिन अवस्था को प्राप्त वस्त्र, धोने पर निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ उस उत्पादरूप लक्षित होता (देखा जाता) है, किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूप भेद (सत्ता भेद) नही है, स्वरूप से ही वैसा है (अर्थात् स्वयं उत्पादरूप से ही परिणत है), उसी प्रकार जिसने पूर्व अवस्था प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी—जो कि उचित बहिरंग साधनो के सान्निध्य के सद्भाव मे अनेक प्रकार की बहुत सी अवस्थाये करता है—अन्तरंगसाधनभूत[1] स्वरूपकर्त्ता और स्वरूपकरण के सामर्थ्यरूप स्वभाव से अनुगृहीत (सहित) हुआ अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, उत्पादरूप लक्षित होता (देखा जाता) है, किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूप भेद (सत्ता भेद) नही है, स्वरूप से ही वैसा है और जैसे वही वस्त्र निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ और मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूप भेद नही है, स्वरूप से ही वैसा है, उसी प्रकार वही द्रव्य भी उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूप से ही वैसा है और जैसे वही वस्त्र एक ही समय मे निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ और टिकने वाली वस्त्रत्व-अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है, परन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूप भेद नहीं है, स्वरूप से ही वैसा है, इसी प्रकार वही द्रव्य भी एक ही समय उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्था से व्यय होता हुआ, और टिकने वाली द्रव्यत्व अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है। किन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूप भेद नही है, वह स्वरूप से ही वैसा है और जैसे वही वस्त्र विस्तारविशेषस्वरूप (शुक्लत्वादि) गुणो से लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणों के साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूप से ही वैसा है, इसी प्रकार वही द्रव्य भी विस्तारविशेषस्वरूप गुणों से लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणो के साथ स्वरूप भेद नही है, वह

---

१ द्रव्य मे निज मे ही स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरण होने की सामर्थ्य है। यह सामर्थ्यस्वरूप स्वभाव ही अपने परिणमन मे (अवस्थान्तर करने मे) अन्तरग साधन है।

स्वरूप से ही वैसा है और जैसे वही वस्त्र आयतविशेषरूप पर्यायवर्ती (पर्यायस्थानीय) तंतुओं से लक्षित होता है, किन्तु उसका उन तंतुओं के साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूप से ही वैसा है। उसी प्रकार वही द्रव्य भी आयतविशेषस्वरूप पर्यायों से लक्षित होता है, परन्तु उसका उन पर्यायों के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है ॥९५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयं सूचयति—

अपरिच्चत्तसहाव अपरित्यक्तस्वभावमस्तित्वेन सहाभिन्न **उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं** उत्पादव्यय-ध्रौव्यै सह सयुक्त **गुणव च सपज्जाय** गुणवत्पर्यायसहित च **जं** यदित्थभूत सत्तादिलक्षणत्रयसयुक्त **त दव्वत्ति बुच्चति** त द्रव्यमिति ब्रुवन्ति सर्वज्ञ.।

इद द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह लक्ष्यलक्षणभेदे अपि सति सत्ताभेद न गच्छति। तर्हि कि करोति। स्वरूपतयैव तथाविधत्वमवलम्बते। कोऽर्थ । उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप गुणपर्यायरूप च परिणमति शुद्धात्मवदेव।

तथाहि—केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे शुद्धात्मरूपपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपकारणसमयसार-पर्यायस्य विनाशे सति शुद्धात्मोपलम्भव्यक्तिरूपकार्यसमयसारस्योत्पाद कारणसमयसारस्य व्ययस्त-दुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्य च। तथानन्तज्ञानादिगुणा., गतिमार्गणाविपक्षभूतसिद्धगतिः, इन्द्रियमार्गणाविपक्षभूतातीन्द्रियत्वादिलक्षणाः शुद्धपर्यायाश्च भवन्तीति। यथा शुद्धसत्तया सहाभिन्न परमात्मद्रव्य पूर्वोक्तोत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सति तै. सह सत्तादिभेद न करोति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथाविधत्व कोर्थः ? उत्पादव्ययध्रौव्य-गुणपर्यायस्वरूपेण परिणमन्ति, तथा सर्वद्रव्याणि स्वकीयस्वकीययथोचितोत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव-गुणपर्यायैश्च सह यद्यपि सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भेद कुर्वन्ति तथापि सत्तास्वरूपेण भेद न कुर्वन्ति, स्वभावत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथाविधत्व कोऽर्थः ? उत्पादव्ययादिस्वरूपेण परिणमन्ति। अथवा यथा वस्त्र निर्मलपर्यायेणोत्पन्न मलिनपर्यायेण विनष्ट तदुभयाधारभूतवस्त्ररूपेण ध्रुवमविन-श्वर, तथैव शुक्लवर्णादिगुणनवजीर्णादिपर्यायसहित च सत् तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव च स्वकीयगुण-पर्यायै. सह सज्ञादिभेदेपि सति सत्तारूपेण भेद न करोति। तर्हि कि करोति ? स्वरूपत एवोत्पादादि-रूपेण परिणमन्ति, तथा सर्वद्रव्याणीत्यभिप्रायः ॥९५॥

एव नमस्कारगाथा द्रव्यगुणपर्यायकथनगाथा स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा सत्तादिलक्षणत्रय-सूचनगाथा चेति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकाभिधान प्रथमस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे द्रव्य का लक्षण सत्ता आदि तीन रूप है ऐसा सूचित करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(यत्) जो (अपरिच्चतसहावेण) अभिन्न स्वभाव** रूप से **रहता है अर्थात् अपने अस्तित्व या सत् स्वभाव से भिन्न नही है, (उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं)** उत्पाद, **व्यय और ध्रौव्य सहित है। (गुणवं च सपज्जायं)** गुणवान होकर **पर्याय-सहित है,**

इस तरह सत्ता आदि तीन लक्षणों को रखने वाला है (तं दव्व त्ति) उसको द्रव्य ऐसा (वुच्चंति) सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं।

यह द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा गुण पर्यायो के साथ लक्ष्य और लक्षण की अपेक्षा भेद रूप होने पर भी सत्ता के भेद को नही रखता है। जिसका लक्षण या स्वरूप कहा जाय वह लक्ष्य है और जो उसका विशेष स्वरूप है वह लक्षण है। तब यह द्रव्य क्या करता है ? अपने स्वरूप से ही उस–विधपने को आलंबन करता है। इसका भाव यह है कि यह द्रव्य शुद्धात्मा की तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप तथा गुणपर्याय रूप परिणमन करता है।

केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय मे शुद्ध आत्मा के स्वरूप ज्ञानमयी निश्चल अनुभव-रूप कारणसमयसार रूप पर्याय का विनाश होते हुए शुद्धात्मा का लाभ या उसकी प्रगटता रूप कार्य-समयसार का उत्पाद या जन्म होता है और इन दोनों पर्यायो के आधार रूप परमात्म द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुवपना या स्थिरपना रहता है तथा उस परमात्मा के अनंतज्ञानादि गुण होते हैं। गतिमार्गणा से विपरीत सिद्ध गति व इन्द्रिय मार्गणा से विपरीत अतीन्द्रियपना आदि लक्षण की रखने वाली शुद्ध पर्यायें होती है अर्थात् वह परमात्म-द्रव्य जैसे अपनी शुद्ध सत्ता से भिन्न नही है, एक है, पूर्व में कहे हुए उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावों से तथा गुण पर्यायों से संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भेद रूप होने पर भी उनके साथ सत्ता आदि के भेद को नही रखता है, स्वरूप से ही उसी प्रकार पने को धारण करता है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप तथा गुण पर्याय स्वरूप रूप परिणमन करता है तैसे ही सर्व द्रव्य अपने-अपने यथायोग्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यपने से तथा गुण पर्यायों के साथ यद्यपि संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद रखते है तथापि सत्ता स्वरूप से भेद नहीं रखते है, स्वभाव से ही उन प्रकार–रूपपने को आलम्बन करते है, अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप या गुणपर्याय–स्वरूप परिणमन करते है। अथवा जैसे वस्त्र जब स्वच्छ किया जाता है तब अपनी निर्मल पर्याय से पैदा होता है, मलिन पर्याय से नष्ट होता है और इन दोनो के आधार रूप वस्त्र स्वभाव से ध्रुव या अविनाशी है तैसे ही अपने ही श्वेतादिगुण तथा मलिन यथा स्वच्छ पर्यायों के साथ संज्ञा आदि की अपेक्षा भेद होने पर भी सत्ता रूप से भेद नही रखता है, तब क्या करता है ? स्वरूप से ही उत्पाद आदि रूप से परिणमन करता है, तैसे ही सर्व द्रव्य परिणमन करते है यह अभिप्राय है ॥९५॥

भावार्थ—इस गाथा में आचार्य ने द्रव्य के तीन लक्षण बताए है। सत्‌रूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप और गुण पर्याय रूप। अभेद की अपेक्षा द्रव्य जैसे अपने सत् स्वभाव से

दितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः। किंच— यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः, कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीततााद्युत्पादव्ययध्रौव्याणणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तै. कुण्डलाङ्गदपीततााद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीततााद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीततााद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पतियुक्तस्य, कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्वं स स्वभावः ॥९६॥

भूमिका—अब अनुक्रम से दो प्रकार का अस्तित्व कहते है। स्वरूप-अस्तित्व और सादृश्य-अस्तित्व इनमे से यह स्वरूपास्तित्व का कथन है—

अन्वयार्थ—[चित्रै गुणै] अनेक प्रकार के गुण तथा [चित्रै स्वकपर्यायै] अनेक प्रकार की अपनी पर्यायो से [उत्पादव्ययध्रुवत्वैः] और उत्पाद व्यय ध्रौव्य से [सर्वकालं] सर्वकाल मे [द्रव्यस्य सद्भाव] द्रव्य का जो अस्तित्व है [हि] वह वास्तव मे [स्वभाव] स्वभाव है।

टीका—अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है, और वह (अस्तित्व) (१) अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण से, (२) अनादि-अनन्त, अहेतुक, एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवृत्त होने के कारण से, (३) विभाव धर्म से विलक्षण होने से, (४) भाव और भाववानता के [1]भाव से अनेकत्व होने पर भी प्रदेशभेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व को धारण करता हुआ द्रव्य का स्वभाव ही क्यों न हो? (अवश्य होवे) वह अस्तित्व, जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्यो मे प्रत्येक मे समाप्त हो जाताहै, उसी प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय मे प्रत्येक मे समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि वास्तव मे परस्पर में साधित सिद्धि (युक्त होने से) अर्थात्

१ अस्तित्व तो (द्रव्य का) भाव है और द्रव्य भाववान् है।

द्रव्य गुण और पर्याय एक दूसरे से परस्पर सिद्ध होते है, —यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नही होते, (इसलिये) उनका अस्तित्व एक ही है, सुवर्ण की भांति।

जैसे वास्तव में, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सुवर्ण से पृथक् न प्राप्त होने वाले तथा सुवर्ण के अस्तित्व से बने हुए पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों के द्वारा जो अस्तित्व है वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान सुवर्ण का स्वभाव है। उसी प्रकार वास्तव में, द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से पृथक् प्राप्त न होने वाले तथा द्रव्य के अस्तित्व से बने हुए गुणों और पर्यायों के द्वारा जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से गुणों के और पर्यायों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान प्रवृत्ति-युक्त द्रव्य का स्वभाव है।

(द्रव्य से, क्षेत्र से. काल से या भाव से सुवर्ण से भिन्न न दिखाई देने वाले पीतत्वादिक और कुण्डलादिक का जो अस्तित्व है वह सुवर्ण का ही अस्तित्व है, क्योंकि पीतत्वादिक के और कुण्डलादिक के स्वरूप को सुवर्ण ही धारण करता है, इसलिये सुवर्ण के अस्तित्व से ही पीतत्वादिक की और कुण्डलादि की निष्पत्ति-सिद्धि होती है, सुवर्ण न हो तो पीतत्वादिक और कुण्डलादिक भी न हों। इसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से भिन्न नही दिखाई देने वाले गुणो और पर्यायो का जो अस्तित्व है वह द्रव्य का ही अस्तित्व है, क्योंकि गुणों और पर्यायों के स्वरूप को द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्य के अस्तित्व से ही गुणों की और पर्यायो की निष्पत्ति होती है, द्रव्य न हो तो गुण और पर्याये भी न हो। ऐसा अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है।)

अथवा, जैसे द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से पीतत्वादि गुणों से और कुण्डलादि पर्यायों से पृथक् प्राप्त होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से सुवर्ण के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायो से निष्पन्न होने वाले सुवर्ण का, मूल साधन रूप से (पीतत्वादिक गुणों और कुण्डलादि पर्यायो से) निष्पन्न हुआ अस्तित्व स्वभाव है, इसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से गुणो से और पर्यायो से जो पृथक् नही दिखाई देने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से द्रव्य के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान गुणो और पर्यायो से निष्पन्न होने वाले द्रव्य का, मूल साधन रूप से गुणो और पर्यायो से निष्पन्न हुआ अस्तित्व स्वभाव है।

(पीतत्वादिक से और कुण्डलादिक से भिन्न न दिखाई देने वाले सुवर्ण का

दितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः। किंच— यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः, कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य, कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्वं स स्वभावः ॥९६॥

भूमिका—अब अनुक्रम से दो प्रकार का अस्तित्व कहते है। स्वरूप-अस्तित्व और सादृश्य-अस्तित्व इनमे से यह स्वरूपास्तित्व का कथन है—

अन्वयार्थ—[चित्रैः गुणैः] अनेक प्रकार के गुण तथा [चित्रैः स्वकपर्यायैः] अनेक प्रकार की अपनी पर्यायो से [उत्पादव्ययध्रुवत्वैः] और उत्पाद व्यय ध्रौव्य से [सर्वकालं] सर्वकाल मे [द्रव्यस्य सद्भाव] द्रव्य का जो अस्तित्व है [हि] वह वास्तव मे [स्वभाव] स्वभाव है।

टीका—अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है, और वह (अस्तित्व) (१) अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण से, (२) अनादि-अनन्त, अहेतुक, एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवृत्त होने के कारण से, (३) विभाव धर्म से विलक्षण होने से, (४) भाव और भाववानता के [1]भाव से अनेकत्व होने पर भी प्रदेशभेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व को धारण करता हुआ द्रव्य का स्वभाव ही क्यो न हो? (अवश्य होवे) वह अस्तित्व, जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्यो मे प्रत्येक मे समाप्त हो जाताहै, उसी प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय मे प्रत्येक मे समाप्त नही हो जाता, क्योकि वास्तव मे परस्पर मे साधित सिद्धि (युक्त होने से) अर्थात्

१ अस्तित्व तो (द्रव्य का) भाव है और द्रव्य भाववान् है।

द्रव्य गुण और पर्याय एक दूसरे से परस्पर सिद्ध होते है, —यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नही होते, (इसलिये) उनका अस्तित्व एक ही है, सुवर्ण की भांति ।

जैसे वास्तव मे, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सुवर्ण से पृथक् न प्राप्त होने वाले तथा सुवर्ण के अस्तित्व से बने हुए पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों के द्वारा जो अस्तित्व है वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान सुवर्ण का स्वभाव है। उसी प्रकार वास्तव में, द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से पृथक् प्राप्त न होने वाले तथा द्रव्य के अस्तित्व से बने हुए गुणों और पर्यायों के द्वारा जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से गुणों के और पर्यायों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान प्रवृत्ति-युक्त द्रव्य का स्वभाव है ।

(द्रव्य से, क्षेत्र से. काल से या भाव से सुवर्ण से भिन्न न दिखाई देने वाले पीतत्वादिक और कुण्डलादिक का जो अस्तित्व है वह सुवर्ण का ही अस्तित्व है, क्योंकि पीतत्वादिक के और कुण्डलादिक के स्वरूप को सुवर्ण ही धारण करता है, इसलिये सुवर्ण के अस्तित्व से ही पीतत्वादिक की और कुण्डलादि की निष्पत्ति-सिद्धि होती है, सुवर्ण न हो तो पीतत्वादिक और कुण्डलादिक भी न हों। इसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से भिन्न नही दिखाई देने वाले गुणों और पर्यायों का जो अस्तित्व है वह द्रव्य का ही अस्तित्व है, क्योंकि गुणों और पर्यायों के स्वरूप को द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्य के अस्तित्व से ही गुणों की और पर्यायों की निष्पत्ति होती है, द्रव्य न हो तो गुण और पर्याये भी न हो। ऐसा अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है ।)

अथवा, जैसे द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से पीतत्वादि गुणों से और कुण्डलादि पर्यायो से पृथक् प्राप्त होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से सुवर्ण के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों से निष्पन्न होने वाले सुवर्ण का, मूल साधन रूप से (पीतत्वादिक गुणों और कुण्डलादि पर्यायों से) निष्पन्न हुआ अस्तित्व स्वभाव है, इसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से गुणो से और पर्यायो से जो पृथक् नही दिखाई देने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से द्रव्य के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान गुणों और पर्यायो से निष्पन्न होने वाले द्रव्य का, मूल साधन रूप से गुणों और पर्यायो से निष्पन्न हुआ अस्तित्व स्वभाव है ।

(पीतत्वादिक से और कुण्डलादिक से भिन्न न दिखाई देने वाले सुवर्ण का

अस्तित्व है वह पीतत्वादिक और कुण्डलादिक का ही अस्तित्व है, क्योकि सुवर्ण के स्वरूप को पीतत्वादिक और कुण्डलादिक ही धारण करते है, इसलिये पीतत्वादिक और कुण्डलादिक के अस्तित्व से ही सुवर्ण की निष्पत्ति होती है। पीतत्वादिक और कुण्डलादिक न हो तो सुवर्ण भी न हो। इसी प्रकार गुणो से और पर्यायो से भिन्न न दिखाई देने वाले द्रव्य का अस्तित्व है वह गुणों और पर्यायों का ही अस्तित्व है, क्योंकि द्रव्य के स्वरूप को गुण और पर्यायें ही धारण करती है, इसलिये गुण और पर्यायों के अस्तित्व से ही द्रव्य की निष्पत्ति होती है। यदि गुण और पर्यायें न हों तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है। जिस प्रकार द्रव्य का और गुण पर्याय का एक ही अस्तित्व है, ऐसा स्वर्ण के दृष्टान्त-पूर्वक समझाया, उसी प्रकार अब सुवर्ण के दृष्टान्त-पूर्वक ऐसा बताया जा रहा है कि द्रव्य का और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भी एक ही अस्तित्व है।) जैसे वास्तव मे द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से स्वर्ण से पृथक् नही प्राप्त होने वाले तथा स्वर्ण के अस्तित्व से बने हुए कुण्डलादि के उत्पाद, बाजूबंधादि के व्यय और पीतत्वादि के ध्रौव्य से जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से कुण्डलादि के उत्पाद को, बाजूबंधादि के व्यय के और पीतत्वादि के ध्रौव्य के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान प्रवृत्ति युक्त स्वर्ण का स्वभाव है। इसी प्रकार द्रव्य से जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान द्रव्य का स्वभाव है। (द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से) द्रव्य से भिन्न दिखाई न देने वाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का जो अस्तित्व है वह द्रव्य का ही अस्तित्व है, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के स्वरूप को द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्य के अस्तित्व से ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की निष्पत्ति होती है। यदि द्रव्य न हो तो उत्पाद, व्यय ध्रौव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है। अथवा, जैसे द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से कुण्डलादि के उत्पाद से बाजूबंधादि के व्यय से और पीतत्वादि के ध्रौव्य से पृथक् नही प्राप्त होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से स्वर्ण के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान कुण्डलादि के उत्पाद से, बाजूबंधादि के व्यय से और पीतत्वादि के ध्रौव्य से निष्पन्न होने वाले स्वर्ण का, मूल साधन रूप उनसे (कुण्डलादि के उत्पाद से, बाजूबंधादि के व्यय से पीतत्वादि के ध्रौव्य से निष्पन्न हुआ जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व) स्वभाव है। इसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से पृथक् नही प्राप्त होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से द्रव्य के

स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान उत्पाद व्यय-ध्रौव्य निष्पन्न होने वाले द्रव्य का, मूल साधनपने से उनसे (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से) निष्पन्न हुआ जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व) स्वभाव है।

उत्पाद से व्यय से और ध्रौव्य से भिन्न न दिखाई देने वाले द्रव्य का अस्तित्व वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का ही अस्तित्व है, क्योंकि द्रव्य के स्वरूप को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही धारण करते है, इसलिये उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य के अस्तित्व से ही द्रव्य की निष्पत्ति होती है। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हों तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व वह अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है ॥९६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्रथम तावत्स्वरूपास्तित्व प्रतिपादयति—

सब्भावो हि स्वभाव स्वरूपं भवति हि स्फुट। क· कर्ता ? **सहावो** सद्भावः शुद्धसत्ता शुद्धास्तित्व। कस्य स्वभावो भवति ? **दव्वस्स** मुक्तात्मद्रव्यस्य, तच्च स्वरूपास्तित्व यथा मुक्तात्मन. सकाशात्पृथग्भूताना पुद्गलादि-पञ्चद्रव्याणा शेषजीवाना च भिन्न भवति न च तथा। कै सह ? **गुणेहिं सहपज्जएहिं** केवलज्ञानादिगुणै किंचिदूनचरमशरीराकारादिस्वकीयपर्यायैश्च सह। कथंभूतै. ? **चित्तेहिं** सिद्धगतित्वमतीन्द्रियत्वमकायत्वमयोगत्वमवेदत्वमित्यादिबहुभेदभिन्नैर्न केवल गुणपर्यायै. सह भिन्न न भवति। **उप्पादव्वयधुवत्तेहिं** शुद्धात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्योत्पादो रागादिविकल्परहितपरमसमाधिरूपमोक्षमार्गपर्यायस्य व्ययस्तथा मोक्षमार्गाधारभूतान्वयद्रव्यत्वलक्षण ध्रौव्य चेत्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह भिन्नं न भवति। कथ ? **सव्वकाल** सर्वकालपर्यन्तं यथा भवति। कस्मात्तै सह भिन्न न भवतीति चेत् ? यत. कारणाद्गुणपर्यायोऽस्तित्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वेन च कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्यास्तित्व साध्यते, शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वेन च गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्व साध्यत इति।

तद्यथा—यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै सुवर्णादभिन्नाना पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणा सबन्धि यदस्तित्वं स एव सुवर्णस्य सद्भाव·, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै परमात्मद्रव्यादभिन्नाना केवलज्ञानादिगुणकिञ्चदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणा सबन्धि यदस्तित्व स एव मुक्तात्मद्रव्यस्य सद्भाव. यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायेभ्य सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणा स्वभावो भवति, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः केवलज्ञानादिगुणकिञ्चिदूनचरमशरीराकारपर्यायेभ्य. सकाशादभिन्नस्य मुक्तात्मद्रव्यस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव केवलज्ञानादिगुणकिञ्चिदूनचरमशरीराकारपर्यायाणा स्वभावो ज्ञातव्यः। अथेदानीमुत्पदादव्ययध्रौव्याणामपि द्रव्येण सहाभिन्नास्तित्व कथ्यते। यथा स्वकीयद्रव्यादिचतुष्टयेन सुवर्णादभिन्नाना कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायविनाशसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणा सम्बन्धि यदस्तित्व स एव सुवर्णसद्भाव, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन परमात्मद्रव्यादभिन्नाना मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमागपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां सम्बन्धि यदस्तित्व स एव मुक्तात्मद्रव्यस्वभाव यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्येभ्य सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतसुवर्णत्वलक्षण-

ध्रौव्याणा सद्भाव', तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूत-मुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्येभ्य सकाशादभिन्नस्य परमात्मद्रव्यस्य सबन्धि यदस्तित्व स एव मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणा स्वभाव इति । एव यथा मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यै सह स्वरूपास्तित्वाभिधानमवान्तरास्तित्वमभिन्न व्यवस्थापित, तथैव समस्तशेषद्रव्याणामपि व्यवस्थापनीयमित्यर्थ ।।९६।।

उत्थानिका—आगे अस्तित्त्व या सत् के दो प्रकार अस्तित्व मे से स्वरूप अस्तित्व को बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(चित्तेहिं गुणेहिं सहपज्जएहिं) नाना प्रकार के अपने गुण और अपनी पर्यायो के साथ सिद्ध जीव की अपेक्षा से अपने केवलज्ञान आदि गुण तथा अतिम शरीर से कुछ कम आकार रूप अपनी पर्याय तथा सिद्ध गतिपना, अतीन्द्रियपना, कायरहितपना, योगरहितपना, वेदरहितपना इत्यादि नाना प्रकार की अपनी अवस्थाओं के साथ और (उप्पादव्वयधुवत्तेहि) उत्पाद व्यय ध्रौव्यपने के साथ सिद्ध जीव की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष पर्याय का उत्पाद, रागद्वेषादि विकल्पो से रहित परम-समाधि रूप मोक्ष मार्ग की पर्याय का व्यय तथा मोक्षमार्ग और मोक्ष के आधारभूत चले आने वाले द्रव्यपने का लक्षणरूप ध्रौव्यपना इन तीन प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्य के साथ (दव्वस्स) द्रव्य का अर्थात् मुक्तात्मा रूपी द्रव्य का (सव्वकालं) सर्व कालों मे अर्थात् सदा ही (सब्भावो) शुद्ध अस्तित्व है या उसकी शुद्ध सत्ता है (हि) सो ही निश्चय करके (सहावो) उसका निज भाव या निज रूप है, क्योंकि मुक्तात्मा इनके साथ अभिन्न है इसका हेतु यह है कि गुण पर्यायों के अस्तित्त्व से तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यपने के अस्तित्त्व से ही शुद्ध आत्मा के द्रव्य का अस्तित्त्व साधा जाता है और शुद्ध आत्मा के द्रव्य के अस्तित्व से गुण पर्यायों का और उत्पाद व्यय ध्रौव्यपने का अस्तित्व साधा जाता है।**

किस तरह परस्पर साधा जाता है सो बताते है—जैसे स्वर्ण के पीतपना आदि गुण तथा कुंडल आदि पर्यायों का जो स्वर्ण के द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा स्वर्ण से भिन्न नही है, जो अस्तित्त्व है वही स्वर्ण का अपना अस्तित्त्व है या सद्भाव है। तैसे ही मुक्तात्मा के केवलज्ञान आदि गुण और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार आदि पर्यायों का जो मुक्तात्मा के द्रव्य क्षेत्र काल भावों की अपेक्षा परमात्मा-द्रव्य से भिन्न नही है, जो अस्तित्त्व है वही मुक्तात्मा द्रव्य का अपना अस्तित्त्व या सद्भाव है। और जैसे स्वर्ण के पीतपना आदि गुण और कुंडल आदि पर्यायों के साथ जो स्वर्ण अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावो की अपेक्षा अभिन्न है, उस स्वर्ण का जो अस्तित्त्व है वही पीतपना आदि गुण तथा

कुंडल आदि पर्यायो का अस्तित्त्व या निज भाव है । तैसे ही मुक्तात्मा के केवलज्ञान आदि गुण और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार आदि पर्यायों के साथ जो मुक्तात्मा अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावो की अपेक्षा अभिन्न है उस मुक्तात्मा का जो अस्तित्व है, वही केवल-ज्ञानादि गुण तथा अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार आदि पर्यायों का अस्तित्त्व या निजभाव जानना चाहिये । अब उत्पाद व्यय ध्रौव्य का भी द्रव्य के साथ जो अभिन्न अस्तित्त्व है उसको कहते है । जैसे स्वर्ण के द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा स्वर्ण से अभिन्न कटक पर्याय का उत्पाद और कंकण पर्याय का विनाश तथा स्वर्णपने का ध्रौव्य इनका जो अस्तित्त्व है वही स्वर्ण का अस्तित्त्व व उसका निज भाव या स्वरूप है । तैसे ही परमात्मा के द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा परमात्मा से अभिन्न मोक्ष पर्याय का उत्पाद और मोक्षमार्ग पर्याय का व्यय तथा इन दोनों के आधारभूत परमात्म-द्रव्यपने का ध्रौव्य इनका जो अस्तित्त्व है वही मुक्तात्मा द्रव्य का अस्तित्त्व या उसका निजभाव या स्वरूप है । और जैसे अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा कटक पर्याय का उत्पाद और ककण पर्याय का व्यय तथा इन दोनों के आधारभूत स्वर्णपने का ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो स्वर्ण उसका जो अस्तित्त्व है वही कटक पर्याय का उत्पाद, कंकण पर्याय का व्यय तथा इन दोनों के आधारभूत स्वर्णपना रूप ध्रौव्य इनका अस्तित्त्व या निजभाव या स्वरूप है । तैसे ही अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा मोक्ष पर्याय का उत्पाद, और मोक्षमार्ग पर्याय का व्यय तथा दोनों के आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्यपनारूप ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो परमात्मा द्रव्य उसका जो अस्तित्त्व है वही मोक्ष पर्याय का उत्पाद, मोक्षमार्ग पर्याय का व्यय तथा इन दोनों के आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्य रूप ध्रौव्य इनका अस्तित्त्व या निजभाव या स्वरूप है । इस तरह जैसे मुक्तात्मा द्रव्य का अपने ही गुण पर्याय और उत्पाद ध्रौव्य के साथ स्वरूप का अस्तित्त्व या अवान्तर अस्तित्त्व अभिन्न स्थापित किया गया है तैसे ही शेष सर्व द्रव्यों का भी स्वरूप-अस्तित्त्व या अवान्तर अस्तित्त्व स्थापित करना चाहिये । इस गाथा का यह अर्थ है ।

भावार्थ—इस गाथा मे आचार्य ने स्वरूप-अस्तित्त्व या अवान्तर-सत्ताका स्वरूप बताया है । हर एक द्रव्य अपने अखण्ड जितने प्रदेशों को लिये है चाहे वह एक प्रदेश हो व अनेक, वह द्रव्य उतने प्रदेशों के साथ अपनी सत्ता को दूसरे द्रव्य से पृथक् रखता है । तथा उसकी इस अवान्तर या पृथक् सत्ता मे ही गुणपर्यायपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहते है, न कोई द्रव्य कभी अपनी सत्ता को छोड़ता है, न गुणपर्याय से रहित होता है, न उत्पाद

व्यय ध्रौव्य को त्यागता है। द्रव्य में हरसमय द्रव्य के ये तीनों ही लक्षण पाए जाते है। यही द्रव्य का स्वभाव है ॥९६॥

इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति—

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥९७॥

इह विविधलक्षणाना लक्षणमेक सदिति सर्वगतम्।
उपदिशता खलु धर्म जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥९७॥

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोद्धव्यम्। एवं सदित्यभिधानं सदिति परिच्छेदनं च सर्वार्थपरामर्शि स्यात्। यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात्। तत्तु विप्रतिषिद्धमेव प्रसाध्यं चैतदनोकहवत्। यथा हि बहूनां बहुविधानामनोकहानामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वारूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नात्वं, सामान्यलक्षण-भूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति। तथा बहूनां बहुविधानां द्रव्याणामात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नात्वं, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति। यथा च तेषामनोकहानां सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति ॥९७॥

भूमिका—**अब सादृश्य-अस्तित्व का कथन करते है—**

अन्वयार्थ—[धर्म] धर्म का [उपदिशता] उपदेश करने वाले [जिनवरवृषभेण] जिनवर वृपभ के द्वारा [इह] इस विश्व मे [विविधलक्षणाना] विविध लक्षण वाले (भिन्न भिन्न स्वरूपास्तित्व वाले सर्व) द्रव्यो का [खलु] वास्तव मे [सत् इति] 'सत्' ऐसा [सर्व गत] सर्वगत (सव मे व्यापने वाला) [एक लक्षण] एक लक्षण [प्रज्ञप्तम्] कहा गया है।

टीका—वास्तव मे इस विश्व मे, विचित्रता को विस्तारित करते हुये (विविधता-अनेकत्व को दिखाते हुये), अन्य द्रव्यों से व्यावृत (भिन्न) रहकर प्रवर्तमान, और प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बांधते हुये, ऐसे विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित भी सर्व द्रव्यों की, विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ, सर्व द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहने वाला, और प्रत्येक द्रव्य की बधी हुई सीमा को भेदता (तोड़ता) हुआ, 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्य लक्षणभूत एक सादृश्यास्तित्व है, वह ही वास्तव मे एक ही जानने योग्य है। इस प्रकार 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थो का परामर्श (स्पर्श-ग्रहण) करने वाला है। यदि वह ऐसा (सर्व पदार्थ परामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत्, कोई सत् तथा असत् और कोई अवाच्य होना चाहिये, किन्तु वह तो निषिद्ध ही है, और यह ('सत्' ऐसा कथन और ज्ञान के सर्व पदार्थ परामर्शी होने की बात) तो सिद्ध हो सकती है, वृक्ष की भाँति।

जैसे वास्तव मे बहुत से और अनेक प्रकार के वृक्षों को अपने-अपने विशेष लक्षण-भूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्थित होते (खड़े होते) अनेकत्व को, सामान्य लक्षण-भूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्थित होता एकत्व तिरोहित (अदृश्य) कर देता है, इसी प्रकार बहुत से और अनेक प्रकार के द्रव्यों को अपने-अपने विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्थित होते अनेकत्व को, सामान्य लक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पनेसे ('सत्' ऐसे भाव से, अस्तित्व से है—पने से) उत्थित होता एकत्व तिरोहित कर देता है। और जैसे उन वृक्षो के विषय में सामान्य लक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्थित होते एकत्व से तिरोहित होता है तो भी, (अपने-अपने) विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्थित हुआ अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है, (बना रहता है, नष्ट नही होता), इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के विषय मे भी सामान्य लक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पने से उत्थित होते एकत्व से तिरोहित होने पर भी, (अपने-अपने) विशेष लक्षण-भूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्थित हुआ अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है ॥९७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ सादृश्यास्तित्वशब्दाभिधेया महासत्ता प्रज्ञापयति—

इह विविहलक्खणाण इह लोके प्रत्येकसत्ताभिधानेन स्वरूपास्तित्वेन विविधलक्षणाना भिन्न-लक्षणाना चेतनाचेतनमूर्तामूर्तपदार्थाना लक्खणमेग तु एकमखण्डलक्षण भवति। कि कर्तृ ? सदित्ति सर्व सदिति महासत्तारूप किंविशिष्ट ? सव्वगय सकरव्यतिकरपरिहाररूपस्वजात्यविरोधेन शुद्ध-

सग्रहनयेन सर्वगत सर्वपदार्थव्यापक । इद केनोक्त ? **उवदिसदा खलु धम्म जिणवरवसहेण पण्णत्त** धर्म वस्तुस्वभावसग्रहमुपदिशता खलु स्फुट जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तमिति ।

तद्यथा— यथा सर्वे मुक्तात्मन. सन्तीत्युक्ते सति परमान्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादभरिताव-स्थलोकाकाशप्रमितशुद्धासख्येयात्मप्रदेशैस्तथा किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायैश्च सकरव्यतिकर-परिहाररूपजातिभेदेन भिन्नानामपि सर्वेषा सिद्धजीवाना ग्रहण भवति, तथा "सर्वं सत्" इत्युक्ते सग्रहनयेन सर्वपदार्थाना ग्रहण भवति । अथवा सेनेय वनमिदमित्युक्ते अश्वहस्त्यादिपदार्थाना निम्बा-म्रादिवृक्षाणा स्वकीयस्वकीयजातिभेदभिन्नाना युगपद्ग्रहण भवति, तथा सर्व सदित्युक्ते सति सादृश्य-सत्ताभिधानेन महासत्तारूपेण शुद्धसग्रहनयेन सर्वपदार्थाना स्वजात्यविरोधन ग्रहण भवतोत्यर्थ ॥९७॥

उत्थानिका—आगे सादृश्य अस्तित्व शब्द से कहे जाने वाली महासत्ता का वर्णन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(इह) इस लोक मे (विविहलक्खणाणं) नाना प्रकार भिन्न-भिन्न लक्षणरखने वाले पदार्थो का (एग) एक (सव्वगय) सर्व पदार्थो मे व्यापक (लक्खणं) लक्षण (सदित्ति) सत् ऐसा (धम्मं) वस्तु के स्वभाव को (उवदिसदा) उपदेश करने वाले (जिणवरवसहेण) श्री वृषभ जिनेन्द्र ने (खलु) प्रगट रूप से (पण्णत्त) कहा है ।**

इस जगत मे भिन्न-भिन्न लक्षण को रखने वाले चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त अनेक पदार्थ है, उनमें से प्रत्येक पदार्थ की सत्ता या स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है तो भी इन सबका एक अखंड सर्व व्यापक लक्षण भी है । यह लक्षण मिलाप व भिन्नता के विकल्प से रहित अपनी-अपनी जाति मे विरोध न पड़ने देने वाले शुद्ध संग्रहनय से सर्व पदार्थो में व्यापक एक सत् रूप है या महासत्ता रूप है ऐसा वस्तु स्वभावो के संग्रह को उपदेश करने वाले श्री तीर्थंकर भगवान् ने प्रगटरूप से वर्णन किया है ।

इस प्रकार—जैसे 'सर्व मुक्तात्मा है, ऐसा कहा जाने से सर्व ही सिद्धों का एक साथ ग्रहण हो जाता है । यद्यपि वे सर्व सिद्ध परमानदमयी एक लक्षण वाले सुखामृत रस स्वाद से भरे हुए अपने-अपने शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेशो की अपेक्षा तथा अपने-अपने अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून पर्याय की अपेक्षा मिश्र व भिन्नता के विकल्प से रहित अपनी-अपनी जाति के भेद से भिन्न है तो भी एक सत्ता लक्षण की अपेक्षा उन सब सिद्धो का ग्रहण हो जाता है । वैसे ही 'सर्व सत्' ऐसा कहने पर सग्रहनय से सर्व पदार्थो का ग्रहण हो जाता है । अथवा यह सेना है, ऐसा कहने पर अपनी-अपनी जाति से भिन्न घोड़े, हाथी आदि पदार्थो की भिन्नता है तो भी सबका एक काल मे ग्रहण हो जाता है, अथवा यह वन है, ऐसा कहने पर अपनी-अपनी जाति से भिन्न निम्ब, आम्र

आदि वृक्षों की भिन्नता है तो भी सब वृक्षों का एक काल में ग्रहण हो जाता है। तैसे ही सर्व सत् ऐसे सदृश सत्ता कहने पर महासत्ता रूप से शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा सर्व ही पदार्थों का बिना उनकी जाति से विरोध के एक साथ ग्रहण हो जाता है, ऐसा अर्थ है ॥९७॥

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध[1] आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥९८॥

द्रव्यं स्वभावसिद्ध सदिति जिनास्तत्त्वत समाख्यातवन्त ।
सिद्ध तथा आगमतो नेच्छति य. स हि परसमयः ॥९८॥

न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते। गुणपर्यायात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते। यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः। द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च। द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात्। अथैव यथा सिद्धं स्वभावत एव द्रव्यं तथा सदित्यपि तत्स्वभावत एव सिद्धमित्यवधार्यताम्। सत्तात्मनात्मनः स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात्। न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिप्रपद्य ते, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात्। सत. सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्वं, तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धस्यादर्शनात्। अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपद्यते। इहेदमितिप्रतीतेरुत्पद्यत इति चेत् किंनिबन्धना हीदमिति प्रतीतिः भेदनिबन्धनेतिचेत् को नाम भेदः। प्रादेशिक अताद्भाविको वा। न तावत्प्रादेशिकः, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात्। अताद्भाविकश्चेत् उपपन्न एव यद्द्रव्यं तन्न गुण इति वचनात्। अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धनं, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात्। तथाहि—यदेव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदेव गुणवदिदं द्रव्यमयमस्य गुणः, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति। यदा तु द्रव्येणार्प्यते द्रव्यं तदास्तमितसमस्तगुणवासनोन्मेषस्य तथाविधं द्रव्यमेव शुभ्रमुत्तरीयमित्यादिवत्प्रपश्यत· समूल एवाताद्भाविको भेदो निमज्जति। एवं हि भेदे निमज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिर्निमज्जति। तस्यां निमज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वं निमज्जति। ततः समस्तमपि द्रव्यमेवैकं भूत्वावतिष्ठते। यदा तु भेद उन्मज्जति, तस्मिन्नुन्मज्जति

१ तह (ज० वृ०)।

तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति । तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति । तदापि तत्पर्यायत्वेनोन्मज्जज्जलराशेर्जलकल्लोल इव द्रव्यान्न व्यतिरिक्तं स्यात् एवं सति स्वयमेव सद्द्रव्यं भवति । यस्त्वेवं नेच्छति स खलु परसमय एव द्रष्टव्यः ॥९८॥

भूमिका—अब, द्रव्यो से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होने का और द्रव्य से सत्ता का अर्थान्तरत्व (अन्य भिन्न पदार्थ) होने का खण्डन करते है । (अर्थात् ऐसा निश्चित करते है कि किसी द्रव्य से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नही होती और द्रव्य से अस्तित्व कोई पृथक् पदार्थ नही है):—

अन्वयार्थ—[द्रव्य] द्रव्य [स्वभाव–सिद्ध] स्वभाव से सिद्ध और [सत् इति] (स्वभाव से ही) 'सत्' है, ऐसा [जिना] जिनेन्द्रदेव ने [तत्त्वत:] यथार्थतः [समाख्यातवन्त] कहा है, [यथा] इस प्रकार [आगमत] आगम से [सिद्ध] सिद्ध है, [य] जो [न इच्छति] (इसको) नही मानता [स.] वह [हि] वास्तव मे [परसमय.] पर-समय है ।

टीका—वास्तव मे द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नही होती, क्योकि सर्व द्रव्यो के स्वभावसिद्धपना है (सर्व द्रव्य, पर–द्रव्य की अपेक्षा विना, अपने स्वभाव से ही सिद्ध है) उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता है, क्योकि अनादिनिधन अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता । वह (द्रव्य) गुणपर्यायात्मक अपने स्वभाव को ही—जो कि मूलसाधन है, धारण करके स्वयमेव सिद्ध और सिद्धि वाला हुआ वर्तता है । जो द्रव्यो मे उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नही है, (किन्तु) कादाचित्कता (अनित्यता) के होने से वह पर्याय है, जैसे—द्विअणुक इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि । द्रव्य तो अनवधि (मर्यादा रहित) त्रिसमय-अवस्थायी (त्रिकालस्थायी) है, (इसलिये) वैसा (कादाचित्क-क्षणिक-अनित्य) नही है ।

अब इस प्रकार—जैसे द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध है उसी प्रकार (वह) 'सत् है' ऐसा भी वह स्वभाव से ही सिद्ध है, ऐसा निर्णय हो, क्योंकि सत्तात्मक ऐसे अपने स्वभाव से निष्पन्न निष्पत्तिमत् भाव वाला है—(द्रव्य 'सत्' है ऐसा भाव द्रव्य के सत्तास्वरूप स्वभाव का ही बना हुआ है) । द्रव्य से अर्थान्तरभूत सत्ता की उत्पत्ति नही है, कि जिसके समवाय से वह द्रव्य 'सत्' हो । (इसी को स्पष्ट समझाते है)—

प्रथम तो सत् के (द्रव्य के) और सत्ता के युतसिद्धता से अर्थान्तरत्व नही है, क्योंकि दण्ड और दण्डी की भांति उनके सम्बन्ध मे युतसिद्धता दिखाई नही देती । (दूसरे)

अयुतसिद्धता से भी वह (अर्थान्तरत्व) नहीं बनता। 'इसमें यह है' (अर्थात् द्रव्य में सत्ता है) ऐसी प्रतीति होती है इसलिये वह बन सकता है—ऐसा कहा जाय तो (पूछते है कि) 'इसमे यह है' ऐसी प्रतीति किसके आश्रय (कारण) से होती है ? यदि ऐसा कहा जाय कि भेद के आश्रय से (अर्थात् द्रव्य और सत्ता मे भेद होने से) होती है तो वह कौनसा भेद है ? प्रादेशिक या अताद्भाविक ? प्रादेशिक तो है नही, क्योकि युतसिद्धत्व का पहले ही निषेध कर दिया गया है, और यदि अताद्भाविक कहा जाय तो वह उत्पन्न (ठीक) ही है, क्योंकि ऐसा (शास्त्र का) वचन है कि 'जो द्रव्य है वह गुण नही है।' परन्तु (यहां यह भी ध्यान मे रखना कि) यह अताद्भाविक भेद 'एकान्त से इसमें से यह है' ऐसी प्रतीति का आश्रय (कारण) नही है, क्योंकि वह स्वयमेव उन्मग्न (प्रगट) और निमग्न (गौण) होता है। वह इस प्रकार है—जब द्रव्य को पर्याय की मुख्यता से (दृष्टि) से मुख्य किया जाता है (पर्यायार्थिकनय से देखा जाय) तब ही—'शुक्ल यह वस्त्र है, यह इसका शुक्लत्व गुण है' इत्यादि की भाँति, 'गुणवाला यह द्रव्य है, यह इसका गुण है' इस प्रकार अताद्भाविक भेद उन्मग्न होता है, परन्तु जब द्रव्य को द्रव्य की मुख्यता से (दृष्टि) से मुख्य किया जाता है (द्रव्यार्थिकनय से देखा जाता है), तब जिसके समस्त गुणवासना के उन्मेष (प्रगटता) अस्त हो गयी है, ऐसे उस जीव के–'शुक्लवस्त्र ही है' इत्यादि की भांति–'ऐसा द्रव्य ही है, इस प्रकार देखने वाले के समूल ही अताद्भाविक भेद निमग्न (गौण) होता है। इस प्रकार वास्तव मे भेद के निमग्न होने पर उसके आश्रय से (कारण से) होने वाली प्रतीति निमग्न होती है। उसके निमग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व निमग्न होता है, इसलिये समस्त ही एक द्रव्य ही होकर रहता है। और जब भेद उन्मग्न होता है, उसके उन्मग्न होने पर उसके आश्रय (कारण) से होने वाली प्रतीति उन्मग्न होती है, उसके उन्मग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व उन्मग्न होता है, तब भी वह (सत्) द्रव्य के पर्यायरूप से उन्मग्न होने से, –जैसे जलराशि से जलतरंगे व्यतिरिक्त नही है (अर्थात् समुद्र से तरंगे अलग नही है) उसी प्रकार द्रव्य से व्यतिरिक्त नही होता। ऐसा होने से (यह निश्चित हुआ कि द्रव्य स्वयमेव सत् है। जो ऐसा नही मानता वह वास्तव मे 'परसमय' (मिथ्यादृष्टि) ही मानना ॥९८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ यथा द्रव्य स्वभावसिद्ध तथा सदपि स्वभावित एवेत्याख्याति—

दव्व सहावसिद्ध द्रव्य परमात्मद्रव्य स्वभावसिद्ध भवति। कस्मात् ? अनाद्यनन्तेन परहेतु-निरपेक्षेण स्वत सिद्धेन केवलज्ञानादिगुणाधारभूतेन सदानन्दैकरूपसुखसुधारसपरमसमरसीभावपरिण-

तसर्वशुद्धात्मप्रदेशभरितावस्थेन शुद्धोपादानभूतेन स्वकीयस्वभावेन निष्पन्नत्वात् । यच्च स्वभावसिद्धं न भवति तद्द्रव्यमपि न भवति । द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धपर्यायवत् मनुष्यादिजीवपर्यायवच्च । **सदिति** यथा स्वभावत सिद्धं तद्द्रव्य तथा सदिति सत्तालक्षणमपि स्वभावत एव भवति, न च भिन्नसत्तासमवायात् । अथवा यथा द्रव्य स्वभावत. सिद्ध तथा तस्य योसौ सत्तागुण. सोपि स्वभावसिद्ध एव । कस्मादिति चेत् । सत्ताद्रव्ययो सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि दण्डदण्डिवद्भिन्नप्रदेश भावात् । इद के कथितवन्त: । **जिणा तच्चदो समक्खादा** जिना कर्तार. तत्त्वत सम्यगाख्यातवन्त कथितवन्त **सिद्ध तह आगमदो** सन्तानापेक्षया द्रव्यार्थिकनयेनानादिनिधनागमादपि तथा सिद्ध **णेच्छदि जो, सो हि परसमओ** नेच्छति न मन्यते य इद वस्तुस्वरूप स हि स्फुट परसमयो मिथ्यादृष्टिर्भवति । एव यथा परमात्मद्रव्यं स्वभावत सिद्धमवबोद्धव्य तथा सर्वद्रव्याणीति । अत्र द्रव्य केनापि पुरुषेण न क्रियते । सत्तागुणोपि द्रव्याद्भिन्नो नास्तीत्यभिप्राय: ॥९८॥

उत्थानिका—आगे यह कहते है कि जैसे द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है वैसे ही सत् भी स्वभाव से सिद्ध है—

गाथार्थ—**(दव्वं) द्रव्यं (सहावसिद्ध) स्वभाव से सिद्ध है (सदिति) सत् भी स्वभाव सिद्ध है ऐसा (जिणा) जिनेन्द्रों ने (तच्चदा) तत्त्व से (समक्खादा) कहा है (तध) तैसे ही (आगमदो) आगम से (सिद्धं) सिद्ध है (जो) जो कोई (णेच्छदि) नही मानता है (सो हि परसमओ) वही प्रगट रूप से परसमय रूप है ।**

टीकार्थ—**यहाँ परमात्म-द्रव्य पर घटाकर कहते है कि परमात्मारूपी द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है क्योकि परमात्मा अनादि अनन्त, बिना अन्य कारणो की अपेक्षा के अपने स्वत: सिद्ध केवलज्ञानादि गुणों के आधारभूत है, सदा आनन्दमयी सुखामृतरूपी परम समरसी भाव मे परिणमन करते हुए सर्व शुद्ध आत्मप्रदेशों से भरपूर है तथा शुद्ध उपादान रूप से अपने ही स्वभाव से उत्पन्न है । जो सत् स्वरूप स्वभाव से सिद्ध नही होता है वह द्रव्य भी नही होता है । जैसे द्विणुक आदि पुद्गलस्कंध की पर्याय व मनुष्यादि जीवपर्याय । जैसे द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है वैसे उसकी सत्ता भी स्वभाव से सिद्ध है, सत्ता किसी भिन्न सत्ता के समवाय से नही हुई है । क्योकि सत्ता और द्रव्य में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादि से भेद होने पर भी जैसे दण्ड और दण्डी पुरुष के प्रदेशों का भेद है, ऐसी प्रदेशों की भिन्नता सत्ता और द्रव्यों में नही है । इस बात को तीर्थकरों ने भले प्रकार वर्णन किया है । तथा यही बात सन्तान की अपेक्षा द्रव्यार्थिकनय से अनादि अनंत आगम से भी सिद्ध है । जो ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं स्वीकार करता है वह मिथ्यादृष्टि है । इस तरह जैसा परमात्म द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है तैसे ही सर्व द्रव्यों को स्वभाव से सिद्ध जानना चाहिये द्रव्य को किसी पुरुष ने रचा नही है और न द्रव्य का सत्ता गुण ही द्रव्य से भिन्न है, इस गाथा का यह अभिप्राय है ॥९८॥**

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेऽपि सद्द्रव्यं भवतीति विभावयति—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥९९॥

सदवस्थित स्वभावे द्रव्य द्रव्यस्य यो हि परिणाम ।
अर्थेषु स स्वभाव स्थितिसभवनाशसबद्ध ॥९९॥

इह हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पादोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः । यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशाः, तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्यापि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः । यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः, तथा परिणामानां परस्पर-व्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमः यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति, तथैव ते परिणामा स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति । यथैव च य एव हि पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयातदुभयात्मक इति । तथैव य एव हि पूर्वपरिणामोच्छेदात्मकः प्रवाहसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतया तदुभयात्मक इति एवमस्य स्वभावत एव त्रिलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम् मुक्ताफलदामवत् । यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति ॥९९॥

भूमिका—अब, यह बतलाते है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य 'सत्' है—

अन्वयार्थ—[स्वभावे] स्वभाव मे [अवस्थितं] अवस्थित [सत्] सत् [द्रव्य] द्रव्य है [द्रव्यस्य] द्रव्य का [अर्थेषु] गुणपर्यायो मे [य हि] जो [स्थितिसभवनाशसबद्ध] उत्पादव्ययध्रौव्य सहित [परिणाम] परिणाम है [स] वह [स्वभाव] उसका स्वभाव है।

टीका—यहां (विश्व मे) वास्तव मे स्वभाव मे नित्य अवस्थित होने से सत् द्रव्य है। स्वभाव द्रव्य का ध्रौव्य-उत्पाद-विनाश की एकता स्वरूप परिणाम है। जैसे द्रव्य वास्तु के +समग्रतया (अखण्डता से) एक होने पर भी, विस्तार क्रम की प्रवृत्ति मे वर्तने वाले सूक्ष्म अंश प्रदेश है, इसी प्रकार द्रव्य की वृत्ति (द्रव्य परिणति, द्रव्य प्रवाह) के, समग्रतया एक होने पर भी, प्रवाह क्रम की प्रवृत्ति मे वर्तने वाला सूक्ष्म अंश परिणाम है। जैसे प्रदेशो के परस्पर व्यतिरेक के कारण से होने वाला विष्कम्भ क्रम है, उसी प्रकार परिणामो के परस्पर व्यतिरेक के कारण से होने वाला प्रवाह क्रम है।

जैसे वे प्रदेश अपने स्थान मे स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने से अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति सहार-ध्रौव्यात्मक अपने स्वरूप को धारण करते है, उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसर मे स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने से अनुत्पन्न अविनष्ट होने से उत्पत्ति सहार-ध्रौव्यात्मक अपने स्वरूप को धारण करते है। और जैसे जो पूर्व प्रदेश के विनाश रूप वस्तुका सीमान्त है, वही उसके बाद के प्रदेश का उत्पाद स्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुत्व से दोनो (उत्पाद-व्यय) स्वरूप नही है (ध्रुव है) इसी प्रकार जो ही पूर्व परिणाम के विनाश रूप प्रवाह का सीमान्त है, वही उसके बाद के परिणाम के उत्पादस्वरूप है, तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहत्व से दोनों (उत्पाद-व्यय) स्वरूप नही है (ध्रुव हैं)।

इस प्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणाम पद्धति मे (परिणामों की परम्परा मे) प्रवर्तमान द्रव्य स्वभाव का अतिक्रम नही करता, इसलिये सत्त्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदित करना चाहिये मोतियों के हार की भांति। जैसे—जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुये मोतियों के हार मे, अपने अपने स्थानों मे प्रकाशित होते हुये समस्त मोतियो मे, अगले-अगले स्थानो में अगले-अगले मोती प्रगट होते है इसलिये, और पहले-पहले के मोती प्रगट नही होते इसलिये तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचयिता सूत्र

+ द्रव्य का वास्तु-द्रव्यका स्व-विस्तार, द्रव्य का स्व क्षेत्र, द्रव्य का स्व-आकार, द्रव्य का स्व-बल। (वास्तु घर, निवासस्थान, आश्रय, भूमि।)

अवस्थित होने से, त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) होते हुये समस्त परिणामों मे अगले-अगले अवसरों पर अगले परिणाम प्रगट होते है इसलिये और पहले-पहले के परिणाम नहीं प्रगट होते है इसलिये तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचने वाला प्रवाह अवस्थित होने से, त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि प्राप्त होती है ॥९९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादव्ययध्रौव्यत्वे सति सत्तैव द्रव्य भवतीति प्रज्ञापयति—

सदवठ्ठिदं सहावे दव्वं द्रव्य मुक्तात्मद्रव्य भवति। कि कर्तृ ? सदिति शुद्धचेतनान्वयरूप मस्तित्व। किविशिष्ट ? अवस्थित। क्व ? स्वभावे स्वभाव कथयति—**दव्वस्स जो हि परिणामो** तस्य परमात्मद्रव्यस्य सबन्धी हि स्फुट य परिणाम केषु विषयेषु ? **अत्थेसु** परमात्मपदार्थस्य धर्मत्वादभेदनयेनार्था भण्यन्ते। के ते ? केवलज्ञानादिगुणा सिद्धत्वादिपर्यायाश्च, तेष्वर्थेषु विषयेषु यऽसौ परिणाम। **सो सहाओ** केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायरूपस्तस्य परमात्मद्रव्यस्य स्वभावो भवति। स च कथभूत ? **ठिदिसभवणासंबंधो** स्वात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्य सभवस्तस्मिन्नेव क्षणे परमागमभाषयैकत्ववितर्कविचारद्वितीयशुक्लध्यानसज्ञस्य शुद्धोपादानभूतस्य समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितस्य सवेदनज्ञानपर्यायस्य नाशस्तस्मिन्नेव समये तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यस्य स्थितिरित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण सबन्धो भवतीति। एवमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेणैकसमये यद्यपि पर्यायार्थिकनयेन परमात्मद्रव्य परिणत, तथापि द्रव्यार्थिकनयेन सत्तालक्षणमेव भवति। त्रिलक्षणमपि सत्सत्तालक्षण कथ भण्यत इति चेत् "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" इति वचनात्। यथेद परमात्मद्रव्यमेकसमयेनोत्पादव्ययध्रौव्यै परिणतमेव सत्तालक्षण भण्यते, तथा सर्वद्रव्याणीत्यर्थ ॥९९॥

एव स्वरूपसत्तारूपेण प्रथमगाथाथा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्य स्वत सिद्ध तथा सत्तागुणोपीति कथनेन तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेपि सत्तैव द्रव्य भण्यत इति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यतया द्वितीयस्थल गतमू।

उत्थानिका—आगे कहते है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुए सत्ता ही द्रव्य स्वरूप है अथवा द्रव्य सत् स्वरूप है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सहावे) स्वभाव में (अवट्ठिदं) रहा हुआ (सत्) सत् (दव्वं) द्रव्य है। (दव्वस्स) द्रव्य का (अत्थेसु) गुण पर्यायो मे (जो) जो (ठिदिसंभवणाससंबद्धो) ध्रौव्य, उत्पाद व्यय सहित परिणाम है (सो) वह (हि) ही (सहावो) स्वभाव है।**

स्वभाव में तिष्ठा हुआ शुद्ध चेतना का अन्वयरूप (बराबर) अस्तित्व परमात्मा द्रव्य है। उस परमात्मा द्रव्य का अपने केवलज्ञानादि गुण और सिद्धत्व (यहाँ अरहतपने से मतलब है) आदि पर्यायों मे अपने आत्मा की प्राप्ति रूप उत्पाद उसी ही समय में परमागम की भाषा से एकत्व वितर्क अवीचाररूप दूसरे शुक्लध्यान का या

शुद्ध उपादान रूप सर्व रागादि के विकल्प की उपाधि से रहित स्वसवेदन ज्ञान पर्याय का नाश तथा उसी समय इन दोनों उत्पाद व्यय के आधार रूप परमात्मद्रव्य की स्थिति इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य सम्बन्धी जो परिणाम है वही निश्चय से उस परमात्म द्रव्य का केवलज्ञानादि गुण वा सिद्धत्व आदि पर्याय रूप स्वभाव है। गुण पर्याय द्रव्य के स्वभाव है इसलिये उनको अर्थ कहते है। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीन स्वभाव से एक समय मे यद्यपि पर्यायार्थिकनय से परमात्म द्रव्य परिणमन करते है तथापि द्रव्यार्थिकनय से सत्ता लक्षण रूप ही है। तीन लक्षण रूप होते हुये भी सत्ता लक्षण क्यो कहते है ? इसका समाधान यह है कि सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जैसा कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" जैसे यह परमात्म द्रव्य एक समय में ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य से परिणमन करता हुआ ही सत्ता लक्षण कहा जाता है तैसे ही सर्व द्रव्यों का स्वभाव है, यह अर्थ है ॥९९॥

इस तरह स्वरूप सत्ता को कहते हुये प्रथम गाथा, महासत्ता को कहते हुए दूसरी गाथा, जैसे द्रव्य स्वतः सिद्ध है वैसे उसकी सत्ता गुण भी स्वतः सिद्ध है ऐसा कहते हुये तीसरी गाथा, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुये भी सत्ता ही को द्रव्य कहते हुये चौथी गाथा इस तरह चार गाथाओं के द्वारा सत्ता लक्षण के व्याख्यान की मुख्यता करके दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्पराविनाभावं दृढ़यति—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण[1] अत्थेण ॥१००॥

न भवो भङ्गविहीनो भङ्गो वा नास्ति सभवविहीन ।
उत्पादोऽपि च भङ्गो न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥१००॥

न खलु सर्ग संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव सहारः स एव सर्ग , यावेव सर्गसहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति। तथाहि— य एव कुम्भस्य सर्ग. स एव मृत्पिण्डस्य संहार , भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्ग', अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य

१ दव्वेण (ज० वृ०)।

प्रकाशनात। यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्। यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्य सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति तथा सति हि केवलं सर्ग मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत्। असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात्। तथा केवल संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा तत्र मृत्पिण्डस्यासहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत्। सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात्। तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा। तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत्। क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्। तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम् ॥१००॥

भूमिका—अब, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का परस्पर अविनाभाव दृढ़ करते है—

अन्वयार्थ—[भव.] उत्पाद [भङ्गविहीनः] भग (व्यय) रहित [न] नही होता [वा] और [भङ्गः] व्यय [सभवविहीन.] उत्पाद-रहित [नास्ति] नही होता, [उत्पाद.] उत्पाद [अपि च] तथा [भङ्गः] व्यय [ध्रौव्येण अर्थेन बिना] ध्रौव्य पदार्थ के बिना [न] नही होता।

टीका—वास्तवमें उत्पाद, व्यय के बिना नहीं होता और व्यय, उत्पाद के बिना नही होता तथा उत्पाद और व्यय, स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नही होते, और ध्रौव्य, उत्पाद तथा व्यय के बिना नही होता। जो उत्पाद है वही व्यय है। जो व्यय है वही उत्पाद है, जो उत्पाद और व्यय है वही ध्रौव्य है, जो ध्रौव्य है वही उत्पाद और व्यय है। वह इस प्रकार है कि जो कुम्भ का उत्पाद है वही मृत्तिका-पिण्ड का व्यय है, क्योंकि भाव का भावान्तर के अभाव स्वभाव से अवभासन है। (अर्थात् भाव अन्य भाव के अभाव रूप स्वभाव से प्रकाशित है–दिखाई देता है।) और जो मृत्तिका-पिण्ड का व्यय है, वही कुम्भ का उत्पाद है, क्योंकि अभाव का भावान्तर के भाव-स्वभाव से अवभासन है, (अर्थात् व्यय अन्य भाव के उत्पाद रूप स्वभाव से प्रकाशित है।) और जो कुम्भ का उत्पाद और पिण्ड का व्यय है, वही मृत्तिका का ध्रौव्य है, क्योंकि व्यतिरेको के द्वारा ही अन्वय का प्रकाशन है। और जो मृत्तिका का ध्रौव्य है वही कुम्भ का उत्पाद और मृत्पिण्ड का व्यय है, क्योंकि व्यतिरेको के अन्वय का उल्लघन नही है, और यदि ऐसा न माना जाय

तो ऐसा सिद्ध होगा कि उत्पाद अन्य है, व्यय अन्य है, ध्रौव्य अन्य है। (अर्थात् तीनों पृथक्-पृथक् है, ऐसा मानने का प्रसंग आजायगा।) ऐसा होने पर (क्या दोष आता है, सो समझाते है)—केवल उत्पाद-अन्वेषक को कुंभ की (व्यय और ध्रौव्य से भिन्न मात्र उत्पाद को जानने वाले व्यक्ति को कुंभ की), उत्पादन के (उत्पत्ति के) कारण का अभाव होने से, उत्पत्ति ही नहीं मिलेगी, अथवा असत् का ही उत्पाद होगा। और वहां, (१) यदि कुम्भ की उत्पत्ति न होगी तो समस्त ही भावो की उत्पत्ति ही न होगी। (अर्थात् जैसे कुम्भ की उत्पत्ति नही होगी, उसही प्रकार विश्व के किसी भी द्रव्य में किसी भी भाव का उत्पाद नही होगा, यह दोष आयगा), अथवा (२) यदि असत् का उत्पाद हो, तो आकाश के पुष्प इत्यादि का भी उत्पाद होगा, (अर्थात् शून्य मे से पदार्थ उत्पन्न होने लगेगे,—यह दोष आएगा।) और, केवल व्यय को आरम्भ करने वाले (उत्पाद और ध्रौव्य से रहित केवल व्यय करने को उद्यत) मृतपिण्ड का, व्यय के कारण का अभाव होने से, व्यय ही नही होगा, अथवा सत् का ही उच्छेद होगा। वहां, (१) यदि मृत्पिण्डका व्यय न होगा तो समस्त ही भावो का व्यय ही नही होगा, (अर्थात् जैसे मृत्तिकापिण्डका व्यय नही होगा उसी प्रकार विश्व के किसी भी द्रव्य में किसी भी भाव का व्यय ही नहीं होगा,—यह दोष आएगा), अथवा (यदि सत् का उच्छेद होगा तो चैतन्य इत्यादि का भी उच्छेद हो जाएगा, (अर्थात् समस्त द्रव्यों का सम्पूर्ण नाश हो जायेगा,—यह दोष आयगा।) और केवल ध्रौव्य को प्राप्त करने को जाने वाली मृत्तिका का, व्यतिरेक सहित ध्रौव्य का अन्वय (मृत्तिका) अभाव होने से, ध्रौव्य ही नही होगा, अथवा क्षणिक का ही नित्यत्व आजायगा। वहां (१) मृत्तिका का ध्रौव्य न हो तो समस्त ही भावों का ध्रौव्य ही नहीं होगा, (अर्थात् यदि मिट्टी ध्रुव न रहे तो मिट्टी की ही भांति विश्व का कोई भी द्रव्य ध्रुव ही नही रहेगा—यह दोष आयगा।) अथवा (२) यदि क्षणिक का नित्यत्व हो तो चित्त के क्षणिक-भावो का भी नित्यत्व होगा, (अर्थात् मन का प्रत्येक विकल्प भी त्रैकालिक ध्रुव हो जाय यह दोष आयेगा।) इसलिये उत्तर उत्तर व्यतिरेको की उत्पत्ति के साथ, पूर्व पूर्व व्यतिरेको के संहार के साथ और अन्वय के अवस्थान (ध्रौव्य) के साथ अविनाभाव वाला, जिसका निर्विघ्न (अबाधित) त्रिलक्षणतारूप चिह्न प्रकाशमान है, ऐसा द्रव्य अवश्य मानने योग्य है ॥१००॥

मिथ्यात्वपर्याय के भंगरूप सम्यक्त्व के उपादानकारण के अभाव में शुद्धात्मा की अनुभूति की रुचि रूप सम्यक्त्व का उत्पाद हो जावे तो उपादानकारण से रहित आकाश के पुष्पों का भी उत्पाद हो जावे सो ऐसा नहीं हो सकता है। इसी तरह पर-द्रव्य उपादेय है—ग्राह्य है, ऐसे मिथ्यात्व का नाश पूर्व में कहे हुए सम्यक्त्व पर्याय के उत्पाद विना नहीं होता है क्योंकि भग के कारण का अभाव होने से भग नहीं बनेगा जैसे घटकी उत्पत्ति के अभाव में मिट्टी के पिंड का नाश नहीं बनेगा। दूसरा कारण यह है कि सम्यक्त्व रूप पर्याय की उत्पत्ति मिथ्यात्व रूप पर्याय के अभाव रूप से ही देखने मे आती है क्योकि एक पर्याय का अन्य पर्याय मे पलटना होता है। जैसे घट पर्याय की उत्पत्ति मिट्टी के पिंड के अभाव रूप से ही होती है। यदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति की अपेक्षा के बिना मिथ्यात्व पर्याय का अभाव होता है, ऐसा माना जाय तो मिथ्यात्वपर्याय का अभाव हो ही नही सकता क्योंकि अभाव के कारण का अभाव है अर्थात् उत्पाद नहीं है। जैसे घट की उत्पत्ति के बिना मिट्टी के पिड का अभाव नहीं हो सकता इसी तरह परमात्मा की रुचि-रूप सम्यक्त्व का उत्पाद तथा उससे विपरीत मिथ्यात्वपर्याय का नाश ये दोनों बाते इन नोनो के आधारभूत परमात्म-रूप द्रव्य पदार्थ के बिना नहीं होती। क्योंकि द्रव्य के अभाव मे व्यय और उत्पाद का अभाव है। मिट्टी द्रव्य के अभाव होने पर न घट की उत्पत्ति होती है, न मिट्टी के पिड का भंग होता है। जैसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वपर्याय दोनो में परस्पर अपेक्षापना है ऐसा समझकर ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों दिखलाए गए हैं। इसी तरह सर्व द्रव्य की पर्यायों में देख लेना व विचार लेना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥१००॥

अथोत्पादादीनां द्रव्यादर्थान्तरत्वं संहरति—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे[1] हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥१०१॥

उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्ययेषु पर्यायां।
द्रव्ये हि सन्ति नियत तस्माद्द्रव्य भवति सर्वम् ॥१०१॥

उत्पादव्ययध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुन पर्याया द्रव्यमालम्बन्ते। ततः समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम्। द्रव्यं हि तावत्पर्यायैरालम्ब्यते। समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत्। यथा हि समुदायी पादपः स्कन्धमूलशाखासमुदायात्मकः

१ दव्व (ज० वृ०)।

स्कन्धमूलशाखाभिरालम्बित एव प्रतिभाति, तथा समुदायि द्रव्यं पर्यायसमुदायात्मकं पर्यायैरालम्बितमेव प्रतिभाति। पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्याणामंशधर्मत्वात् बीजांकुरपादपत्ववत्। यथा किलांशिनः पादपस्य बीजांकुरपादपत्वलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पाद—ध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति, तथांशिनो द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिता. सममेव प्रतिभान्ति। यदि पुनर्भङ्गोत्पादध्रौव्याणि द्रव्यस्यैवेष्यन्ते तदा समग्रमेव विप्लवते। तथाहि भंगे तावत् क्षणभङ्गकटाक्षितानामेकक्षण एव सर्वद्रव्याणां संहरणाद्द्रव्यशून्यतावतारः सदुच्छेदो वा। उत्पादे तु प्रतिसमयोत्पादमुद्रितानां प्रत्येकं द्रव्याणामानन्त्यमसदुत्पादो वा। ध्रौव्ये तु क्रमभुवां भावानामभावाद्द्रव्यस्याभावः क्षणिकत्वं वा। अत उत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्तां पर्यायाः पर्यायैश्च द्रव्यमालम्ब्यतां, येन समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं भवति ॥१०१॥

भूमिका—अब, उत्पादादि का द्रव्य से अर्थान्तरत्व को नष्ट करते है, (अर्थात् यह सिद्ध करते है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से पृथक् पदार्थ नही हैं)—

अन्वयार्थ—[उत्पाद-स्थिति-भङ्गा.] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [पर्यायेपु] पर्यायो मे (अशो मे) [विद्यन्ते] रहते है [हि] निश्चय से [पर्याया.]पर्याये [द्रव्ये हि सन्ति] द्रव्य मे होती है, [तस्मात्] इसलिये [नियत] नियम से [सर्वं] वह सव (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) [द्रव्य भवति] द्रव्य है।

टीका—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वास्तव में पर्यायों (अंशों) को आलम्बन करते है, और वे पर्याये द्रव्य को आलम्बन करती है, इसलिये यह सब द्रव्य ही है, द्रव्यान्तर नही (उत्पाद व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं है) वास्तव में प्रथम तो द्रव्य पर्यायों के (अंशों) के द्वारा आलम्बित किया जाता है, क्योंकि समुदायी (समुदायवान्) समुदाय स्वरूप होता है। वृक्ष की भांति जैसे समुदायी वृक्ष, स्कंधमूल और शाखाओं का समुदाय स्वरूप होने से स्कंध, मूल और शाखाओं से आलम्बित ही प्रतिभासित होता है (दिखाई देता है), इस ही प्रकार समुदायी द्रव्य, पर्यायों का समुदाय स्वरूप होने से पर्यायों के द्वारा आलम्बित ही प्रतिभासित होता है। (अर्थात् जैसे स्कंध, मूल और शाखायें वृक्षाश्रित ही है—वृक्ष से भिन्न पदार्थ रूप नही हैं, उस ही प्रकार पर्याये द्रव्याश्रित ही है—द्रव्य से भिन्न पदार्थ रूप नही है।) और पर्याये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के द्वारा आलम्बित है (अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं) क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के अंश–धर्मपना

है, बीज, अंकुर और वृक्षत्व की भांति। जैसे अंशीवृक्ष के बीज वृक्षत्व स्वरूप तीन अंश, व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप निज धर्मों से आलम्बित एक साथ ही भासित होते है, उसी प्रकार अंशी-द्रव्य के, नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव, और अवस्थित रहने वाला भाव यह है लक्षण जिनके ऐसे तीनो अंश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप निज धर्मों के द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते है। किन्तु यदि द्रव्य का ही (१) व्यय, (२) उत्पाद और (३) ध्रौव्य माना जाय तो सारी गड़बड़ी हो जायेगी। यथा (१) अकेले, यदि द्रव्य का ही व्यय माना जाय, तो क्षण भग से लक्षित समस्त द्रव्यों का एक क्षण मे ही व्यय हो जाने से द्रव्य शून्यता आ जायगी, अथवा सत् का उच्छेद हो जायगा। (यदि द्रव्य का ही उत्पाद माना जाय, तो समय-समय पर होने वाले उत्पाद के द्वारा चिन्हित द्रव्यों की अनन्तता आ जायगी। (अर्थात् समय-समय पर होने वाला उत्पाद जिसका चिन्ह हो ऐसा प्रत्येक द्रव्य अनन्त द्रव्यत्व को प्राप्त हो जायगा) अथवा असत् का उत्पाद हो जायगा, (३) यदि द्रव्य का ही ध्रौव्य माना जाय तो क्रमशः होने वाले भावों के अभाव के कारण द्रव्य का अभाव हो जायगा, अथवा क्षणिकत्व आ जायगा। इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के द्वारा पर्यायें आलम्बित हों, और पर्यायों के द्वारा द्रव्य आलम्बित हो, कि जिससे यह सब एक ही द्रव्य होता है ॥१०१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्येण सह परस्पराधाराधेयभावत्वादन्वयद्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यमेव भवतीत्युपदिशति,—

उप्पादट्ठिदिभंगा विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वनिर्विकारस्वसवेदनज्ञानरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे स्वसवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भङ्ग, तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपेण स्थितिरित्युक्त-लक्षणास्त्रयो भङ्गा कर्तार **विज्जते** विद्यन्ते तिष्ठन्ति। केषु ? **पज्जएसु** सम्यक्त्वपूर्वकनिर्विकारस्व-सवेदनज्ञानपर्याये तावदुत्पादस्तिष्ठति स्वसवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भगस्तदुभयाधारात्म-द्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण ध्रौव्य चेत्युक्तलक्षणस्वकीयस्वकीयपर्यायेषु **पज्जाया दव्व हि संति** ते चोक्त-लक्षणज्ञानाज्ञानतदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्याया हि स्फुट द्रव्य सन्ति **णियद** निश्चित प्रदेशा-भेदेपि स्वकीयस्वकीयसज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेन **तम्हा दव्व हवदि सव्व** यतो निश्चयाधाराधेयभावेन तिष्ठन्त्युत्पादादयस्तस्मात्कारणादुत्पादादित्रय स्वसवेदनज्ञानादिपर्यायत्रय चान्वयद्रव्यार्थिकनयेन सर्व द्रव्य भवति। पूर्वोक्तोत्पादादित्रयस्य तथैव स्वसवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयस्य चानुगताकारेणान्वयरूपेण यदाधारभूत तदन्वयद्रव्य भण्यते, तद्विषयो यस्य स भवत्यन्वयद्रव्यार्थिकनय। यथेव ज्ञानाज्ञानपर्यायद्वये भगत्रय व्याख्यात तथापि सर्वद्रव्यपर्यायेषु यथासभव ज्ञातव्यमित्यभिप्राय ॥१०१॥

उत्थानिका—आगे यह बताते है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य का द्रव्य के साथ परस्पर आधार—आधेय भाव है इसलिये अन्वय रूप द्रव्यार्थिकनय से वे द्रव्य ही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(उप्पादट्ठिदिभगा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (पज्जएसु) पर्यायों मे (विज्जंते) रहते है। (पज्जाया) पर्याये (णियदं हि) निश्चय से ही (दव्वं) द्रव्य मे (संति) रहती है। (तम्हा) इस कारण से (सव्वं) वे सब पर्याये (दव्वं) द्रव्य (हवदि) है। (वृत्तिकार सम्यग्दर्शन पर्याय का दृष्टांत देखकर बताते है कि) विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव रूप आत्मतत्व निर्विकार स्वसंवेदनज्ञान रूप से उत्पाद, उसी ही समय मे स्वसवेदनज्ञान से विलक्षण अज्ञान पर्याय रूप से व्यय तथा इन दोनों का आधारभूत आत्मद्रव्यपने की अवस्था रूप से ध्रौव्य ऐसे ये तीनों ही भेद पर्यायों में रहते है अर्थात् सम्यक्त्व-पूर्वक निर्विकार स्वसंवेदनज्ञान पर्याय से उत्पाद है तथा स्वसवेदन–रहित अज्ञान पर्याय रूप से व्यय तथा इन दोनों का आधार रूप आत्मद्रव्यपने की अवस्था रूप से ध्रौव्य अपनी-अपनी पर्यायो में रहते है। और ये ऊपर कहे हुए लक्षण सहित जो ज्ञान, अज्ञान और इन दोनों का आधार रूप आत्म-द्रव्यपना ऐसी ये पर्यायें निश्चय करके अपने-अपने संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि के भेद से भेद रूप है तथापि आत्मा के प्रदेशों में होने से अभेद रूप है इसलिये जब निश्चय से ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य आधार—आधेयभाव से द्रव्य में रहते है तब यह स्वसंवेदनज्ञान आदि पर्याय रूप उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों अन्वय द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य है। पूर्व कथित उत्पाद आदि तीनों का तैसे ही स्वसंवेदनज्ञान आदि तीनों पर्यायों का अनुगत आकार से व अन्वय रूप से जो आधार हो सो अन्वय द्रव्य कहलाता है। अन्वय द्रव्य जिसका विषय हो उसको अन्वय द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। जैसे यहां ज्ञान अज्ञान पर्यायों में तीन भेद कहे गये तैसे ही सर्व द्रव्य की पर्यायों मे यथा सम्भव जान लेना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥१०१॥

अथोत्पादादीनां क्षणभेदमुदस्य द्रव्यत्वं द्योतयति—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०२॥

समवेत खलु द्रव्य सभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः।
एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्य खलु तत्त्रितयम् ॥१०२॥

इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षण: स जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च नाशक्षणः स तूत्पद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षण स्थितिक्षणश्च न भवति। इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति। अवतरत्येवं यदि

द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तत्तु नाभ्युपगतम्। पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः। तथाहि—यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः। तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षण.। यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनी द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते। यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव न खल्वर्थान्तरम् ॥१०२॥

भूमिका—अब उत्पादिकों के समय-भेद को निराकृत करके, (उनके) द्रव्यपने को (एक ही द्रव्य है) प्रगट करते है—

अन्वयार्थ—[द्रव्य] द्रव्य [एकस्मिन् च एव समये] एक ही समय मे [सभवस्थितिनाशसज्ञितार्थै.] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थो के साथ [खलु] वास्तव मे [समवेत] एकमेक है, [तस्मात्] इसलिये [तत् त्रितय] यह त्रितय [खलु] वास्तव मे [द्रव्य] द्रव्य है।

टीका—(प्रथम शंका उपस्थित की जाती है) यहां (विश्व मे) वस्तु का जो जन्मक्षण है वह जन्म से ही व्याप्त होने से स्थितिक्षण और नाशक्षण नही है, (वह पृथक् ही होता है), जो स्थितिक्षण है वह दोनों के अन्तराल में (उत्पादक्षण और नाशक्षण के बीच) दृढतया रहता है, इसलिये (वह) जन्मक्षण और नाशक्षण नही है, वह, वस्तु उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर फिर नाश को प्राप्त होती है इसलिये,—जन्मक्षण और स्थितिक्षण नही है,—इस प्रकार तर्क-पूर्वक विचार करने पर उत्पादादि का क्षणभेद हृदयभूमि में अवतरित होता है (अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समय भिन्न-भिन्न होता है, एक नही होता, इस प्रकार की बात हृदय में जमती है।)

यहां उपरोक्त शंका का समाधान किया जाता है—इस प्रकार उत्पादादि का क्षणभेद हृदयभूमि में तभी उतर सकता है, जब कि यह माना जाय कि 'द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही ध्रुव रहता है और स्वय ही नाश को प्राप्त होता है। किन्तु ऐसा तो माना

नही गया है, (क्योंकि यह स्वीकार और सिद्ध किया गया है कि) पर्यायों के उत्पाद आदि है, (तब फिर) वहाँ क्षणभेद कहाँ से हो सकता है ? यह समझाते है—जैसे कुम्हार, दण्ड, चक्र और चीवर से आरोपित किये जाने वाले संस्कार की उपस्थिति में जो वर्धमान (घड़ा) का जन्मक्षण होता है वही मृत्तिकापिण्ड का नाशक्षण होता है, और वही दोनों कोटियों (उत्पाद-व्यय) में रहने वाले मृत्तिकात्व का स्थितिक्षण होता है, इसी प्रकार अन्तरंग (उपादान) और बहिरंग (निमित्त) साधनों से आरोपित किये जाने वाले संस्कारों की उपस्थिति मे, जो उत्तरपर्याय का जन्मक्षण होता है, वही पूर्व-पर्याय का नाशक्षण होता है और वही दोनों कोटियों (उत्पाद-व्यय) मे रहने वाले द्रव्यत्वका स्थितिक्षण होता है ।

जैसे रामपात्र में, मृत्तिकापिण्ड में और मृत्तिकात्व मे प्रत्येक में (क्रमशः) बताते हुये भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रिस्वभावस्पर्शी मृत्तिका में सम्पूर्णतया (सभी एकत्रित) एक समय में ही देखे जाते है, इसी प्रकार उत्तर—पर्याय में, और पूर्वपर्याय में, और द्रव्यत्व मे प्रत्येक मे (क्रमशः) प्रवर्तमान होने पर भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्य में सम्पूर्णतया (तीनों एकत्रित) एक समय में ही देखे जाते है और जैसे रामपात्र, मृतिकापिण्ड तथा मृत्तिकात्व में प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही है, अन्य, अन्य वस्तु नही है, उसी प्रकार उत्तर–पर्याय, पूर्व–पर्याय और द्रव्यत्व में प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही है, अन्य पदार्थ नही ॥१०२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादादीना पुनरपि प्रकारान्तरेण द्रव्येण सहाभेद समर्थयति समयभेद च निराकरोति—

समवेद खलु दव्व समवेतमेकीभूतमभिन्न भवति खलु स्फुट । कि ? आत्मद्रव्य । कै सह ? **सभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहि** सम्यक्त्वज्ञानपूर्वकनिश्चलनिर्विकारनिजात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रपर्यायेणोत्पाद तथैव रागादिपरद्रव्यैकत्वपरिणतिरूपचारित्रपर्यायेण नाशस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण स्थितिरित्युक्तलक्षणसज्ञित्वोत्पादव्ययध्रौव्यै सह । तर्हि कि वौद्धमतवद्भिन्नभिन्नसमये त्रय भविष्यति ? नैव । **एकम्मि चेव समये** अगुलिद्रव्यस्य वक्रपर्यायवत्ससारिजीवस्य मरणकाले ऋजुगतिवत् क्षीणकषायचरमसमये केवलज्ञानोत्पत्तिवदयोगिचरमसमये मोक्षवच्चेत्येकस्मिन्समय एव । **तम्हा दव्व खु तत्तिदय** यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेणैकसमये भगत्रयेण परिणमति तस्मात्सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशानामभेदात्त्रयमपि खु स्फुट द्रव्य भवति । यथेद चारित्राचारित्रपर्यायद्वये भगत्रयमभेदे दर्शित तथा सर्वद्रव्यपर्यायेष्ववबोद्धव्यमित्यर्थ ॥१०२॥

एवमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपलक्षणव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयेण तृतीयस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे फिर भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य का अन्य प्रकार मे द्रव्य के साथ अभेद दिखाते है और उत्पाद व्यय ध्रौव्य का समय भेद नही है, ऐसा वताते है व जो समयभेद माने उसका निराकरण करते है या खण्डन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दव्व) द्रव्य (खलु) निश्चय से (एकम्मि चेव समये) एक ही समय में परिणमन करने वाले (संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं) उत्पाद स्थिति व नाश के भावों से (समवेदं) एक रूप है अर्थात् अभिन्न है (तम्हा) इसलिये (दव्व) द्रव्य (खु) प्रगट रूप से (तत्तिदयं) उन तीन रूप है।

आत्मा नामा द्रव्य जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक निश्चल और विकार-रहित अपने आत्मा के अनुभवमय लक्षण वाले वीतरागचारित्र की अवस्था से उत्पन्न होता है अर्थात् जब सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी आत्मा मे वीतरागचारित्र की पर्याय का उत्पाद होता है तब ही रागादिरूप पर्याय का जो परद्रव्यो के साथ एकता करके परिणमन कर रहा था, नाश होता है और उसी समय इन दोनों उत्पाद और व्यय के आधाररूप आत्मा द्रव्य की अवस्थारूप पर्याय से ध्रौव्यपना है। इस तरह वह आत्मद्रव्य अपने ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य की पर्यायो से एक रूप है या अभिन्न है। यही बात निश्चय से है। ये तीनों पर्यायें बौद्धमत की तरह भिन्न-भिन्न समय मे नही होती है किन्तु एक ही समय में होती है। जैसे जब अंगुली को टेढा किया जावे तब एक ही समय मे टेढ़ेपने की उत्पत्ति और सीधेपन का नाश तथा अंगुलीपने का ध्रौव्य है। इसी तरह जब कोई संसारी जीव मरण करके ऋजुगति से एक ही समय में जाता है तब जो समय मरण का है वही समय ऋजुगति प्राप्ति का है तथा वह जीव अपने जीवपने से विद्यमान है ही। तैसे ही जब क्षीणकषाय नाम के बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है तब ही अज्ञानपर्याय का नाश होता है तथा वीतरागी आत्मा की स्थिति है ही। इसी तरह जब अयोगकेवली के अन्त समय मे मोक्ष होता है तब जिस समय मोक्ष पर्याय का उत्पाद है तब ही चौदहवे गुणस्थान की पर्याय का नाश है तथा दोनों ही अवस्थाओं मे आत्मा ध्रुवरूप है ही। इस तरह एक ही समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध होते है। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि से भेद होते हुए भी प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है, इसलिये द्रव्य प्रगट रूप से उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जैसे यहां आत्मा मे चारित्र पर्याय की उत्पत्ति और अचारित्रपर्याय का नाश समझाते हुए तीनों ही भंग अभेदपने से दिखाए गए है, ऐसे ही सर्व द्रव्यो की पर्यायों मे भी जानना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥१०२॥

इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप द्रव्य का लक्षण है। इस व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाओ मे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव [1]पणट्ठ ण उप्पण्णं ।।१०३।।

प्रादुर्भवति चान्य पर्याय पर्यायो व्येति अन्य ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्य नैव प्रणष्ट नोत्पन्नम् ।।१०३।।

इह हि यथा किलैकस्त्र्यणुकः समानजातीयोऽनेकद्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यश्चतुरणुकः प्रजायते, ते तु त्रयश्चत्वारो वा पुद्गला अविनष्टानुत्पन्ना एवावतिष्ठन्ते । तथा सर्वेपि समानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च । समानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । यथा चैको मनुष्यत्वलक्षणोऽसमानजातीयो द्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यस्त्रिदशत्वलक्षणः प्रजायते तौ च जीवपुद्गलौ अविनष्टानुत्पन्नावेवावतिष्ठेते, तथा सर्वेऽप्यसमानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च असमानजातीति द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । एवमात्मना ध्रुवाणि द्रव्यपर्यायद्वारेणोत्पादव्ययीभूतान्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्याणि भवन्ति ।।१०३।।

भूमिका—अब, द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को अनेक (एक से अधिक) द्रव्यों से होने वाली पर्याय द्वारा विचार करते है—

अन्वयार्थ—[द्रव्यस्य] द्रव्य की [अन्य पर्याय.] अन्य द्रव्य पर्याय [प्रादुर्भवति] उत्पन्न होती है [च] और [अन्य पर्याय] कोई अन्य द्रव्य पर्याय [व्येति] नष्ट होती है, [तदपि] फिर भी [द्रव्य] द्रव्य [प्रणष्ट न एव] न तो नष्ट होता है, [उत्पन्नं न] न उत्पन्न होता है । (वह तो द्रव्यपने से ध्रुव रहता है ।)

टीका—यहां (विश्व मे) वास्तव मे जैसे एक त्रि-अणुक की समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय विनष्ट होती है और दूसरी चतुरणुक (समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय) उत्पन्न होती है, परन्तु वे तीन या चार पुद्गल (परमाणु) तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं (ध्रुव हैं) इसी प्रकार सब ही समानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट होती है, किन्तु समानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते है (ध्रुव है) और, जैसे एक मनुष्यत्वस्वरूप असमानजातीय द्रव्य-पर्याय विनष्ट होती है और दूसरी देवत्वस्वरूप (असमानजातीय द्रव्य-पर्याय) उत्पन्न होती है, परन्तु वे जीव पुद्गल तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं, इसी प्रकार सब ही असमानजातीय द्रव्य-पर्याये विनष्ट होती है और उत्पन्न होती है,

---

१ य णट्ट (ज० वृ०)

परन्तु असमान-जातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते है। इस प्रकार स्वतः (द्रव्यत्वेन) ध्रुव और द्रव्य-पर्यायों द्वारा उत्पाद-व्ययरूप द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य है ॥१०३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्याणि दर्शयति,—

पाडुब्भवदि य प्रादुर्भवति च जायते **अण्णो** अन्य कश्चिदपूर्वानन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूत शाश्वतिक । स क ? **पज्जाओ** परमात्मावाप्तिरूप स्वभावद्रव्यपर्याय **पज्जओ वयदि अण्णो** पर्यायो व्यातिविनश्यति । कथभूत ? अन्य पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूत । कस्य सम्बन्धी पर्याय ? **दव्वस्स** परमात्मद्रव्यस्य **तपि दव्वं** तदपि परमात्मद्रव्य **णेव य णट्ठं ण उप्पण्ण** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नैव नष्ट न चोत्पन्नम् ।

अथवा ससारिजीवापेक्षया देवादिरूपो विभावद्रव्यपर्यायो जायते मनुष्यादिरूपो विनश्यति तदेव जीवद्रव्य निश्चयेन न चोत्पन्न न च विनष्ट, पुद्गलद्रव्य वा द्व्यणुकादिस्कन्धरूपस्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाणा विनोशोत्पादेपि निश्चयेन न चोत्पन्न न च विनष्टमिति । तत स्थित यत कारणादुत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण द्रव्यपर्यायाणा विनाशोत्पादेऽपि द्रव्यस्य विनाशो नास्ति, तत कारणाद्द्रव्यपर्याया अपि द्रव्यलक्षण भवन्तीत्यभिप्राय ॥१०३॥

उत्थानिका—आगे इस बात को दिखलाते है कि द्रव्य मे पर्यायो की अपेक्षा उत्पाद व्यय ध्रौव्य है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वस्स) द्रव्य की (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पर्याय (पाडुब्भवदि) प्रगट होती है (य) और (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पूर्व पर्याय (वयदि) नष्ट होती है (तपि) तोभी (दव्व) द्रव्य (णेव पणट्ठण उप्पण्ण) न तो नाश हुआ है और न उत्पन्न हुआ है।**

शुद्ध आतमा द्रव्य के जब कोई अपूर्व और अनन्तज्ञान सुख आदि गुणो के स्थान तथा अविनाशी परमातम–स्वरूप की प्राप्तिरूप स्वभाव द्रव्य-पर्याय अथवा मोक्ष-अवस्था प्रगट होती है तब इस मोक्ष-पर्याय से भिन्न तथा निश्चय रत्नत्रयमयी निर्विकल्प समाधिरूप मोक्ष पर्याय की उपादानकारणरूप पूर्व पर्याय नाश होती है। तथापि वह परमातमा द्रव्य शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा न नष्ट होता है न उत्पन्न होता है।

अथवा संसारी जीव की अपेक्षा जब देव आदि रूप विभाव-द्रव्य-पर्याय उत्पन्न होती है तब ही मनुष्य आदि रूप पर्याय नष्ट होती है। तथा वह जीव द्रव्य निश्चय से न उपजा है, न विनष्ट है। इसी तरह पुद्गल द्रव्य पर जब विचार किया जाय तो मालूम होगा कि दो अणु का स्कन्ध, चार अणु का स्कन्ध आदि स्कन्धरूप स्वजातीय विभाव-द्रव्य पर्याय जब कोई उत्पन्न होती है तब पूर्व पर्याय को नाश करके ही पैदा होती है। तो भी

पुद्‌गल द्रव्य निश्चय से न उपजता है न नष्ट होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होने के कारण द्रव्य की पर्यायों का नाश और उत्पाद होने पर भी द्रव्य का नाश नही होता है। इस हेतु से द्रव्य-पर्यायें भी द्रव्य लक्षण होती है, ऐसा अभिप्राय है ॥१०३॥

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुन दव्वमेव[1] त्ति ॥१०४॥

परिणमति स्वय द्रव्य गुणतश्च गुणान्तर सदविशिष्टम्।
तस्माद् गुणपर्याया भणिता पुन द्रव्यमेवेति ॥१०४॥

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः, गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात्। एकद्रव्यत्वं हि तेषां सहकारफलवत्। यथा किल सहकारफलं स्वयमेव हरितभावात् पाण्डुभावं परिणमत्पूर्वोत्तरप्रवृत्तहरितपाण्डुभावाभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं हरितपाण्डुभावाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव वस्तु न वस्त्वन्तरं, तथा द्रव्यं स्वयमेव पूर्वावस्थावस्थितिगुणादुत्तरावस्थावस्थितगुणं परिणमत्पूर्वोत्तरावस्थावस्थिगुणाभ्यां ताभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव द्रव्यं न द्रव्यान्तरम्। यथैव चोत्पद्यमानं पाण्डुभावेन, व्ययमानं हरितभावेनावतिष्ठमानं सहकारफलत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकवस्तुपर्यायद्वारेण सहकारफलं तथैवोत्पद्यमानमुत्तरावस्थावस्थितगुणेन, व्ययमानं पूर्वावस्थावस्थितगुणेनावतिष्ठमानं द्रव्यत्वगुणेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण द्रव्यं भवति ॥१०४॥

भूमिका—अब, द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक पर्याय के द्वारा विचार करते हैं—

अन्वयार्थ—[सदविशिष्ट] सत् से अभिन्न [द्रव्य स्वय] द्रव्य स्वय ही [गुणतः च गुणान्तर] गुण से गुणान्तररूप (एक गुणपर्याय से अन्य गुण पर्याय रूप) [परिणमते] परिणमता है, (द्रव्य की सत्ता गुण पर्यायो की सत्ता के साथ अविशिप्ट अभिन्न एक ही रहती है) [तस्मात् पुन] और इस कारण से [गुणपर्याया.] गुणपर्यायें [द्रव्यम् एव] द्रव्य ही है [इति भणिता.] ऐसा कहा गया है।

टीका—जो एक द्रव्य की पर्यायें है वह वास्तव में गुण-पर्यायें है, क्योंकि गुण-पर्यायो के एक द्रव्यत्व है। उनका द्रव्यत्व आम्रफल की भांति है। जैसे आम्रफल स्वयं ही हरितभाव से पीतभावरूप परिणत होता हुआ, प्रथम और पश्चात् प्रवर्तमान हरितभाव

---

१ दव्वमेवेत्ति। (ज० वृ०)।

और पीतभाव के द्वारा अपनी सत्ता का अनुभव करता है, इसलिये हरितभाव और पीतभाव के साथ अभिन्न सत्ता वाला होने से एक ही वस्तु, अन्य वस्तु नही, इसी प्रकार द्रव्य स्वयं ही पूर्व अवस्था में अवस्थित गुण मे से उत्तर अवस्था में अवस्थित गुणरूप परिणत होता हुआ, पूर्व और उत्तर अवस्था में अवस्थित उन गुणों के द्वारा अपनी सत्ता का अनुभव करता है, इसलिये पूर्व और उत्तर अवस्था में अवस्थित गुणों के साथ अभिन्न सत्ता वाला होने से एक ही द्रव्य है, द्रव्यान्तर नही है (अन्य द्रव्य नही है)।

जैसे पीतभाव से उत्पन्न होता है, हरितभाव से नष्ट होता है, और आम्रफल रूप से स्थिर रहता है, इसलिए आम्रफल एक वस्तु की पर्याय के द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है, उसी प्रकार उत्तर अवस्था मे अवस्थित गुण से उत्पन्न, पूर्व अवस्था मे अवस्थित गुण से नष्ट और द्रव्यत्व गुण से स्थिर होने से द्रव्य पर्याय के द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है ॥१०४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याणिगुणपर्यायमुख्यत्वेन प्रतिपादयति—

परिणमदि सयं दव्वं परिणमति स्वय स्वयमेवोपादानकारणभूत जीवद्रव्य कर्तृ । क परिणमति ? **गुणदो य गुणंतर** निरुपरागस्वसवेदनज्ञानगुणात्केवलज्ञानोत्पत्तिवीजभूतात्सकाशात्सकलविमलकेवलज्ञान-गुणान्तर । कथंभूत सत्परिणमति ? **सदविसिट्ठं** स्वकीयस्वरूपत्वाच्चिद्रूपास्तित्वादविशिष्टमभिन्न । **तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेवत्ति** तस्मात्कारणान्न केवल पूर्वसूत्रोदिता द्रव्यपर्याया द्रव्य भवन्ति, गुणरूपपर्याया गुणपर्याया भण्यन्ते तेपि द्रव्यमेव भवन्ति । अथवा ससारिजीवद्रव्य मतिस्मृत्यादिविभावगुण त्यक्त्वा श्रुतज्ञानादिविभावगुणान्तर परिणमति, पुद्‌गलद्रव्य वा पूर्वोक्तशुक्लवर्णादिगुण त्यक्वा रक्तादिगुणान्तर परिणमति हरितगुण त्यक्त्वा पाण्डुरगुणान्तरमाम्रफलमिवेति भावार्थ ॥१०४॥

एव स्वभावविभावरूपा द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च नयविभागेन द्रव्यलक्षण भवन्ति इतिकथन-मुख्यतया गाथाद्वयेन चतुर्थस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप को गुण पर्याय की मुख्यता से बताते है ।

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(सदविसिट्ठं) अपनी सत्ता से अभिन्न (दव्वं) द्रव्य (गुणदो) एक गुण से (गुणंतरं) अन्य गुणरूप (सयं) स्वयं आप ही (परिणमदि) परिणमन कर जाता है । (तम्हा) इस कारण से (य पुण) ही तब (गुणपज्जाया) गुणो की पर्याये (दव्वमेवेत्ति) द्रव्य ही है ऐसी (भणिया) कही जाती हैं ।**

एक जीव द्रव्य अपने चैतन्य स्वरूप से अभिन्न रहकर अपने ही उपादानकारण से आप ही केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीज जो वीतराग स्वसंवेदन गुणरूप अवस्था उसको

छोड़कर सर्व प्रकार से निर्मल केवलज्ञान गुण की अवस्था को परिणमन कर जाता है इस कारण से जो गुण की पर्याये होती है वे भी द्रव्य ही है, पूर्व सूत्र में कहे प्रमाण केवल द्रव्य-पर्याये ही द्रव्य नही है अथवा संसारी-जीव-द्रव्य मति स्मृति आदि विभावज्ञानगुण की अवस्था को छोड़कर श्रुतज्ञानादि विभावज्ञानगुण रूप अवस्था को परिणमन कर जाता है ऐसा होकर भी जीव द्रव्य ही है। अथवा पुद्गल द्रव्य अपने पहले के सफेद वर्ण आदि गुण पर्याय को छोड़कर लाल आदि गुण पर्याय में परिणमन करता है ऐसा होकर भी पुद्गल द्रव्य ही है। अथवा आम का फल अपने हरे गुण को छोड़कर वर्ण गुण की पीत पर्याय में परिणमन कर जाता है तो भी आम्र फल ही है। इस तरह यह भाव है कि गुण की पर्याये भी द्रव्य ही है ॥१०४॥

इस तरह स्वभावरूप या विभावरूप द्रव्य की पर्याये तथा गुणों की पर्याये नय की अपेक्षा से द्रव्य का लक्षण है। ऐसे कथन की मुख्यता से दो गाथाओं से चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वे युक्तिमुपन्यस्यति—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं ।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥१०५॥

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुव भवति तत्कथ द्रव्यम् ।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्य स्वय सत्ता ॥१०५॥

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा भवति। तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत्। सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत्। स्वरूपतस्तु सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत्। सत्तातोऽपृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत्। ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनान्यत्वात् ॥१०५॥

भूमिका—अब, सत्ता और द्रव्य के अभिन्नपने मे (प्रदेश भेद न होने मे) युक्ति उपस्थित करते है—

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [द्रव्य] द्रव्य [सत् न भवति] (स्वरूप मे ही) सत् न हो तो+

+सत्ता का कार्य इतना ही है कि वह द्रव्य को विद्यमान रखे। यदि द्रव्य सत्ता से भिन्न रहकर भी स्थिर रहे तो फिर सत्ता का प्रयोजन ही नही रहता, अर्थात् सत्ता के अभाव का प्रसग आ जायगा।

(१) [ध्रुव असत् भवति] निश्चित असत् होगा, [तत् कथ द्रव्य] (जो असत् होगा) वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् नही हो सकता) [पुनः वा] अथवा [यदि असत् न हो) तो (२) [अन्यत् भवति] वह सत्ता से अन्य [पृथक्] होगा ? (सो भी कैसे हो सकता है ?) [तस्मात्] इसलिये [द्रव्य स्वय] द्रव्य स्वय ही [सत्ता] सत्ता रूप है ।

टीका—**यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो उसकी दो गति यह होंगी कि वह (१) असत् होगा, अथवा (२) सत्ता से पृथक् होगा। उनमे से यदि असत् होगा तो, ध्रौव्य के असम्भव होने से स्वय को स्थिर न रखता हुआ द्रव्य ही लोप हो जायगा, और (२) यदि सत्ता से पृथक् होगा तो सत्ता के बिना भी अपनी सत्ता रखता हुआ, इतने (द्रव्य की सत्ता रखने) मात्र प्रयोजन वाली सत्ता का लोप कर देगा।**

स्वरूप से ही सत् होता हुआ (१) ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं को स्थिर रखता हुआ, द्रव्य उदित होता है, (अर्थात् सिद्ध होता है), और (२) सत्ता से पृथक् रहकर (द्रव्य) स्वयं को स्थिर (विद्यमान) रखता हुआ, इतने ही मात्र प्रयोजन वाली सत्ता को उदित (सिद्ध) करता है।

इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) रूप से स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि भाव और भाववान् (द्रव्य) का अपृथक्त्व द्वारा अन्यत्व है (प्रदेश भेद न होते हुये संज्ञा-सख्या लक्षण आदि द्वारा अन्यत्व है ॥१०५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये पुनरपि प्रकारान्तरेण युक्ति दर्शयति,—

ण हवदि जदि सद्दव्व परमचैतन्यप्रकाशरूपेण स्वरूपेण स्वरूपसत्तास्तित्वगुणेन यदि चेत् सन्न भवति । कि कर्तृ ? परमात्मद्रव्य तदा **असद्धवं होदि** असदविद्यमान भवति ध्रुव निश्चित । अविद्यमान सत् **तं कहं दव्वं** तत्परमात्मद्रव्य कथ भवति ? किन्तु नैव । स च प्रत्यक्षविरोध । कस्मात् ? स्वसवेदनज्ञानेन गम्यमानत्वात् । अथाविचारितरमणीयन्यायेन सत्तागुणाभावेप्यस्तीति चेत् तत्र विचार्यते— यदि केवलज्ञानदर्शनगुणाविनाभूतस्वकीयस्वरूपास्तित्वात्पृथग्भूता तिष्ठति तदा स्वरूपास्तित्व नास्ति स्वरूपास्तित्वाभावे द्रव्यमपि नास्ति । अथवा स्वकीयस्वरूपास्तित्वात्सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि प्रदेशरूपेणाभिन्न तिष्ठति तदा समतमेव। अत्रावसरे सौगतमतानुसारी कश्चिदाह—सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्यमुपचारेणास्ति, न च मुख्यवृत्त्येति, । परिहारमाह—सिद्धपर्यायोपादानकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न सभवति । वृक्षाभावे फलमिव । अत्र प्रस्तावे नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—**हवदि पुणो अण्ण वा** तत्परमात्मद्रव्य भवति पुन किन्तु सत्ताया सकाशादन्यद्भिन्न भवति पश्चात्सत्तासमवायात्सद्भवति । आचार्या परिहारमाहु —सत्तासमवायात्पूर्वं द्रव्य सदसद्वा ? यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा पूर्वमेवास्तित्व तिष्ठति, अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमानद्रव्येण सह कथ सत्तासमवाय

करोति, करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्ताकर्तृसमवाय करोतु न च तथा। तम्हा दव्व सय सत्ता तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्य भवतीति। यथेद परमात्मद्रव्येण सह शुद्धचेतना-सत्ताया अभेदव्याख्यान कृत तथा सर्वेषा चेतनाचेतनद्रव्याणा स्वकीयस्वकीयसत्तया सहाभेदव्याख्यान कर्तव्यमित्यभिप्राय ॥१०५॥

उत्थानिका—आगे सत्ता और द्रव्य का अभेद है इस सम्बन्ध मे फिर भी अन्य प्रकार से युक्ति दिखलाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (सद्दव्व) सत्ता रूप द्रव्य (ण हवदि) नही होवे तो (तं दव्वं असद्‌द्धुव्वं कहं हवदि) वह द्रव्य निश्चय से असत्ता रूप होता हुआ किस तरह हो सकता है (वा पुणो अण्णं हवदि) अथवा फिर वह द्रव्य सत्ता से भिन्न हो जावे, क्योकि ये दोनो बाते नही हो सकती (तम्हा दव्वं सयं) सत्ता इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता स्वरूप है।

यहाँ वृत्तिकार परमात्म-द्रव्य पर घटाकर कहते है—यदि वह परमात्म द्रव्य परम-चैतन्य प्रकाशमयी स्वरूप से व अपने स्वरूप सत्ता के अस्तित्व गुण से सत् रूप न होवे तब वह निश्चय से नही होता हुआ किस तरह परमात्म द्रव्य हो सके ? अर्थात् परमात्म द्रव्य ही न होवे। यह बात प्रत्यक्ष से विरोध रूप है, क्योकि स्वसंवेदनज्ञान से अनुभव मे आता है। यदि कोई बिना विचारे ऐसा माने कि सत्ता से द्रव्य जुदा है तो उसकी अपेक्षा से, यदि द्रव्य सत्ता गुण के अभाव में भी रहता है ऐसा माना जावे तो क्या-क्या दोष आवेगे उसका विचार किया जाता है। यदि केवलज्ञान, केवलदर्शन गुणों के साथ अवश्य रहने वाले अपने स्वरूप की सत्ता से जुदा ही द्रव्य ठहर सकता है, ऐसा माना जावे तो जब उसके स्वरूप का अस्तित्व नही है तब अपने स्वरूप की सत्ता के विना द्रव्य नही रह सकता अर्थात् द्रव्य का ही अभाव मानना पड़ेगा। अथवा यदि ऐसा माना जाता है कि अपने-अपने स्वरूप के अस्तित्व से सत्ता और द्रव्य में संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजनादि की अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेशों की अपेक्षा भिन्नता नहीं है—एकता है, तब तो हमको भी सम्मत है क्योकि द्रव्य का ऐसा ही स्वरूप है। इस अवसर पर बौद्ध मत के अनुसार कहने वाला तर्क करता है कि ऐसा मानना चाहिये कि सिद्ध पर्याय की सत्ता रूप से द्रव्य उपचार मात्र है, मुख्यता से नहीं है। इसका समाधान आचार्य करते है—कि यदि सिद्ध पर्याय का उपादानकारण रूप परमात्मा द्रव्य का अभाव होगा तो सिद्धपर्याय की सत्ता ही नहीं सम्भव है। जैसे वृक्ष के विना फल का होना सम्भव नहीं है। इसी प्रस्ताव मे नैयायिकमत के अनुसार कहने वाला कहता है कि परमात्मा द्रव्य

(१) [ध्रुव असत् भवति] निश्चित असत् होगा, [तत् कथं द्रव्यं] (जो असत् होगा) वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् नही हो सकता) [पुनः वा] अथवा [यदि असत् न हो) तो (२) [अन्यत् भवति] वह सत्ता से अन्य [पृथक्] होगा ? (सो भी कैसे हो सकता है ?) [तस्मात्] इसलिये [द्रव्य स्वय] द्रव्य स्वय ही [सत्ता] सत्ता रूप है ।

टीका—**यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो उसकी दो गति यह होंगी कि वह (१) असत् होगा, अथवा (२) सत्ता से पृथक् होगा। उनमें से यदि असत् होगा तो, ध्रौव्य के असम्भव होने से स्वयं को स्थिर न रखता हुआ द्रव्य ही लोप हो जायगा, और (२) यदि सत्ता से पृथक् होगा तो सत्ता के बिना भी अपनी सत्ता रखता हुआ, इतने (द्रव्य की सत्ता रखने) मात्र प्रयोजन वाली सत्ता का लोप कर देगा।**

स्वरूप से ही सत् होता हुआ (१) ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं को स्थिर रखता हुआ, द्रव्य उदित होता है, (अर्थात् सिद्ध होता है), और (२) सत्ता से पृथक् रहकर (द्रव्य) स्वयं को स्थिर (विद्यमान) रखता हुआ, इतने ही मात्र प्रयोजन वाली सत्ता को उदित (सिद्ध) करता है।

इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) रूप से स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि भाव और भाववान् (द्रव्य) का अपृथक्त्व द्वारा अन्यत्व है (प्रदेश भेद न होते हुये संज्ञा-सख्या लक्षण आदि द्वारा अन्यत्व है ॥१०५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये पुनरपि प्रकारान्तरेण युक्ति दर्शयति,—

ण हवदि जदि सद्दव्वं परमचैतन्यप्रकाशरूपेण स्वरूपेण स्वरूपसत्तास्तित्वगुणेन यदि चेत् सन्न भवति। कि कर्तृ ? परमात्मद्रव्य तदा **असद्धवं होदि** असदविद्यमान भवति ध्रुव निश्चित। अविद्यमान सत् **त कहं दव्वं** तत्परमात्मद्रव्य कथ भवति ? किन्तु नैव। स च प्रत्यक्षविरोध । कस्मात् ? स्वसवेदनज्ञानेन गम्यमानत्वात्। अथाविचारितरमणीयन्यायेन सत्तागुणाभावेप्यस्तीति चेत् तत्र विचार्यते—यदि केवलज्ञानदर्शनगुणाविनाभूतस्वकीयस्वरूपास्तित्वात्पृथग्भूता तिष्ठति तदा स्वरूपास्तित्व नास्ति स्वरूपास्तित्वाभावे द्रव्यमपि नास्ति। अथवा स्वकीयस्वरूपास्तित्वात्सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि प्रदेशरूपेणाभिन्न तिष्ठति तदा समतमेव। अत्रावसरे सौगतमतानुसारी कश्चिदाह—सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्यमुपचारेणास्ति, न च मुख्यवृत्त्येति,। परिहारमाह—सिद्धपर्यायोपादानकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न सभवति। वृक्षाभावे फलमिव। अत्र प्रस्तावे नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—**हवदि पुणो अण्ण वा** तत्परमात्मद्रव्य भवति पुन किन्तु सत्ताया सकाशादन्यद्भिन्न भवति पश्चात्सत्तासमवायात्सद्भवति। आचार्या परिहारमाहु —सत्तासमवायात्पूर्वं द्रव्य सदसद्वा ? यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा पूर्वमेवास्तित्व तिष्ठति, अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमानद्रव्येण सह कथ सत्तासमवाय

करोति, करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्ताकर्तृ समवाय करोतु न च तथा। **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्य भवतीति। यथेद परमात्मद्रव्येण सह शुद्धचेतना-सत्ताया अभेदव्याख्यान कृत तथा सर्वेषा चेतनाचेतनद्रव्याणा स्वकीयस्वकीयसत्तया सहाभेदव्याख्यान कर्तव्यमित्यभिप्राय ।।१०५।।

उत्थानिका—आगे सत्ता और द्रव्य का अभेद है इस सम्बन्ध मे फिर भी अन्य प्रकार से युक्ति दिखलाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (सद्दव्व) सत्ता रूप द्रव्य (ण हवदि) नहीं होवे तो (तं दव्वं असद्द्धुव्वं कहं हवदि) वह द्रव्य निश्चय से असत्ता रूप होता हुआ किस तरह हो सकता है (वा पुणो अण्णं हवदि) अथवा फिर वह द्रव्य सत्ता से भिन्न हो जावे, क्योकि ये दोनों बाते नही हो सकतीं (तम्हा दव्वं सय) सत्ता इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता स्वरूप है।**

यहाँ वृत्तिकार परमात्म-द्रव्य पर घटाकर कहते है—यदि वह परमात्म द्रव्य परम-चैतन्य प्रकाशमयी स्वरूप से व अपने स्वरूप सत्ता के अस्तित्व गुण से सत् रूप न होवे तब वह निश्चय से नही होता हुआ किस तरह परमात्म द्रव्य हो सके? अर्थात् परमात्म द्रव्य ही न होवे। यह बात प्रत्यक्ष से विरोध रूप है, क्योंकि स्वसंवेदनज्ञान से अनुभव में आता है। यदि कोई बिना विचारे ऐसा माने कि सत्ता से द्रव्य जुदा है तो उसकी अपेक्षा से, यदि द्रव्य सत्ता गुण के अभाव में भी रहता है ऐसा माना जावे तो क्या-क्या दोष आवेगे उसका विचार किया जाता है। यदि केवलज्ञान, केवलदर्शन गुणों के साथ अवश्य रहने वाले अपने स्वरूप की सत्ता से जुदा ही द्रव्य ठहर सकता है, ऐसा माना जावे तो जब उसके स्वरूप का अस्तित्त्व नही है तब अपने स्वरूप की सत्ता के बिना द्रव्य नही रह सकता अर्थात् द्रव्य का ही अभाव मानना पड़ेगा। अथवा यदि ऐसा माना जाता है कि अपने-अपने स्वरूप के अस्तित्व से सत्ता और द्रव्य में संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजनादि की अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेशों की अपेक्षा भिन्नता नहीं है—एकता है, तब तो हमको भी सम्मत है क्योंकि द्रव्य का ऐसा ही स्वरूप है। इस अवसर पर बौद्ध मत के अनुसार कहने वाला तर्क करता है कि ऐसा मानना चाहिये कि सिद्ध पर्याय की सत्ता रूप से द्रव्य उपचार मात्र है, मुख्यता से नहीं है। इसका समाधान आचार्य करते है—कि यदि सिद्ध पर्याय का उपादानकारण रूप परमात्मा द्रव्य का अभाव होगा तो सिद्धपर्याय की सत्ता ही नहीं सम्भव है। जैसे वृक्ष के बिना फल का होना सम्भव नही है। इसी प्रस्ताव में नैयायिकमत के अनुसार कहने वाला कहता है कि परमात्मा द्रव्य

है किन्तु वह सत्ता से भिन्न रहता है, पीछे सत्ता के समवाय (सम्बन्ध) से वह सत् होता है। आचार्य इस पर प्रति-शंका करते है कि सत्ता के समवाय के पूर्व द्रव्य सत् या असत् है? यदि सत् है तो सत्ता का समवाय वृथा है क्योंकि द्रव्य पहले से ही अपने अस्तित्व में है। यदि सत्ता के समवाय से पहले द्रव्य नहीं था तब आकाश पुष्प की तरह अविद्यमान उस द्रव्य के साथ किस तरह सत्ता का समवाय होगा? यदि कहो कि सत्ता का समवाय हो जावेगा, तब फिर आकाश पुष्प के साथ भी सत्ता का समवाय हो जावेगा, परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिए जैसे अभेदनय से शुद्ध स्वरूप की सत्ता रूप ही परमात्म द्रव्य के साथ शुद्ध चेतना स्वरूप सत्ता का अभेद व्याख्यान किया गया तैसे ही सर्व चेतन द्रव्यों का अपनी-अपनी सत्ता से अभेद व्याख्यान करना चाहिये। ऐसे ही अचेतन द्रव्यो का अपनी सत्ता से अभेद है, ऐसा समझना चाहिये ॥१०५॥

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि[1] सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं[2] ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्वमिति शासन हि वीरस्य।
अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम् ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम्। तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत्। तथाहि—यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः। एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति तल्लक्षणसद्भावात्। अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव। तथाहि—यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रिय-विषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्त शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभाव। तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति यत्तु किलानाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति, न खलु

1 पुधत्त (ज० वृ०)। २ कहमेक्क (ज० वृ०)।

साश्रित्यवर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः। अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात्। अपितु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थः ॥१०६॥

भूमिका—अब, पृथक्त्व का और अन्यत्व का लक्षण स्पष्ट करते है—

अन्वयार्थ—[प्रविभक्तदेशत्व] विभक्तप्रदेशत्व (भिन्न भिन्न प्रदेशपना) [पृथक्त्व] पृथक्त्व है, [इति हि] ऐसा निश्चित [वीरस्य शासन] वीर का उपदेश है। [अतद्भाव] अतद्भाव (उस रूप न होना) अन्यत्व है। (क्योकि) [न तत् भवत्] जो उस रूप न हो वह [कथ एक] एक कैसे हो सकता है? कथञ्चित् सज्ञा-सख्या-लक्षण आदि की अपेक्षा सत्ता द्रव्य रूप नही है, और द्रव्य सत्तारूप नही है। इसलिए वे एक नही है अर्थात् दोनो मे तद्भाव नही अतद्भाव है।

टीका—विभक्त (भिन्न) प्रदेशत्व पृथक्त्व का लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्य मे सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण और गुणी में विभक्त प्रदेशत्व का अभाव होता है,–शुक्लत्व और वस्त्र की भांति। वह इस प्रकार है कि जैसे जो ही शुक्लत्व के गुण के प्रदेश है वे ही वस्त्र के गुणी के (प्रदेश भेद नहीं है, इसी प्रकार जो ही सत्ता के गुण के (प्रदेश) है वे ही द्रव्य के गुणी के है, इसलिये उनमें प्रदेशभेद नही है। ऐसा होने पर भी उनमें (सत्ता और द्रव्य में) अन्यत्व है, क्योंकि (उनमें) अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है। अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। वह (अतद्भाव) तो सत्ता और द्रव्य के है ही, क्योकि गुण और गुणी के तद्भाव का अभाव होता है,–शुक्लत्व और वस्त्र की भांति। वह इस प्रकार है कि—जैसे जो निश्चय से एक चक्षुइन्द्रिय के विषय में आने वाला और अन्य सब इन्द्रियों के समूह को गोचर न होने वाला शुक्लत्व गुण है वह समस्त इन्द्रिय समूह को गोचर होने वाला वस्त्र नही है और जो समस्त इन्द्रिय–समूह को गोचर होने वाला वस्त्र है वह एक चक्षुइन्द्रिय के विषय में आने वाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियों के समूह को गोचर न होने वाला शुक्लत्व गुण नही है। इसलिये उनके सद्भाव का अभाव है इसी प्रकार, किसी के (द्रव्य के) आश्रय रहने वाली, निर्गुण (जिनके आश्रय अन्य गुण नही) एक गुण की बनी हुई, विशेषणरूप विधायक और वृत्तिस्वरूप (अस्तित्व रूप) जो सत्ता है वह किसी के आश्रय के बिना रहने वाला, गुणवाला, अनेक गुणो से निर्मित, विशेष्य, विधीयमान (अस्तित्व वाला) स्वरूप द्रव्य नही है, तथा जो किसी के आश्रय के बिना रहने वाला, गुणवाला, अनेक गुणों से निर्मित, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है वह किसी के आश्रित रहने वाली,

---

निर्गुण, एक गुण से निर्मित, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप सत्ता नहीं है, इसलिये उनके तद्भाव का अभाव है । इस कारण से ही, सत्ता और द्रव्य के कथंचित् अनर्थान्तरत्व (अभिन्नपदार्थत्व, अनन्यपदार्थत्व) है, तथापि उनके सर्वथा एकत्व होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योकि तद्भाव एकत्व का लक्षण है । जो उसरूप ज्ञात नही होता, वह (सर्वथा) एक कैसे हो सकता है ? (नही हो सकता) । परन्तु वह गुण और गुणी रूप से अनेक ही है, यह अर्थ है ॥१०६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पृथक्त्वलक्षण किमन्यत्वलक्षण च किमिति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्त पृथत्क्व भवति पृथक्त्वाभिधानो भेदो भवति । किंविशिष्ट ? प्रकर्षेण विभक्तप्रदेशत्व भिन्नप्रदेशत्व । किंवत् ? दण्डदण्डिवत् । इत्थम्भूत पृथत्क्व शुद्धात्म शुद्धसत्तागुणयोर्न घटते, कस्माद्धेतो ? भिन्नप्रदेशाभावात् । कयोरिव ? शुक्लवस्त्रशुक्लगुणयोरिव **इदि सासणं हि वीरस्स** इति शासनमुपदेश आज्ञेति । कस्य ? वीरस्य वीराभिधानान्तिमतीर्थंकरपरमदेवस्य **अण्णत्तं** तथापि प्रदेशाभेदेऽपि मुक्तात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोरन्यत्वभिन्नत्व भवति । कथम्भूत ? **अतब्भावो** अतद्भावरूप सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदस्वभावम् । यथाप्रदेशरूपेणाभे दस्तथा सज्ञादिलक्षणरूपेणाप्यभेदो भवतु को दोष इति चेत् ? नैवम् । **ण तब्भव होदि** तन्मुक्तात्मद्रव्य शुद्धात्मसत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदेऽपिसज्ञादि-रूपेण तन्मर्य न भवति **कहमेक्कं** तन्मयत्व हि किलैकत्वलक्षण सज्ञादिरूपेण तन्मय त्वभावमेकत्व किन्तु नानात्वमेव । यथेद मुक्तात्मद्रव्ये प्रदेशाभेदेऽपि सज्ञादिरूपेण नानात्व कथित तथैव सर्वद्रव्याणा स्व-कीयस्वकीयस्वरूपास्तित्वगुणेन सह ज्ञातव्यमित्यर्थ ॥१०६॥

उत्थानिका—आगे आचार्य पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पविभत्तपदेसत्तं) जिसमें प्रदेशों की अपेक्षा अत्यन्त भिन्नता हो (पुधतमिदि) वह पृथक्त्व है ऐसी (वीरस्स हि सासणं) श्री महावीर भगवान् की आज्ञा है । (अतब्भावो) स्वरूप की एकता का न होना (अण्णत्तम्) अन्यत्व है । (तब्भवं ण) ये सत्ता और द्रव्य एक स्वरूप नही है (कहमेक्कं होदि) अब किस तरह दोनों एक हो सकते है । जहां प्रदेशों की अपेक्षा एक दूसरे में अत्यन्त पृथक्पना हो अर्थात् प्रदेश भिन्न-भिन्न हो जैसे दण्ड और दण्डी मे भिन्नता है । इसको पृथक्त्व नाम का भेद कहते है । इस तरह पृथक्त्व या भिन्नपना शुद्ध आत्मद्रव्य का शुद्ध सत्ता गुण के साथ नही सिद्ध होता है क्योकि इनके परस्पर प्रदेश भिन्न-भिन्न नही है । जो द्रव्य के प्रदेश हैं वे ही सत्ता के प्रदेश है–जैसे शुक्ल वस्त्र और शुक्ल गुण का स्वरूप भेद है परंतु प्रदेश भेद नहीं है ऐसे गुणी और गुण के प्रदेश भिन्न-भिन्न नही होते । ऐसे श्रीवीर नाम के अंतिम तीर्थङ्कर परमदेव की आज्ञा है । जहां संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि से परस्पर स्वरूप की एकता नही है वहां अन्यत्व नाम का भेद है ऐसा अन्यत्व या भिन्नपना मुक्तात्मा द्रव्य और उसके शुद्ध सत्ता गुण मे है । यदि कोई कहे कि जैसे सत्ता और द्रव्य में प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है**

वैसे संज्ञादि लक्षण रूप से भी अभेद हो, ऐसा मानने से क्या दोष होगा ? इसका समाधान करते है कि ऐसा वस्तु स्वरूप नही है । वह मुक्तात्मा द्रव्य शुद्ध अपने सत्ता गुण के साथ प्रदेशों की अपेक्षा अभेद होते हुए भी संज्ञा आदि के द्वारा सत्ता और द्रव्य तन्मयी नहीं है । तन्मय होना ही निश्चय से एकता का लक्षण है किन्तु सज्ञादि रूप से एकता का अभाव है । सत्ता और द्रव्य में नानापना है । जैसे यहाँ मुक्तात्मा द्रव्य में प्रदेश के अभेद होने पर भी संज्ञादि रूप से नानापना कहा गया है, तैसे ही सर्व द्रव्यों का अपने-अपने स्वरूप, सत्ता गुण के साथ नानापना जानना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥१०६॥

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो ।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१०७॥

सद्द्रव्य सश्च गुण सश्चैव च पर्याय इति विस्तार ।
य खलु तस्याभाव स तदभावोऽतद्भाव ॥१९७॥

यथा खल्वेकं मुक्ताफलस्रग्दाम, हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकं द्रव्यं द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते । यथा चैकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्नः शुक्लो गुणः शुक्लो हारः शुक्लं सूत्रं शुक्लं मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते । तथैकस्य द्रव्यस्य सत्तागुण सद्द्रव्यं सद्गुणः सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते । यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं, यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वास न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वानिबन्धनभूतः । तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः ॥१०७॥

भूमिका—अब, अतद्भाव को उदाहरण पूर्वक स्पष्ट बतलाते है—

अन्वयार्थ—[सत्द्रव्य] 'सत्द्रव्य' [सत् च गुणः] 'सत्गुण' [च] और [सत् च एव पर्याय] 'सत् पर्याय' [इति] इस प्रकार [विस्तार] (सत्ता गुण का) विस्तार है । (उनमे परस्पर) [य. खलु] जो वास्तव मे [तस्य अभाव] उसका (उस रूप होने का) अभाव है (अर्थात् सत् का सर्वथा द्रव्य रूप, अन्य गुण रूप या पर्याय रूप होने का अभाव और इसी प्रकार द्रव्य का अन्य गुण का या पर्याय का सर्वथा सत् होने का अभाव है) [स] वह [तदभाव] उसका अभाव [अतद्भाव] अतद्भाव है ।

टीका—जैसे एक मोतियो की माला हार के रूप मे सूत्र (धागा) के रूप मे और

मोती के रूप में ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित की जाती है, उसी प्रकार एक द्रव्य–द्रव्य के रूप में, गुण के रूप में और पर्याय के रूप में–ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

और जैसे एक मोतियों की माला का शुक्लत्व गुण शुक्ल हार, शुक्ल धागा, और शुक्ल मोती,–यों तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है, उसी प्रकार से द्रव्य का सत्तागुण-सत् द्रव्य, सत्गुण और सत्पर्याय,–यों तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

तथा जैसे मोतियो की माला मे जो शुक्लत्व गुण है वह हार नही है, धागा नही है या मोती नही है, और जो हार, धागा या मोती है वह शुक्लत्व गुण नही है,—इस प्रकार एक दूसरे मे जो 'उसका अभाव, (अर्थात् 'तद्रूप होने का अभाव' है) वह 'तद्–अभाव' लक्षण वाला 'अतद्भाव' है, जो कि अन्यत्व का कारण है। इसी प्रकार एक द्रव्य में जो सत्ता गुण है वह द्रव्य नही है, अन्य गुण नही है, या पर्याय नहीं है, और जो द्रव्य अन्य गुण या पर्याय है वह सत्ता गुण नही है,– इस प्रकार एक-दूसरे मे जो 'उसका अभाव' (अर्थात् 'तद्रूप होने का अभाव' है) वह 'तद् अभाव' लक्षण वाला 'अतद्भाव, है जो कि अन्यत्व का कारण है"॥१०७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथातद्भाव विशेषेण विस्तार्य कथयति—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो सद्द्रव्य सश्च गुण सश्चैव पर्याय इति सत्ता-गुणस्य द्रव्यगुणपर्यायेषु विस्तार । तथाहि यथा मुक्ताफलहारे सत्तागुणस्थानीयो योऽसौ शुक्लगुण स प्रदेशाभेदेन कि कि भण्यते ? शुक्लो हार इति शुक्ल सूत्रमिति शुक्ल मुक्ताफलमिति भण्यते, यश्च हार सूत्र मुक्ताफल वा तैस्त्रिभि प्रदेशाभेदेनेन शुक्लो गुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिद । तद्भावस्येति कोर्थ ? हारसूत्रमुक्ताफलाना शुक्लगुणेन सह तन्मयत्व प्रदेशाभिन्नत्वमिति तथा मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ शुद्धसत्तागुण स प्रदेशाभेदेन कि कि भण्यते ? सत्तालक्षण परमात्मपदार्थ इति, सत्तालक्षण केवल-ज्ञानादिगुण इति, सत्तालक्षण सिद्धपर्याय इति भण्यते । यश्च परमात्मपदार्थ केवलज्ञानादिगुण सिद्ध-त्वपर्याय इति तैश्च त्रिभि शुद्धसत्तागुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम् ।

तद्भावस्येति कोऽर्थ ? परमात्मपदार्थकेवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वपर्यायाणा शुद्धसत्तागुणेन सज्ञा-दिभेदेपि प्रदेशैस्तन्मयत्वमपि **जो खलु तस्स अभावो** यस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्य खलु स्फुट सज्ञा-दिभेदविवक्षायामभाव **सो तदभावो** स पूर्वोक्तलक्षणस्तदभावो भण्यते । स च तदभाव कि भण्यते ? **"अतब्भावो"** तदभावस्तन्मयत्व । किञ्चातद्भाव सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थ ।

तद्यथा—यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्र वा मुक्ताफल वा, हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति । एव परस्पर प्रदेशा-भेदेऽपि योऽसौ सज्ञादिभेद स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तद्भावो भण्यते। स च तद्भाव पुनरपि

कि भण्यते ?अतद्भाव सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इति । तथा मुक्तजीवे योऽसौ शुद्धसत्तागुणस्तद्वाचकेन सत्ताशब्देन मुक्तजीवो वाच्यो न भवति केवलज्ञानादिगुणो वा सिद्धपर्यायो वा मुक्तजीवकेवलज्ञानादि-गुणसिद्धपर्यायैश्च शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवति । इत्येव परस्पर प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ सज्ञादिभेद सस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तदभावो भण्यते । स च तदभाव पुनरपि कि भण्यते ? अतद्-भाव सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थ । यथात्र शुद्धात्मनि शुद्धसत्तागुणेन सहाभेद स्थापितस्तथा यथासम्भव सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्य इत्यभिप्राय ॥१०७॥

उत्थानिका—आगे अन्यत्त्व का विशेष विस्तार के साथ कथन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सद्दव्वं) सत्ता रूप द्रव्य है। (सच्च गुणो) और सत्ता रूप गुण है, (सच्चेव पज्जओत्ति) तथा सत्ता रूप पर्याय है, ऐसा (वित्थारो) सत्ता का विस्तार है (खलु) निश्चय करके (तस्स अभावो) जो उस सत्ता का परस्पर अभाव है (सो तदभावो) वह उसका अभाव रूप (अतब्भावो) अन्यत्व है ।

जैसे मोती के हार में सत्ता गुण की जगह पर जो उसमें सफेदी का गुण है सो प्रदेशों की अपेक्षा एक रूप है तो भी उसको भेद करके इस तरह कहते है कि यह सफेद हार है, यह सफेद सूत है, यह सफेद मोती है तथा जो हार सूत या मोती है इन तीनो के साथ प्रदेशों का भेद न होते हुए सफेद गुण कहा जाता है यह एकता या तन्मय-पना का लक्षण है । तत्-अभाव का क्या अर्थ है ? हार सूत तथा मोती का शुक्ल गुण के साथ तन्मयपना या प्रदेशों का अभिन्नपना यह अर्थ है । तैसे मुक्त-आत्मा नाम के पदार्थ मे जो कोई शुद्ध सत्ता गुण है वह प्रदेशों के अभेद होते हुए इस तरह कहा जाता है—सत्ता लक्षण परमात्मा पदार्थ, सत्ता लक्षण केवलज्ञानादि गुण, सत्ता लक्षण सिद्ध पर्याय । जो कोई परमात्म पदार्थ व केवलज्ञानादि गुण व पर्याय है इन तीनो के साथ शुद्ध सत्ता गुण कहा जाता है, यह तद्भाव या एकता का लक्षण है ।

तद्भाव का क्या प्रयोजन है ? परमात्मा पदार्थ, केवलज्ञानादि गुण, सिद्धत्व पर्याय इन तीनो का शुद्ध सत्ता नामा गुण के साथ संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा भेद होते हुए भी और प्रदेशों की अपेक्षा तन्मयपना होते हुए भी, निश्चय करके जो इस तद्-भाव या एकता का संज्ञा सख्या आदि की अपेक्षा से परस्पर अभाव है उसको तद्भाव या उस एकता का अभाव या अतद्भाव या अन्यत्व कहते है । इस अन्यत्व का संज्ञा लक्षण प्रयोजनादि की अपेक्षा जो स्वरूप है उसको दृष्टांत देकर बताते है ।

जैसे मोती के हार मे जो कोई शुक्ल गुण है उसका वाचक जो शुक्ल नाम का दो अक्षर का शब्द है उस शब्द से हार या सूत्र या मोती कोई वाच्य नही है अर्थात् शुक्ल

शब्द से हार, सूत्र या मोती का ज्ञान नही होता है केवल सफेद गुण का ज्ञान होता है इसी तरह हार, सूत या मोती शब्दो से शुक्ल नही कहा जाता है। इस तरह हार, सूत तथा मोती के साथ शुक्ल गुण का प्रदेशों की अपेक्षा अभेद या एकत्त्व होने पर भी जो संज्ञा आदि का भेद है वह भेद पहले कहे हुए तद्भाव या तन्मयपने का अभाव रूप अतद्भाव है या अन्यत्त्व है अर्थात् सज्ञा लक्षण प्रयोजद आदि का भेद है। तैसे मुक्त जीव मे जो कोई शुद्ध सत्तागुण है उसको कहने वाले सत्ता शब्द से मुक्त जीव नही कहा जाता, न केवलज्ञानादि गुण कहे जाते है, न सिद्ध पर्याय कही जाती है और न मुक्त जीव केवल-ज्ञानादि गुण या सिद्ध पर्याय से शुद्ध सत्ता गुण कहा जाता है। इस तरह सत्ता गुण का मुक्त जीवादि के साथ परस्पर प्रदेशभेद न होते हुए भी जो संज्ञा आदिकृत भेद है वह भेद उस पूर्व में कहे हुए तद्भाव या तन्मयपने के लक्षण से रहित अतद्भाव या अन्यत्त्व कहा जाता है। अर्थात् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि-कृत भेद है, ऐसा अर्थ है। जैसे यहां शुद्धात्मा मे शुद्ध सत्ता गुण के साथ अभेद स्थापित किया गया, तैसे हो यथा-संभव सर्व द्रव्यो मे जानना चाहिये, यह अभिप्राय है—अर्थात् आत्मा का और सत्ता का प्रदेश की अपेक्षा अभेद है, मात्र संज्ञादि स्वरूप की अपेक्षा भेद या अन्यत्व है। ऐसा ही अन्य द्रव्यों मे समझना ॥१०७॥

अथ सर्वथाऽभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति—

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥१०८॥

यद्द्रव्य तन्न गुणो योऽपि गुण स न तत्त्वमर्थात्।
एप ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्ट ॥१०८॥

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येव यद्द्रव्यस्य गुण-रूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः। एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेर्न पुनर्द्र-व्यस्याभावो गुणो, गुणस्याभावो द्रव्यमित्येवंलक्षणोऽभावोऽतद्भाव, एवं सत्येकद्रव्यस्यानेकत्व-मुभयशून्यत्वमपोहरूपत्वं वा स्यात्। तथाहि—यथा खलु चेतनद्रव्यस्याभावोऽचेतनद्रव्य-मचेतनद्रव्यस्याभावश्चेतनद्रव्यमिति तयोरनेकत्वं, तथा द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येकस्यापि द्रव्यस्यानेकत्वं स्यात्। यथा सुवर्णस्याभावे सुवर्णत्वस्याभावः, सुवर्णत्व-स्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्य-

---

१ तण्ण (ज० वृ०)।

स्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात् । यथा पटाभावमात्र एव घटो घटाभावमात्र एव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं तथा द्रव्याभावमात्र एव गुणो गुणाभावमात्र एव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात् । ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वमशून्यत्वमनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ॥१०८॥

भूमिका—अब, सर्वथा अभाव अतद्भाव का लक्षण है, इसका निषेध करते है—

अन्वयार्थ—[अर्थात्] स्वरूपापेक्षा से [यत् द्रव्य] जो द्रव्य है [तत् न गुण·] वह गुण नही है, [य. अपि गुण·] और जो गुण है [सः न तत्त्व] वह द्रव्य नही है। [एष. हि अतद्भाव] यह ही वास्तव मे अतद्भाव है, [न एव अभाव.] (सर्वथा) अभाव रूप ही (अतद्भाव) नही है, [इति दिर्दिष्टः] इस प्रकार से (जिनेन्द्र देव द्वारा) निर्देश किया गया है ।

टीका—एक द्रव्य में जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है—इस प्रकार जो द्रव्य का गुण रूप से अथवा गुण का द्रव्य रूप से न होना है, वह अतद्भाव है । इतने से ही अन्यत्व व्यवहार (अन्यत्व रूप व्यवहार) सिद्ध होता है । (परन्तु) द्रव्य का अभाव गुण है, गुण का अभाव द्रव्य है—ऐसे लक्षण वाला अभाव अतद्भाव नही है । यदि ऐसा हो तो (१) एक द्रव्य को अनेकत्व (अनेक द्रव्यपना) आ जायगा, (२) उभय शून्यता दोनों का अभाव (हो जायगा,) अथवा (३) अपोहरूपता (एक दूसरे का अभाव मात्र होना) आ जायेगी । इसी को समझाते है—

(१) जैसे अचेतन द्रव्य का अभाव चेतन द्रव्य है (और) चेतन द्रव्य का अभाव अचेतन द्रव्य है—इस प्रकार उनके अनेकत्व (द्वित्व) है, उसी प्रकार द्रव्य का अभाव गुण, (और) गुण का अभाव द्रव्य है—इस प्रकार एक द्रव्य के भी अनेकत्व आ जायगा। (अर्थात् द्रव्य के एक होने पर भी, द्रव्य स्वयं एक पृथक् द्रव्य हो जायेगा और उसके गुणों मे से प्रत्येक गुण पृथक्-पृथक् द्रव्य बन जायेगे, इस प्रकार एक द्रव्य के अनेक द्रव्य बन जायेगे) ।

(२) जैसे सुवर्ण का अभाव होने पर सुवर्णत्व का अभाव हो जाता है, और सुवर्णत्व का अभाव होने पर सुवर्ण का अभाव हो जाता है—इस प्रकार उभय शून्यत्व हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य का अभाव होने पर गुण का अभाव और गुण का अभाव होने पर द्रव्य का अभाव हो जायेगा, इस प्रकार उभय शून्यता हो जायेगी । (अर्थात् द्रव्य तथा गुण दोनो के अभाव का प्रसग आ जावेगा) ।

(३) जैसे पटाभाव मात्र ही घट है, घटाभाव मात्र ही पट है, (अर्थात् वस्त्र के केवल अभाव जितना ही घट है, और घट का केवल अभाव जितना ही वस्त्र है)—इस प्रकार दोनों के अपोहरूपता है, उस ही प्रकार द्रव्याभाव मात्र ही गुण और गुणाभाव मात्र ही द्रव्य होगा, इस प्रकार इसमें भी (द्रव्य-गुण में भी) अपोहरूपता आ जायेगी, (अर्थात् केवल नकाररूपता का प्रसंग आ जायेगा।

इसलिये द्रव्य और गुण का एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व चाहने वाले को यथोक्त ही अतद्भाव मानना चाहिये ॥१०८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ गुणगुणिनो प्रदेशभेदनिषेधेन तमेव सज्ञादिभेदरूपमतद्भाव द्रढयति—

जं दव्वं तण्ण गुणो यद्द्रव्य स न गुण यन्मुक्तजीवद्रव्य स शुद्ध सन् गुणो न भवति। मुक्तजीव-द्रव्यशब्देन शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवतीत्यर्थ । **जोवि गुणो सो ण तच्चमत्थादो** योऽपि गुण स न तत्त्व द्रव्यमर्थत परमार्थत, य शुद्धसत्तागुण स मुक्तात्मद्रव्य न भवति शुद्धसत्ताशब्देन मुक्तात्मद्रव्य वाच्य न भवतीत्यर्थ । **एसो हि अतब्भावो** एष उक्तलक्षणो हि स्फुटमतद्भाव । उक्तलक्षण इति कोऽर्थ ? गुणगुणिनो सज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभाव **णेव अभावोत्ति णिद्दिट्ठो** नैवाभाव इति निर्दिष्ट । नैव अभाव इति कोऽर्थ ? यथा सत्तावाचकशब्देन मुक्तात्मद्रव्य वाच्य न भवति तथा यदि सत्ताप्रदेशै-रपि सत्तागुणात्सकाशाद्भिन्न भवति तदा यथा जीवप्रदेशेभ्य पुद्गलद्रव्य भिन्न सद्द्रव्यान्तर भवति तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो मुक्तजीवद्रव्य सत्तागुणाद्भिन्न सत्पृथग्द्रव्यान्तर प्राप्नोति। एव कि सिद्ध ? सत्तागुणरूप पृथग्द्रव्य मुक्तात्मद्रव्य च पृथगिति द्रव्यद्वय जात, न च तथा। द्वितीय च दूषण प्राप्नोति—यथा सुवर्णत्वगुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णस्याभावस्तथैव सुवर्णप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णत्वगुणस्याप्य-भाव, तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य मुक्तजीवद्रव्यस्याभावस्तथैव मुक्तजीवद्रव्यप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सत्तागुणस्याप्यभाव इत्युभयशून्यत्व प्राप्नोति। यथेव मुक्तजीवद्रव्ये सज्ञादिभेदभिन्नस्यातद्भावस्तस्य सत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदव्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु यथासम्भव ज्ञातव्यमित्यर्थ ॥१०८॥

एव द्रव्यस्यास्तित्वकथनरूपेण प्रथमगाथा पृथक्त्वलक्षणातद्भावविधानान्यत्वलक्षणयो कथनेन द्वितीया सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया तस्यैव दृढीकरणार्थ च चतुर्थीतिद्रव्यगुणयोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन पचमस्थल गतम्।

उत्थानिका—गुण और गुणी मे प्रदेश भेद नही है परन्तु सज्ञादि कृत भेद है इस तरह अन्यत्व को दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जं दव्वं) जो द्रव्य है (तण्ण गुणो) वह गुण नहीं है (जो वि गुणो) जो निश्चय से गुण है (सो अत्थादो ण तच्चं) वह स्वरूप के भेद से द्रव्य नही है (एसो हि अतब्भावो) ऐसा ही स्वरूप भेदरूप अन्यत्व है (णेव अभावोत्ति) निश्चय से सर्वथा अभाव नहीं है ऐसा (णिदिट्ठो) सर्वज्ञद्वारा कहा गया है।**

जो द्रव्य है सो स्वरूप से गुण नहीं है। जो मुक्त जीवद्रव्य है, वह शुद्ध सत्तागुण नही है उस मुक्त जीव द्रव्य शब्द से शुद्ध सत्ता गुण वाच्य नही होता है अर्थात् नहीं कहा जाता है। जो गुण है वह वास्तव में द्रव्य नही होता।

इसी तरह जो शुद्ध सत्ता गुण है वह परमार्थ से मुक्तात्मा-द्रव्य नहीं होता है। शुद्ध सत्ता शब्द से मुक्तात्मा द्रव्य नही कहा जाता। यही अतद्भाव का लक्षण है। इस तरह गुण और गुणी मे स्वरूप की अपेक्षा या संज्ञादि की अनेक्षा भेद है तो भी प्रदेशों का भेद नहीं है। इसमें सर्वथा एक का दूसरे मे अभाव नहीं है ऐसा सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है— यदि गुणी में गुण का सर्वथा अभाव माना जावे तो क्या-क्या दोष होंगे उनको समझाते है। जैसे सत्ता नाम के वाचक शब्द से मुक्तात्मा द्रव्य वाच्य नहीं होता तैसे यदि सत्ता के प्रदेशों से भी सत्तागुण के मुक्तात्म द्रव्य भिन्न हो जावे तब जैसे जीव के प्रदेशों से पुद्गल द्रव्य भिन्न होता हुआ अन्य द्रव्य है तैसे सत्ता गुण के प्रदेशों से सत्ता गुण से मुक्त जीव द्रव्य भिन्न होता हुआ भिन्न ही दूसरा द्रव्य प्राप्त हो जावे। तब यह सिद्ध होगा कि सत्तागुण रूप भिन्न द्रव्य और मुक्तात्मा द्रव्य भिन्न इस तरह दो द्रव्य हो जावेगे। सो ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। इसके सिवाय दूसरा दूषण यह प्राप्त होगा कि जैसे सुवर्णपना नामा गुण के प्रदेशों से सुवर्ण भिन्न होता हुआ अभाव रूप हो जाएगा जैसे ही सुवर्ण द्रव्य के प्रदेशो से सुवर्णपना गुण भिन्न होता हुआ अभाव रूप हो जायगा वैसे सत्ता गुण के प्रदेशों से मुक्त जीवद्रव्य भिन्न होता हुआ अभावरूप हो जाएगा, तैसे ही मुक्त जीव द्रव्य के प्रदेशों से सत्ता गुण भिन्न होता हुआ अभाव रूप हो जाएगा, इस तरह दोनों का शून्यपना प्राप्त हो जायगा। इस तरह गुणी और गुण का सर्वथा भेद मानने से दोष आजावेगे। जैसे जहां मुक्त जीव द्रव्य में सत्ता गुण के साथ संज्ञा आदि के भेद से अन्यपना है किन्तु प्रदेशों की अपेक्षा अभेद या एकपना है ऐसा व्याख्यान किया गया है तैसे ही सर्व द्रव्यो मे यथासम्भव जान लेना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥१०८॥

इस तरह द्रव्य के अस्तित्व को कथन करते हुए प्रथम गाथा, पृथकत्व लक्षण और अतद्भाव रूप अन्यत्व लक्षण को कहते हुए दूसरी गाथा, संज्ञा लक्षण प्रयोजनादि से भेदरूप अतद्भाव को कहते हुए तीसरी गाथा, उसी को दृढ़ करने के लिये चौथी गाथा, इस तरह द्रव्य और गुण मे अभेद है इस विषय मे युक्ति द्वारा कथन की मुख्यता से चार गाथाओं से पांचवां स्थल पूर्ण हुआ।

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति—

जो खलु दव्वसहावो[1] परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥१०९॥

य खलु द्रव्यस्वभाव परिणाम स गुण सदविशिष्ट ।
सदवस्थित स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ॥१०९॥

द्रव्यं हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहितः । य एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते । यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्टगुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः । स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्त्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावः सिद्धयति ॥१०९॥

भूमिका—अब, सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणित्व सिद्ध करते है—

अन्वयार्थ—[य खलु] जो वास्तव मे [द्रव्यस्वभाव परिणाम] द्रव्य का स्वभाव भूत (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक) परिणाम है [सः] वह [सदविशिष्ट गुण·] 'सत्' से अविशिष्ट (सत्ता से अभिन्न) गुण है । [स्वभावे अवस्थित] 'स्वभाव मे अवस्थित (होने से) [द्रव्य] द्रव्य [सत्] सत् है'—[इति अय जिनोपदेश] ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है ।

टीका—द्रव्य, स्वभाव में नित्य अवस्थित होने से, सत् है,—ऐसा पहले (९९वीं गाथा में) प्रतिपादित किया गया है, और (वहां) स्वभाव तो द्रव्य का परिणाम कहा गया है । यहां यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो ही द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है वह ही 'सत्' से अविशिष्ट (अस्तित्व से अभिन्न), गुण है ।

जो द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत अस्तित्व द्रव्यप्रधान कथन के द्वारा 'सत्' शब्द से कहा जाता है, उससे अविशिष्ट (उस अस्तित्व से अनन्य) गुणभूत ही द्रव्य स्वभावभूत परिणाम है, क्योंकि द्रव्य की वृत्ति (अस्तित्व) तीन प्रकार के समय को (भूत, भविष्यत, वर्तमान काल को) स्पर्शित करती है, (और) प्रतिक्षण उस स्वभावरूप परिणमन करने के कारण द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है । और वह (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम)

---

१ दव्वसहाओ (ज० वृ०) ।

अस्तित्वभूत द्रव्य की वृत्ति स्वरूप होने से, 'सत्' से अविशिष्ट, द्रव्यविधायक (द्रव्य का रचयिता) गुण ही है। इस प्रकार सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणी संबंध है ॥१०९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ सत्ता गुणो भवति द्रव्य च गुणी भवतीति प्रतिपादयति,—

जो खलु दव्वसहाओ परिणामो य खलु स्फुट द्रव्यस्य स्वभावभूत परिणाम पचेन्द्रियविषयानुभवरूपमनोव्यापारोत्पन्नसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालाभावे सति यश्चिदानन्दैकानुभूतिरूप स्वस्थभावस्तस्योत्पाद, पूर्वोक्तविकल्पजालविनाशो व्यय, तदुभयाधारभूत जीवत्व ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकजीवद्रव्यस्य स्वभावभूतो योऽसौ परिणाम. **सो गुणो** स गुणो भवति स परिणाम.। कथम्भूत सन्गुणो भवति ? **सदविसिट्ठो** सतोऽस्तित्वादविशिष्टोऽभिन्नस्तदुत्पादादित्रय तिष्ठत्यस्तित्व चैक तिष्ठत्यस्तित्वेन सह कथमभिन्नो भवतीतिचेत्। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" इति वचनात्। एव सति सत्तैव गुणो भवतीत्यर्थ । इति गुणव्याख्यानं गतम्। **सदवट्ठिदं सहावे दव्वत्ति** सदवस्थित स्वभावे द्रव्यमिति द्रव्य परमात्मद्रव्य । कि कर्तृ ? सदिति। केन ? अभेदनयेन। कथम्भूत ? सत् अवस्थित। क्व ? उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्वभावे **जिणोवदेसोयं** अय जिनोपदेश इति "सदवट्ठिद सहावे दव्व दव्वस्स जो हु परिणामो" इत्यादिपूर्वसूत्रे यदुक्त तदेवेद व्याख्यान, गुणकथन पुनरधिकमिति तात्पर्यम्। यथेद जीवद्रव्ये गुणगुणिनोर्व्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥१०९॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(खलु) निश्चय से (जो दव्वसहाओ परिणामो) जो द्रव्य का स्वभावमयी उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणाम है (सो सदविसिट्ठो गुणो) सो सत्ता से अभिन्न गुण है। (सहावे अवट्ठियं दव्व त्ति सत्) जो अस्तित्व स्वभाव में तिष्ठता है, वह द्रव्य है (जिणो-वदेसोयं) ऐसा श्री जिनेन्द्र का उपदेश है।**

जब आत्मा में पंचेंद्रिय के विषयों के अनुभव रूप मन के व्यापार से पैदा होने वाले सब मनोरथ रूप विकल्पजालों का अभाव हो जाता है, तब चिदानंद मात्र की अनुभूति रूप जो आत्मा में ठहरा हुआ भाव है उसका उत्पाद होता है और पूर्व मे कहे हुए विकल्पजाल का नाश सो व्यय है, तथा इस उत्पाद और व्यय दोनों का आधार रूप जीवपना ध्रौव्य है। इस तरह त्रयलक्षण वाले उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप जीव द्रव्य का जो कोई स्वभावभूत परिणाम है, वही सत्ता से अभिन्न गुण है। जीव में उत्पादादि तीन रूप परिणमन है सो ही सत्गुण है जैसा कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"। ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि सत्ता ही द्रव्य का गुण है। इस तरह सत्ता गुण का व्याख्यान किया गया। परमात्मा द्रव्य अभेदनय से अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप स्वभाव मे तिष्ठा हुआ सत् है, ऐसा श्री जिनेन्द्र का उपदेश है। "सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु

परिणामो" इत्यादि निन्यानवे गाथा में जो कहा था वही यहां कहा गया है। मात्र गुण का कथन किया गया है, यह तात्पर्य है। जैसा जीव द्रव्य में गुण और गुणी का व्याख्यान किया गया है वैसा सर्व द्रव्य मे जानना चाहिये ॥१०६॥

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति—

णत्थि गुणो त्ति [1]व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥११०॥

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम्।
द्रव्यत्व पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्य स्वय सत्ता ॥११०॥

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात्। यथा सुवर्णात्पृथग्भूत तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलत्वादिकमिति वा। अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वाख्यं यद्द्रव्यत्वं स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् कि हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते। न वर्तत एव। तर्हि द्रव्य सत्ताऽस्तु, स्वयमेव ॥११०॥

भूमिका—**अब, गुणी के अनेकत्व का (प्रदेश भेद सहित भिन्न-भिन्न पदार्थ होने का) खण्डन करते है—**

अन्वयार्थ—[इह] इस विश्व मे [द्रव्य बिना] द्रव्य के बिना (द्रव्य से प्रदेश भेद सहित पृथक्) [गुण इति] गुण ऐसी [वा] अथवा [पर्याय इति] पर्याय ऐसी [कश्चित्] कोई पदार्थ [नास्ति] नही है [पुन] और [द्रव्यत्व] अस्तित्व [भावः] स्वभावभूत गुण है, [तस्मात्] इसलिये [द्रव्य] द्रव्य [स्वय] आप ही [सत्ता] अस्तित्व रूप सत्ता है।

टीका—**वास्तव मे द्रव्य से पृथग्भूत (प्रदेश भेद रूप) ऐसा गुण या ऐसी पर्याय कोई भी नही है, जैसे—सुवर्ण से पृथग्भूत उसका पीलापन आदि या उसका कुण्डलत्वादि नही होता। अब, उस द्रव्य के स्वरूप की वृत्तिभूत जो, अस्तित्व नाम से कहा जाने वाला, द्रव्यत्व है वह वास्तव मे उसका 'भाव' नाम से कहा जाने वाला गुण ही होता हुआ क्या उस द्रव्य से पृथक्रूप से रहता है? (नही ही रहता)। तब फिर द्रव्य स्वयमेव सत्ता हो ॥११०॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ सह गुणपर्यायाभ्या सह द्रव्यस्याभेद दर्शयति—

णत्थि नास्ति न विद्यते। स क ? **गुणोत्ति य कोई** गुण इति कश्चित्। न केवल गुण **पज्जाओ-त्तीह** वा पर्यायो वेतीह। कथ ? **विणा** विना। कि विना ? **दव्व** द्रव्यमिदानी द्रव्य कथ्यते **दव्वत्त पुण**

---

१ य (ज० वृ०)।

भावो द्रव्यत्वभावो द्रव्यत्वमस्तित्व । तत्पुन कि भण्यते ? भाव । कोऽर्थ ? उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक-सद्भाव **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन सत्ता स्वयमेव द्रव्य भवतीति । तद्यथा—मुक्तात्मद्रव्ये परमावाप्तिरूपो मोक्षपर्याय केवलज्ञानादिरूपो गुणसमूहश्च येन कारणेन तद्द्वयमपि परमात्मद्रव्य विना नास्ति न विद्यते । कस्मात्प्रदेशाभेदादिति ? उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकशुद्धसत्तारूप मुक्तात्मद्रव्य भवति । तस्मादभेदेन सत्तैव द्रव्यमित्यर्थ । यथा मुक्तात्मद्रव्ये गुणपर्यायाभ्या सहाभेदव्याख्यान कृत तथा यथासम्भव सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥११०॥

एव गुणगुणिव्याख्यानरूपेण प्रथमगाथा द्रव्यस्य गुणपर्यायाभ्या सह भेदो नास्तीति कथनरूपेण-द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयेन षष्ठस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे गुण और पर्यायो से द्रव्य का अभेद दिखलाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(इह) **इस जगत् में (दव्वं विणा) द्रव्य के बिना कोई (गुणो त्ति पज्जाओ त्ति णत्थि) न कोई गुण होता है न कोई पर्याय होती है (पुण दव्वत्तं भावो) तथा द्रव्यपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप से परिणमनपना द्रव्य का स्वभाव है (तम्हा दव्वं सयं सत्ता) इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता रूप है ।**

मुक्तात्मा द्रव्य में केवलज्ञानादि रूप गुणों के समूह तथा परम पद की प्राप्ति रूप मोक्ष पर्याय ये दोनों ही परमात्मा द्रव्य के बिना नहीं पाए जाते क्योंकि गुण और पर्यायों का द्रव्य के प्रदेशों से भेद नहीं है किन्तु एकत्व है तथा मुक्तात्मा द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यमयी शुद्ध सत्तास्वरूप है । इसलिये अभेदनय से सत्ता ही द्रव्य है या द्रव्य ही सत्ता है । जैसे मुक्तात्मा द्रव्य में गुणपर्यायों के साथ अभेद व्याख्यान किया तैसे यथा सम्भव सर्व द्रव्यों में जान लेना चाहिये ॥११०॥

इस तरह गुण और गुणी का व्याख्यान करते हुए प्रथम गाथा तथा द्रव्य का अपने गुण व पर्यायों से भेद नही है ऐसा कहते हुए दूसरी गाथा इस तरह स्वतन्त्र दो गाथाओ से छठा स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोरविरोधं साधयति—

एवंविहं [1]सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा[2] लभदि[3] ॥१११॥

एवविध स्वभावे द्रव्य द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम् ।
सदसद्भावनिबद्ध प्रादुर्भाव सदा लभते ॥१११॥

एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधनं सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम् । स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयतायां सद्भावनिबद्ध एव स्यात् । पर्या-

---

१ एवविहसब्भावे (ज० वृ०) । २ सया (ज० वृ०) । ३ लहदि (ज० वृ०) ।

याभिधेयतायां त्वसद्भावनिबद्ध एव। तथाहि—यदा द्रव्यमेवाभिधीयते न पर्यायास्तदा प्रभवावसानवर्जिताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभि. प्रभवावसानलाञ्छना: क्रमप्रवृत्ता: पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ता: सक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भाव: हेमवत्। तथाहि—यदा हेमैवाभिधीयते नाङ्गदादय: पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविता: क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादिपर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ता: संक्रामतो हेम्न: सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भाव:। यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते न द्रव्यं तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभि: क्रमप्रवृत्ताभि: पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभि: प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्ती: संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भाव: हेमवदेव। तथाहि—यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम तदाङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभि: क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्ती: संक्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भाव:। अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पत्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्ना पर्यायान् द्रवीकुर्यु:, तथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरगंदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन्। द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तय: क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्यु:। तथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभि: क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकमापन्नाभिर्हेमांगदादिपर्यायमात्री क्रियेत। ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पाद: पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम् ॥१११॥

भूमिका—अब, द्रव्य के सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद होने मे अविरोध सिद्ध करते है—

अन्वयार्थ—[एवविध द्रव्यं] ऐसा (पूर्वोक्त) द्रव्य [स्वभावे] स्वभाव मे [द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्या] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो की अपेक्षा से [सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भाव] सद्भावसबद्ध और असद्भावसम्बद्ध उत्पाद को [सदा लभते] सदा प्राप्त करता है।

टीका—इस प्रकार यह यथोचित (पूर्वकथित) सर्वप्रकार से निर्दोष लक्षणवाला अनादिनिधन द्रव्य सत्स्वभाव मे उत्पाद को प्राप्त होता है। द्रव्य का यह उत्पाद द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सद्भावसंबद्ध ही है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा असद्भावसम्बद्ध ही है। इसे स्पष्ट समझाते है—

जब द्रव्य ही कहा जाता है, पर्यायें नहीं, तब उत्पत्ति-विनाश से रहित, युगपत् प्रवर्तमान द्रव्य को उत्पन्न करने वाली अन्वय शक्तियों के (गुणों के) द्वारा, उत्पत्ति विनाश लक्षण वाली, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेक व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले द्रव्य के सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है, सुवर्ण की भांति। जैसे—जब सुवर्ण ही कहा जाता है, बाजूबन्ध आदि पर्यायें नहीं, तब सुवर्ण जितनी स्थायी, युगपत् प्रवर्तमान, स्वर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियों के द्वारा, बाजूबन्ध इत्यादि पर्याय जितनी स्थायी, क्रमश प्रवर्तमान, बाजूबन्ध इत्यादि पर्यायों की उत्पादक उन उन व्यतिरेक व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले सुवर्ण के सद्भावसम्बद्ध ही उत्पाद है। (जो द्रव्य पूर्व पर्याय में था, वह ही अगली पर्याय को प्राप्त हुआ है, इस अपेक्षा से सत् का उत्पाद है)। और जब पर्यायें ही कही जाती है, द्रव्य नही, तब उत्पत्ति-विनाश जिनका लक्षण है ऐसी, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायों को उत्पन्न करने वाली उन उन व्यतिरेक व्यक्तियों के द्वारा उत्पत्ति-विनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त होने वाले द्रव्य के असद्भावसम्बद्ध ही उत्पाद है, सुवर्ण की ही भांति। यथा—जब बाजूबंधादि पर्यायें ही कही जाती है, स्वर्ण नही, तब बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितनी टिकने वाली, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायों की उत्पादक उन उन व्यतिरेक व्यक्तियों के द्वारा, सुवर्ण जितनी टिकने वाली, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त सुवर्ण के असद्भावयुक्त ही उत्पाद है। (जिस पर्याययुक्त अब नही है, इस अपेक्षा से असत् का उत्पाद है।)

अब, पर्यायों की अभिधेयता (अपेक्षा) के समय भी, असत्-उत्पाद में पर्यायों को उत्पन्न करने वाली वे वे व्यतिरेक व्यक्तियां, युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वय शक्तित्व को प्राप्त होती हुई, पर्यायों को, द्रव्य करती है (पर्यायों की विवक्षा के समय भी व्यतिरेक व्यक्तियां अन्वयशक्तिरूप बनती हुई पर्यायों को, द्रव्यरूप करती हैं), जैसे बाजूबंध आदि पर्यायों को उत्पन्न करने वाली वे-वे व्यतिरेकव्यक्तियां, युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तित्व को प्राप्त करती हुई, बाजूबन्ध इत्यादि पर्यायों को, सुवर्ण करती हैं। द्रव्य की अभिधेयता के समय भी, सत् उत्पादक अन्वयशक्तियां, क्रमप्रवृत्तिको प्राप्त करके उस उस व्यतिरेक व्यक्तित्व को होती हुई, द्रव्य को पर्यायरूप करती हैं, जैसे सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियां क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकत्व को प्राप्त होती हुई, सुवर्ण को बाजूबंधादि पर्यायमात्ररूप करती हैं। अत. द्रव्यार्थिक कथन में सत्–उत्पाद है,–यह बात अनवद्य (निर्दोष, अबाध्य) है ॥१११॥

सूचना—**इनको स्वयं ग्रन्थकार आगे स्पष्ट करते हैं।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां सदुप्पादासदुत्पादौ दर्शयति—

एवंविहसब्भावे एवंविधसद्भावे सत्तालक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं गुणपर्यायलक्षणं द्रव्यं चेत्येवंविधपूर्वोक्तसद्भावे स्थितं अथवा **एवंविहं सहावे** इति पाठान्तरम्। तत्रैवंविधं पूर्वोक्तलक्षणं स्वकीयसद्भावेस्थितं। किं ? **दव्वं** द्रव्यं कर्तृ। किं करोति ? **सया लहदि** सदासर्वकालं लभते। कं कर्मतापन्नं ? **पादुब्भावं** प्रादुर्भावमुत्पादं कथम्भूतं ? **सदसब्भावणिबद्धं** सद्भावनिबद्धमसद्भावनिबद्धं च। काभ्यां कृत्वा ? **दव्वत्थपज्जयत्थेहिं** द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यामिति। तथाहि—यथा यदा काले द्रव्यार्थिकनयेन विवक्षा क्रियते यदेव कटकपर्याये सुवर्णं तदेव कङ्कणपर्याये नान्यदिति, तदा काले सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत् ? द्रव्यस्य द्रव्यरूपेणाविनष्टत्वात्। यदा पुनः पर्यायविवक्षा क्रियते कटकपर्यायात् सकाशादन्यो यः कङ्कणपर्यायः सुवर्णसम्बन्धी स एव न भवति। तदा पुनरसदुत्पादः कस्मादिति चेत् ? पूर्वपर्यायस्य विनष्टत्वात्। तथा यदा द्रव्यार्थिकनयविवक्षा क्रियते य एव पूर्वं गृहस्थावस्थायामेवमेव गृहव्यापारं कृतवान् पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा स एवेदानीं रामादिकेवलीपुरुषो निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमात्मध्यानेनानन्तसुखामृततृप्तो जातः, न चान्य इति। तदा सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत्। पुरुषत्वेनाविनष्टत्वात्। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते। पूर्वं सरागावस्थायाः सकाशादन्योऽयं भरतसगररामपाण्डवादिकेवलिपुरुषाणां सम्बन्धी निरुपरागपरमात्मपर्यायः स एव न भवति। तदा पुनरसद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत् ? पूर्वपर्यायादन्यत्वादिति। यथेदं जीवद्रव्ये सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानं कृतं यथा सर्वद्रव्येषु यथासम्भवं ज्ञातव्यमिति ॥१११॥

उत्थानिका—आगे द्रव्य का द्रव्यार्थिकनय से सत् उत्पाद और पर्यायार्थिकनय से असत् उत्पाद दिखलाते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एवंविहं) इस तरह के (सब्भावे) स्वभाव रखते हुए (दव्वं) द्रव्य (दव्वत्थ पज्जयत्थेहिं) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से (सदसब्भावणिबद्धं) सद्भाव रूप और असद्भाव रूप (पादुब्भावं) उत्पाद को (सया लहदि) सदा ही प्राप्त होता रहता है।**

जैसे सुवर्ण द्रव्य मे जिस समय द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा की जाती है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से विचार किया जाता है, उस समय ही कटक रूप पर्याय मे जो सुवर्ण है वही सुवर्ण उसकी कंकण पर्याय में है—दूसरा नही है। इस अवसर पर सद्भाव उत्पाद ही है क्योकि द्रव्य अपने द्रव्य रूप से नष्ट नही हुआ किन्तु बराबर बना रहा और जब पर्याय मात्र की अपेक्षा से विचार किया जाता है तब सुवर्ण की जो पहले कटकरूप पर्याय थी उससे अब वर्तमान की कंकण रूप पर्याय भिन्न ही है। इस अवसर पर असत्

उत्पाद है क्योंकि पूर्व पर्याय नष्ट हो गई और नई पर्याय पैदा हुई। तैसे ही यदि द्रव्यार्थिकनय के द्वारा विचार किया जावे तो जो आत्मा पहले गृहस्थ अवस्था मे जो-जो गृह का व्यापार करता था वही पीछे जिनदीक्षा लेकर निश्चयरत्नत्रयमयी परमात्मा के ध्यान से अनन्त सुखामृत में तृप्त रामचंद्र आदि केवली पुरुष हुआ अन्य कोई नही—यह सत् उत्पाद है। क्योंकि पुरुष की अपेक्षा नष्ट नहीं हुआ। और जब पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा की जाती है तब पहली जो सराग-अवस्था थी उससे यह भरत, सगर, रामचद्र, पाडव आदि केवली पुरुषो की जो वीतरागपरमात्म-पर्याय है सो अन्य है, वही नहीं है—यह असत् उत्पाद है। क्योकि पूर्व पर्याय से यह अन्य पर्याय है। जैसे यहां जीव द्रव्य मे सत् उत्पाद और असत् उत्पाद का व्याख्यान किया गया तैसा सर्व द्रव्यों में यथासंभव जान लेना चाहिये ॥१११॥

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति—

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं [1]पजहदि ण [2]जहं अण्णो कहं होदि[3] ॥११२॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुन ।
कि द्रव्यत्व प्रजहाति न जहदन्य कथ भवति ॥११२॥

द्रव्यं हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव। यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः, तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव। ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः। तथाहि—जीवो द्रव्यं भवन्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति। स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति। यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात् ॥११२॥

भूमिका—अब, (सर्व पर्यायों मे द्रव्य अनन्य है अर्थात् द्रव्य वह ही रहता है—इसलिये उसके सत् उत्पाद है,—इस प्रकार) सत्-उत्पाद को अनन्यत्व के द्वारा निश्चित करते है—

अन्वयार्थ—[जीव] जीव [भवन्] परिणमित होता हुआ [नर] मनुष्य, [अमर.] देव [वा] अथवा [पर] अन्य (तिर्यंच, नारकी या सिद्ध) [भविष्यति] होगा, [पुन] परन्तु [भूत्वा] मनुष्य देवादि होकर [किं] क्या वह [द्रव्यत्व प्रजहाति] द्रव्यत्व

---

१ पचयदि इति पाठान्तरम्। २ जहदि (ज० वृ०) चयदि। ३ हवदि (ज० वृ०)।

को छोड देता है ? [न जहत्] नही छोडता हुआ वह [अन्यः कथ भवति] अन्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् वह अन्य नही, वह का वही है)।

टीका—**प्रथम तो द्रव्य, द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को कभी भी न छोड़ता हुआ, सत् ही है। द्रव्य के जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्ति का उत्पाद होता है, उसमे भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति का अच्युतपना होने से, द्रव्य अनन्य ही है, (अर्थात् उस उत्पाद मे भी अन्वयशक्ति अपतित अविनष्ट-निश्चल होने से द्रव्य वह ही है, अन्य नही।) इसलिये अनन्यत्व के द्वारा द्रव्य के सत्-उत्पाद निश्चित होता है, (अर्थात् उपरोक्त कथनानुसार द्रव्य का द्रव्यापेक्षा से, अनन्यत्व होने से, उसके सत्-उत्पाद है,—ऐसा अनन्यत्व के द्वारा सिद्ध होता है। जैसे—द्रव्य का विचित्र पर्यायो में व्यापार होने के कारण से, जीव, द्रव्य होता हुआ, नारकत्व, तिर्यचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व मे से किसी एक पर्यायरूप अवश्य ही (परिणत) होगा। (परन्तु) वह जीव उस पर्यायरूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड देता है ? नही छोड़ता यदि नही छोड़ता है तो अन्य कैसे हो सकता है, कि जिससे त्रिकोटि सत्ता (तीन प्रकार की सत्ता, त्रैकालिक अस्तित्व) जिसके प्रगट है ऐसा वह (जीव) वह ही न हो ? (अर्थात् तीनो काल मे विद्यमान वह जीव अन्य नही, वह ही है।) ॥११२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तमेव सदुत्पाद द्रव्यादभिन्नत्वेन विवृणोति,—

जीवो जीव कर्ता **भवं** भवन् परिणमन् सन् **भविस्सदि** भविष्यति तावत्। कि कि भविष्यति ? निर्विकारशुद्धोपयोगविलक्षणाभ्या शुभाशुभोपयोगाभ्या परिणम्य **णरोऽमरो वा परो** नरो देवो परस्तिर्यड्नारकरूपो वा निर्विकारशुद्धोपयोगेन सिद्धो वा भविष्यति **भवीय पुणो** एव पूर्वोक्तप्रकारेण पुनर्भवीय भूत्वापि। अथवा द्वितीयव्याख्यान। भवन् वर्तमानकालापेक्षया भविष्यति भाविकालापेक्षया भूत्वा चेति भूतकालापेक्षया कालत्रये चैव भूत्वापि **कि दव्वत्तं पजहदि** कि द्रव्यत्व परित्यजति ? **ण जहदि** द्रव्याथिकनयेन द्रव्यत्व न त्यजति द्रव्याद्भिन्नो न भवति। **अण्णो कह हवदि** अन्यो भिन्न कथ भवति ? किन्तु द्रव्यान्वयशक्तिरूपेण सद्भावनिवद्धोत्पाद स एवेति द्रव्यादभिन्न इति भावार्थ ॥११२॥

उत्थानिका—आगे पहले कहा हुआ सत् उत्पाद द्रव्य से अभिन्न है ऐसा खुलासा करते हैं—

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(जीवो) यह आत्मा (भव) परिणमन करता हुआ (णरोऽमरो वा परो) मनुष्य, देव या अन्य कोई (भविस्सदि) होवेगा (पुणो भवीय) तथा इस तरह होकर (कि दव्वत्तं पजहदि) क्या वह अपने द्रव्यपने को छोड़ बैठेगा ? (ण जहदि अण्णो कहं हवदि) नहीं छोड़ता हुआ वह भिन्न कैसे होवेगा ? अर्थात् द्रव्यपने से अन्य नहीं**

होगा। यह परिणमन स्वभाव जीव विकार रहित शुद्धोपयोग से विलक्षण शुभ या अशुभ उपयोग से परिणमन करके मनुष्य, देव, पशु या नारकी अथवा निर्विकार शुद्धोपयोग में परिणमन करके सिद्ध हो जावेगा। इस प्रकार होकर के भी अथवा वर्तमान काल में होता हुआ भाविकाल मे होगा व भूतकाल मे हुआ था इस तरह तीनों कालों मे पर्यायों को बदलता हुआ भी क्या अपने द्रव्यपने को छोड़ देता है? द्रव्यार्थिकनय से द्रव्यपने को कभी नही छोड़ता है तब अपनी अनेक भिन्न-भिन्न पर्यायों मे दूसरा कैसे हो सकता है? अर्थात् दूसरा नही होता किन्तु द्रव्य को अन्वयरूपशक्ति से सद्भाव उत्पाद रूप वही अपने द्रव्य से अभिन्न है, यह भावार्थ है ॥११२॥

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति—

मणुवो ण होदि[1] देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं[2] लहदि ॥११३॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा।
एवमभवन्ननन्यभाव कथं लभते ॥११३॥

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव। यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्ते पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव। ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पादः। तथाहि—न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात् न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात्। एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात्। येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादिविकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात् ॥११३॥

भूमिका—अब, असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते है—

अन्वयार्थ—[मनुज] मनुष्य [देव न भवति] देव नही है, [वा] अथवा [देवः] देव [मानुष वा सिद्ध वा] मनुष्य या सिद्ध नहीं है, [एव अभवन्] इस प्रकार (मनुष्य, देवादिक या देव, मनुष्यादिक) न होता हुआ [अनन्यभाव कथ लभते] अनन्यभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है?

---

१ मणुओ ण हवदि (ज० वृ०)। २ कह (ज० वृ०)।

टीका—पर्याये, पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति के काल में ही सत् (विद्यमान) होने से, उससे अन्य कालो में असत् (अविद्यमान) ही हैं। पर्यायो का द्रव्यत्वभूत अन्वय-शक्ति के साथ गुंथा हुआ (एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्वकाल मे उत्पाद होता है, उसमे, पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति का पहले असत्त्व होने से, पर्यायें अन्य है। इसलिये पर्यायों की अन्यता के द्वारा, पर्यायो के स्वरूप का कर्ता, करण और अधि-करण होने से पर्यायो से अपृथक्भूत द्रव्य का असत्-उत्पाद निश्चित होता है। जैसे—मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है, और देव, मनुष्य या सिद्ध नही है, ऐसा न होता हुआ अनन्य (वह का वही) कैसे हो सकता है, कि जिससे अन्य हो न हो और जिससे जिसके मनुष्यादि पर्याये उत्पन्न होती है ऐसा जीव द्रव्य भी, जिसको कंकणादिक पर्याये उत्पन्न होती है ऐसे सुवर्ण की भांतिपद-पद पर (प्रति पर्याय पर) अन्य न हो ? (अर्थात् अन्य ही होगा) ॥११३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यस्यासदुत्पाद पूर्वपर्यायादन्यत्वेन निश्चिनोति,—

मणुओ ण हवदि देवो आकुलत्वोत्पादकमनुज देवादिविभावपर्यायविलक्षणमनाकुलत्वरूपस्व-भावपरिणतिलक्षण परमात्मद्रव्य यद्यपि निश्चयेन मनुष्यपर्याये देवपर्याये च समान तथापि मनुजो देवो न भवति। कस्मात् ? देवपर्यायकाले मनुष्यपर्यायस्यानुपलम्भात्। **देवो वा माणुसो व सिद्धो वा** देवो वा मनुष्यो न भवति स्वात्मोपलब्धिरूपसिद्धपर्यायो वा न भवति। कस्मात् ? पर्यायाणा परस्पर भिन्नकाल-त्वात्, सुवर्णद्रव्ये कुण्डलादिपर्यायाणामिव। **एवं अहोज्जमाणो** एवमभवन्सन् **अणण्णभावं कह लहदि** अनन्यभावमेकत्व कथ लभते ? न कथमपि। तत एतावदायाति असद्भावनिबद्धोत्पाद पूर्वपर्यायाद-भिन्नो भवतीति ॥११३॥

उत्थानिका—आगे द्रव्य के असत् उत्पाद को पूर्व पर्याय से भिन्न निश्चय करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(मणुओ) मनुष्य (देवो ण होदि) देव नहीं होता है। (वा देवो) अथवा देव (माणुसो व सिद्धो वा) मनुष्य या सिद्ध नहीं होता है। (एवं अहोज्ज माणो) ऐसा नही होने पर भी (अणण्णभावं कह लहदि) एकपने को कैसे प्राप्त हो सकता है ? आकुलता-जनक देव मनुष्यादि पर्यायो से विलक्षण तथा निराकुल-स्वरूप अपने स्वभाव मे परिणमन रूप लक्षण को धरने वाला परमात्मा द्रव्य यद्यपि निश्चय से मनुष्य पर्याय मे तथा देव पर्याय मे समान है तथापि मनुष्य देव नही होता है क्योंकि देव पर्याय के काल मे मनुष्य पर्याय की प्राप्ति नहीं है, मनुष्य पर्याय के काल मे देव पर्याय की तथा निज-आत्म-उपलब्धिरूप सिद्ध पर्याय की प्राप्ति नही है, क्योंकि पर्यायो का परस्पर भिन्न भिन्न काल है। जैसे सुवर्ण द्रव्य मे कुण्डल कंकण आदि पर्यायों का भिन्न-भिन्न**

काल है। इस तरह एक पर्याय रूप द्रव्य दूसरे-रूप न होता हुआ एकपने को कैसे प्राप्त हो सकता है ? किसी भी तरह प्राप्त नही हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि असद्भाव उत्पाद या सत् रूप उत्पाद पूर्व पूर्व पर्याय से भिन्न होता है ॥११३॥

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति—

दव्वट्ठिएण[1] सव्वं दव्वं तं [2]पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥११४॥

द्रव्यार्थिकेन सर्व द्रव्य तत्पर्यायार्थिकेन पुन ।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥११४॥

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ् मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थित जीव सामान्यमेकमलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्व जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलित केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति, द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्। यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत् इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥११४॥

भूमिका—अब एक ही द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व होने मे जो विरोध है, उसे दूर करते है। (अर्थात् उसमे विरोध नही आता, यह बतलाते है)—

अन्वयार्थ—[द्रव्यार्थिकेन] द्रव्यार्थिकनय से [तत् सर्ब] वह सब [द्रव्य] द्रव्य है, [पुन च] और फिर [पर्यायार्थिकेन] पर्यायार्थिक नय से (वह सब) [अन्यत्] अन्य-अन्य है, क्योकि [तत्काले तन्मयत्वात्] उस समय (द्रव्य, पर्यायो से) तन्मय होने के कारण से [अनन्यत्] (द्रव्य, पर्यायो से) अनन्य है।

---

१ दव्वट्ठियेण (ज० वृ०)। २ पज्जयट्ठियेण (ज० वृ०)।

टीका—वास्तव में सभी वस्तु के सामान्यविशेषात्मकपना होने से, वस्तु के स्वरूप को देखने वालो के क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेष को जानने वाली दो आंखे है—(१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक।

इनमे से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके, जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब नारकत्व, तिर्यचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व-पर्याय-स्वरूप विशेषो मे रहने वाले एक जीवसामान्य को देखने वाले जीवो के वह सब 'जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है। जब, द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके, मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, उस समय जीव द्रव्य मे रहने वाले नारकत्व, तिर्यचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप अनेक विशेषों को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवो के (वह जीव द्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है, क्योकि द्रव्य का उन-उन विशेषों के समय मे उन-उन विशेषो से तन्मयपने से अनन्यपना है; उपले, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भांति। (जैसे घास, लकडी इत्यादि की अग्नि उस-उस समय घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होने से घास लकडी इत्यादि से अनन्य है, उसी प्रकार द्रव्य उन-उन पर्याय रूप विशेषों के समय तन्मय होने से उनसे अनन्य है, पृथक् नही है।) जब, उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आंखो को एक ही काल मे खोलकर, उसके और इसके (अर्थात् द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक चक्षु के) द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्यायो मे रहने वाला जीव सामान्य तथा जीव सामान्य मे रहने वाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप विशेष एक काल में ही (एक ही साथ) दिखाई देते है।

वहां एक आंख से देखना एक देश अवलोकन है और दोनो आंखों से देखना सर्वावलोकन (सम्पूर्ण अवलोकन) है। इसलिये सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नही होते ॥११४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथैकद्रव्यस्य पर्यायैस्सहानन्यत्वाभिधानमेकत्वमन्यत्वाभिधानमनेकत्व च नयविभागेन दर्शयति, अथवा पूर्वोक्तसद्भावनिबद्धासद्भावमुत्पादद्वय प्रकारान्तरेण समर्थयति—

हवदि भवति। किं कर्तृ ? सव्व दव्वं सर्वं विवक्षिताविवक्षितजीवद्रव्य। किंविशिष्ट भवति ? अणण्ण अनन्यमभिन्नमेक तन्मयमिति। केन सह ? तेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपविभावपर्यायसमूहेन केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयशक्तिरूपसिद्धपर्यायेण च। केन कृत्वा ? दव्वट्ठिएण शुद्धान्वयद्रव्यार्थिकनयेन। कस्मात्? कुण्डलादिपर्यायेषु सुवर्णस्येव भेदाभावात् तं पज्जयट्ठियेण पुणो तद्द्रव्य पर्यायार्थिकनयेन पुन

अण्णं अन्यद्भिन्नमनेक पर्यायै सह पृथग्भवति। कस्मादिति चेत् ? **तक्काले तम्मयत्तादो** तृणाग्नि-काष्ठाग्निपत्राग्निवत् स्वकीयपर्यायै सह तत्काले तन्मयत्वादिति। एतावता किमुक्त भवति ? द्रव्या-र्थिकनयेन यदा वस्तुपरीक्षा क्रियते तदा पर्यायसन्तानरूपेण सर्वपर्यायकदम्बक द्रव्यमेव प्रतिभाति। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते तदा द्रव्यमपि पर्यायरूपेण भिन्न भिन्न प्रतिभाति। यदा च परस्पर सापेक्षया नयद्वयेन युगपत्समीक्ष्यते, तदैकत्वमनेकत्व च युगपत्प्रतिभातीति। यथेद जीवद्रव्ये व्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु यथासम्भव ज्ञातव्यमित्यर्थ ॥११४॥

एव सदुत्पादकथनेन प्रथमा सदुत्पादविशेषविवरणरूपेण द्वितीया तथैवासदुत्पादविशेषविवरण-रूपेण तृतीया द्रव्यपर्याययोरेकत्वानेकत्वप्रतिपादनेन चतुर्थीति सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन सप्तमस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे एक द्रव्य का अपनी पर्यायो के साथ अनन्यत्व नाम का एकत्व है तथा अन्यत्व नाम का अनेकत्व है ऐसा नयो को अपेक्षा दिखलाते है। अथवा पूर्व मे कहे गए सद्भावउत्पाद और असद्भाव-उत्पाद को एक साथ अन्य प्रकार से दिखाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वट्ठियेण) द्रव्यार्थिकनय से (तं सव्वं) वह सब (दव्व) द्रव्य (अणण्ण) अन्य नही है, वही है (पुणो) परन्तु (पज्जयट्ठियेण) पर्यायार्थिक नय से (अण्णं य) अन्य भी (हवदि) है क्योंकि (तक्काले तम्मयत्तादो) उस काल में द्रव्य अपनी पर्याय से तन्मय हो रहा है। शुद्ध अन्वयरूप द्रव्यार्थिकनय से यदि विचार किया जाय तो विवक्षित अविवक्षित सर्व ही जीव नामा द्रव्य अपनी नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव रूप विभाव पर्यायों के साथ तथा केवलज्ञान दर्शन सुख वीर्य रूप अनन्त चतुष्टयशक्ति रूप सिद्ध पर्याय के साथ अन्य-अन्य नही है किन्तु तन्मय है एक है। जैसे कुण्डल कंकण आदि पर्यायों मे सुवर्ण का भेद नही है। वही सुवर्ण है। परन्तु यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार किया जावे तो अपनी अनेक पर्यायों के साथ वह द्रव्य भिन्न-भिन्न ही है, क्योंकि जैसे अग्नि तृण की अग्नि, काष्ठ की अग्नि, पत्र की अग्नि रूप से भिन्न-भिन्न है, अपनी पर्यायो के साथ उस समय तन्मय है। इससे यह बात कही गई कि जब द्रव्यार्थिकनय से वस्तु की परीक्षा की जाती है तब पर्यायों में सन्तान रूप से सब पर्यायों का समूह द्रव्य ही प्रगट होता है। परन्तु जब पर्यायार्थिकनय की विवक्षा की जाती है तब पर्याय रूप से वही द्रव्य भिन्न-भिन्न झलकता है। और जब परस्पर अपेक्षा से दोनों नयो के द्वारा एक ही काल मेविचार किया जाता है तब वह द्रव्य एक ही साथ एक रूप और अनेक रूप मालूम होता है। जैसे यहां जीव द्रव्य के सम्बन्ध मे व्याख्यान किया गया है तैसे सब द्रव्यो के यथासम्भव जान लेना चाहिये, यह अर्थ है ॥११४॥**

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभंगीमवतारयति--

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
[1]पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥११५॥

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् ।
पर्यायेण तु केनचित् तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥११५॥

स्यादस्त्येव १, स्यान्नास्त्येव २, स्यादवक्तव्यमेव ३, स्यादस्तिनास्त्येव ४, स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७, स्वरूपेण १, पररूपेण २, स्वपररूपयौगपद्येन ३, स्वपररूपक्रमेण ४, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ६, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैरादिश्यमानस्य स्वरूपेण सतः, पररूपेणासतः, स्वपररूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यै सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभंगिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति ॥११५॥

भूमिका—अब, समस्त विरोधो को दूर करने वाली सप्तभंगो प्रगट करते हैं—

अन्वयार्थ—[द्रव्य] द्रव्य [केनचित् पर्यायेण तु] किसी पर्याय से तो [अस्ति इति च] 'अस्ति' [नास्ति इति च] (किसी पर्याय से) 'नास्ति' [पुन] और [अवक्तव्यम् इति भवति] (किसी पर्याय से) 'अवक्तव्य' है, [तदुभय] (और किसी पर्याय से) अस्ति नास्ति (दोनो रूप) [वा] अथवा [अन्यत् आदिष्टम्] (किसी पर्याय से) अन्य (तीन भगरूप) कहा गया है ।

टीका—द्रव्य (१) स्वरूपापेक्षा से 'स्यात् अस्ति ही' (२) पररूप की अपेक्षा से 'स्यात् नास्ति ही', (३) स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अवक्तव्य ही' (एक ही साथ द्रव्य स्वरूप-पररूप से नहीं कहा जा सकता, अतः अवक्तव्य है), (४) स्वरूप-पररूप के क्रम की अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-नास्ति ही', (५) स्वरूप की और स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-अवक्तव्य ही', (६) पररूप की और स्वरूपपररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात नास्ति अवक्तव्य ही' और (७) स्वरूप की, पररूप की तथा स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य ही' है ।

(१) जो स्वरूप से 'सत्' है, (२) जो पररूप से 'असत्' है, (३) जिसका स्वरूप

---

१ पज्जायेण (ज० वृ०)

और पररूप से युगपत् कथन अशक्य है, (४) जो स्वरूप से और पररूप से क्रमशः 'सत् और असत्' है, (५) जो स्वरूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'सत् और अवक्तव्य' है; (६) जो पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'असत् और अवक्तव्य' है; तथा (७) जो स्वरूप से-पर-रूप से और स्वरूपपररूप से युगपत् 'सत्, असत् और अवक्तव्य' है,—ऐसे अनन्त धर्मो वाले कथनीय द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षित रूप विधि-निषेध के द्वारा प्रगट होने वाली सप्तभंगी सतत सम्यक्तया उच्चारित स्यात्कार रूपी अमोघ मंत्र पद के द्वारा 'एव' कार (एकान्त) रहने वाले समस्त विरोध-विष के मोह को दूर करती है ॥११५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ समस्तदुर्नयैकान्तरूपविवादनिषेधिका नयसप्तभङ्गी विस्तारयति—

अत्थित्ति य स्यादस्त्येव। स्यादिति कोऽर्थ ? कथञ्चित् कथचित्कोऽर्थ ? विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन। तच्चतुष्टय, शुद्धजीवविषये कथ्यते। शुद्धगुणपर्यायाधारभूत शुद्धात्मद्रव्य भण्यते, लोकाकाशप्रमिता शुद्धासख्येयप्रदेशा क्षेत्र भण्यते, वर्तमानशुद्धपर्यायिरूपपरिणतो वर्तमानसमय कालो भण्यते, शुद्धचैतन्य भावश्चेत्युक्तलक्षणद्रव्यादिचतुष्टयेन इति प्रथमभङ्ग १। **णत्थित्ति य** स्यान्नास्त्येव स्यादिति कोऽर्थ कथचिद्विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयेन **हवदि** भवति २। कथम्भूत ? **अवत्तव्व-मिदि** स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादिति कोऽर्थ ? कथचिद्विवक्षितप्रकारेण युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्त्येवावक्तव्यम्, स्यान्नास्त्येवावक्तव्य स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्। **पुणो** पुन इत्थभूत। कि भवति ? **दव्व** परमात्मद्रव्य कर्तृ ? पुनरपि कथम्भूत भवति ? **तदुभय** स्यादस्तिनास्त्येव। स्यादिति कोऽर्थ ? कथचिद्विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन ४। कथम्भूत ? सदित्थमित्थ भवति। **आदिट्ठ** आदिष्ट विवक्षित सत्। केन कृत्वा ? **पज्जायेण दु** पर्यायेण तु प्रश्नोत्तररूपनयविभागेन तु। कथम्भूतेन ? **केणवि** केनापि विवक्षितेन नैगमादिनयरूपेण **अण्ण वा** अन्यथा सयोगभङ्गत्रयरूपेण। तत्कथ्यते—स्यादस्त्येवावक्तव्य स्यादिति कोऽर्थ कथञ्चित् विवक्षित प्रकारेण स्वद्र व्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ५। स्यान्नास्त्येवावक्तव्य परद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ६। स्यादस्तिनास्त्येवावक्तव्य क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ७। पूर्व पञ्चास्तिकाये स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभङ्गी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहण तन्नयसप्तभङ्गीज्ञापनार्थमिति भावार्थ। यथेद सप्तभङ्गीव्याख्यान शुद्धात्मद्रव्ये दर्शित तथा यथासम्भव सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति ॥११५॥

एव नयसप्तभङ्गी व्याख्यानगाथयाष्टमस्थल गतम्।

एव पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमा नमस्कारगाथा, द्रव्यगुणपर्यायकथनरूपेण द्वितीया, स्वसमयपरसमयप्रतिपादनेन तृतीया, द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनरूपेण चतुर्थीति, स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकास्थल तदनन्तरमवान्तरसत्ताकथनरूपेण प्रथमा महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्य स्वभावसिद्ध तथा

सत्तागुणोऽपीति कथनरूपेण तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेपि सत्तैव द्रव्य भवतीति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यता। तदनन्तरमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणविवरणमुख्यत्वेन गाथात्रय, तदनन्तर द्रव्यपर्यायकथनेन गुणपर्यायकथनेन च गाथाद्वय, ततश्च द्रव्यस्यास्तित्वस्थापनारूपेण प्रथमा, पृथक्त्वलक्षणस्यातद्भावाभिधान्यत्वलक्षणस्य च कथनरूपेण द्वितीया, सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद-रूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव दृढीकरणार्थं चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेद-विपये युक्तिकथनमुख्यता। तदनन्तर सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथमा, गुणपर्यायाणा द्रव्येण सहा-भेदकथनेन द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वय। तदनन्तर द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयो सामान्यव्याख्यानेन विशेपव्याख्यानेन च गाथाचतुष्टय, ततश्च सप्तभङ्गीकथनेन गाथैका चेति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथा-भिरष्टभि स्थलै सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये सामान्यद्रव्यप्ररूपण समाप्तम्।

अत पर तत्रैव सामान्यद्रव्यनिर्णयमध्ये सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्त व्याख्यान करोति। तत्र क्रमेण पञ्चस्थानानि भवन्ति। प्रथमस्तावद्वार्तिकव्याख्यानाभिप्रायेण साख्यै-कान्तनिराकरण, अथवा शुद्धनिश्चयनयेन जैनमतमेवेति व्याख्यानमुख्यतया **एसो त्ति णत्थि कोई** इत्यादि सूत्रगाथैका। तदनन्तर मनुष्यादिपर्याय निश्चयनयेन कर्मफल भवति, न च शुद्धात्मस्वरूपमिति तस्यैवाधि कारसूत्रस्य विवरणार्थं **कम्म णामसमक्ख** इत्यादिपाठक्रमेण गाथा चतुष्टय, तत पर रागादिपरिणाम एव द्रव्यकर्मकारणत्वाद्भावकर्म्म भण्यत इति परिणाममुख्यत्वेन **आदा कम्ममलिमसो** इत्यादि-सूत्रद्वय, तदनन्तर कर्मफलचेतना कर्मचेतना ज्ञानचेतनेति त्रिविधचेतनाप्रतिपादनरूपेण **परिणमति चेदणाए** इत्यादिसूत्रद्वय तदनन्तर शुद्धात्मभेदभावनाफल कथयन् सन् **कत्ताकरण** इत्याद्येकसूत्रेणो-पसहरति। एव भेदभावनाधिकारे स्थलपञ्चकेन समुदायपातनिका।

उत्थानिका—आगे सब खोटी नयो के एकान्त रूप विवाद को मेटने वाली सप्तभगी नय का विस्तार करते है—

अन्वय सहित विशेपार्थ—(**दव्वं**) **द्रव्य** (**केणवि पज्जायेण**) **किसी एक पर्याय से (दु) तो (अत्थि त्ति) अस्ति रूप ही है (य) और किसी एक पर्याय से (णत्थि त्ति य) नास्ति रूप ही है तथा किसी एक पर्याय से (अवत्तव्वमिदि) अवक्तव्य रूप ही (हवदि) होता है। (पुणो तदुभयम्) तथा किसी एक पर्याय से अस्ति नास्ति दोनों रूप ही है। (वा अण्ण) अथवा किसी अपेक्षा से अन्य तीन रूप अस्ति एवं अवक्तव्य, नास्ति एवं अवक्तव्य तथा अस्ति नास्ति एवं अवक्तव्य रूप (आदिट्ठम्) कहा गया है। यहां स्याद्वाद का कथन है, स्यात् का अर्थ कथंचित् है, अर्थात् किसी एक अपेक्षा से, वाद का अर्थ—कथन करना है। वृत्तिकार यहां शुद्ध जीव के सम्बन्ध मे स्याद्वाद का या सप्तभंग का प्रयोग करके बताते हैं। शुद्ध जीव द्रव्य अपने ही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव के चतुष्टय की अपेक्षा स्यात् अस्तिरूप ही है अर्थात् जीव मे अस्तिपना है। शुद्ध गुण तथा पर्यायों का आधारभूत जो शुद्ध आत्मद्रव्य है वह स्वद्रव्य है, लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेश है सो स्वक्षेत्र कहा जाता है। वर्तमान शुद्ध पर्याय मे परिणमन करता हुआ वर्तमान समय स्वकाल कहा**

द्धाता है। शुद्ध चैतन्य यह स्वभाव है। इस तरह स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा शुद्ध जीव है अथवा शुद्ध जीव में अस्तित्व स्वभाव है। यह स्यात् अस्ति एव प्रथम भंग है तथा पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल व परभावरूप परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप ही है। अर्थात् शुद्ध जीव में अपने सिवाय सब द्रव्यों के द्रव्यादि चतुष्टका अभाव है। यह "स्यात् नास्ति एव" दूसरा भंग है एक समय में ही जीव द्रव्य किसी अपेक्षा से अस्तिरूप ही है व किसी अपेक्षा से नास्ति रूप ही है तथापि वचनों से एक समय मे कहा नही जा सकता इससे अवक्तव्य ही है। यह तीसरा स्यात् अवक्तव्य एक भंग है। वह परमात्मद्रव्य स्व-द्रव्यादि चतुष्य की अपेक्षा अस्ति रूप है, पर-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप है, ऐसे क्रम से कहते हुए अस्तिनास्ति स्वरूप ही है यह चौथा "स्यात् अस्तिनास्ति एव" भंग है। इस तरह प्रश्नोत्तर रूप नय विभाग से जैसे ये चार भंग हुए तैसे तीन भंग और है जिनको संयोगी कहते है। स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति ही है परन्तु एक समय में स्व-द्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति और परद्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति होने पर भी अवक्तव्य है यह पांचवां भंग है। पर द्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति रूप ही है परन्तु एक समय में स्व-पर-द्रव्यादि की अपेक्षा "अस्तिनास्ति" होने पर भी अवक्तव्य है इससे स्यात् नास्ति एवं अवक्तव्य है यह छटा भंग है। क्रम से कहते हुए स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति रूप ही है तथा पर-द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति रूप ही है तथापि एक समय में अस्तिनास्ति रूप कहा नहीं जा सकता इससे स्यात् अस्तिनास्ति एवं अवक्तव्य रूप है, यह सातवां भंग है। पहले पंचास्ति-काय ग्रन्थ में स्यात् अस्ति इत्यादि प्रमाण वाक्य से प्रमाण सप्तभंगी का व्याख्यान किया गया, यहाँ "स्यात् अस्ति एव" के द्वारा जो "एव" का ग्रहण किया गया है वह नय-सप्तभंगी के बताने के लिये किया गया है। जैसे यहाँ शुद्ध आत्मद्रव्य में सप्तभंगी नयका व्याख्यान किया गया तैसे यथासंभव सब पदार्थो में जान लेना चाहिये ॥११५॥

नोट—इस तरह सप्तभंगी के व्याख्यान की गाथा के द्वारा आठवां स्थल पूर्ण हुआ।

इस तरह जैसा पहले कह चुके है पहले एक नमस्कार गाथा कही, फिर द्रव्य गुण पर्याय को कथन करते हुए दूसरी कही, फिर स्वसमय को दिखलाते हुए तीसरी, फिर द्रव्य के सत्ता आदि तीन लक्षण होते है इसकी सूचना करते हुए चौथी, इस तरह स्वतन्त्र गाथा चार से पीठिका कही। इसके पीछे अवान्तर सत्ता को कहते हुए पहली, महासत्ता को कहते दूसरी, जैसा द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है वैसे सत्ता गुण भी है ऐसा कहते हुए तीसरी, उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना होते हुए भी सत्ता ही द्रव्य है ऐसा कहते हुए चौथी, इस तरह चार

गाथाओ से सत्ता का लक्षण मुख्यता से कहा गया । फिर उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण का कहते हुये गाथा तीन, तथा द्रव्य पर्याय को कहते हुए य गुण पर्याय को कहते हुए गाथा दो, फिर द्रव्य के अस्तित्व को स्थापन करते हुए पहली, पृथक्त्व लक्षणधारी अतद्भाव नाम के लक्षण को कहते हुये दूसरी, सज्ञा लक्षण प्रयोजनादि भेद रूप अतद्भाव को कहते हुए तोसरी, उसको ही दृढ करने के लिये चौथी, इस तरह गाथा चार से सत्ता ओर द्रव्य मे अभेद है, इसको युक्तिपूर्वक कहा गया । इसके पीछे सत्ता गुण है, द्रव्य गुणी है ऐसा कहते हुये पहली गुण पर्यायो का द्रव्य के साथ अभेद है ऐसा कहते हुए दूसरी ऐसी स्वततत्र गाथाये दो है । फिर द्रव्य के सत् उत्पाद, असत् उत्पाद का सामान्य तथा विशेष व्याख्यान करते हुए गाथार्ये चार है । फिर सप्तभगी को कहते हुए गाथा एक है, इस तरह समुदाय से चौबीस गाथाओ के द्वारा आठ स्थलो से सामान्य ज्ञेय के व्याख्यान मे सामान्य द्रव्य का वर्णन पूर्ण हुआ ।

इसके आगे इसी ही सामान्य द्रव्य के निर्णय के मध्य मे सामान्य भेद की भावना की मुख्यता करके ग्यारह गाथाओ तक व्याख्यान करते है । इसमे क्रम से पाच स्थान है । पहले वार्तिक के व्याख्यान के अभिप्राय से साख्य के एकांत का खडन है । अथवा शुद्ध निश्चयनय से फल कर्म रूप है , शुद्धात्मा का स्वरूप नही है ऐसी गाथा एक है । फिर इसी अधिकार सूत्र के वर्णन के लिये "कम्म णाम समक्ख" इत्यादि पाठ क्रम से चार गाथाए इसके आगे रागादि परिणाम ही द्रव्य कर्मो के कारण है इसलिये भावकर्म कहे जाते है । इस तरह परिणाम की मुख्यता "आदा कम्म मलिमसो" इत्यादि सूत्र दो है । फिर कर्मफल चेतना, कर्मचेतना, ज्ञानचेतना इस तरह तीन प्रकार चेतना को कहते हुते "परिणमदि चेदणाए" इत्यादि तीन सूत्र है । फिर शुद्धात्मा की भेद भावना का फल कहते हुए "कत्ता-करण" इत्यादि एक सूत्र मे उपसहार है या सकोच है—इस तरह भेद भावना के अधिकार मे पाच स्थल मे समुदायपातनिका है ।

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृतस्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति—

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता[1] ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ।।११६।।

---

१ सभावणिवत्ता (ज० वृ०) ।

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता ।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निष्फल परम. ॥११६॥

इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति । ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु न कश्चनाप्येष एवेति टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपमर्द्यमानत्वात् फलमभिलष्येत वा मोहसंवलनाविलयनात् क्रियायाः । क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्यपरिणामात्मिका । सा पुनरणोरण्वन्तरसंगतस्य परिणतिरिवात्मनो मोहसंवलितस्य द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्य निष्पादकत्वात्सफलैव । सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्नाण्वन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभावभूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव ॥११६॥

भूमिका—अब, जिसका निर्धारण करना है, इसलिये जिसे उदाहरण रूप बनाया गया है ऐसे जीव की मनुष्यादि पर्याये क्रिया की फल है इसलिये उनका अन्यत्व (एक पर्याय का दूसरी पर्याय से भिन्नपना) प्रकाशित करते है—

अन्वयार्थ—[एष. इति कश्चित् नास्ति] यह पर्याय टकोत्कीर्ण अविनाशी है, (नर नारकादि पर्यायो मे) ऐसी कोई पर्याय नही है (अर्थात् नर-नारकादि पर्यायो मे टकोत्कीर्ण अविनाशी रहने वाली कोई पर्याय नही है) [स्वभाव-निर्वृत्ता क्रिया नास्ति न] (ससारी जीव के) रागादि अशुद्ध विभाव रूप स्वभाव से उत्पन्न होने वाली क्रिया न हो, ऐसा भी नही है (अर्थात् ससारी जीव के रागादि विभाव रूप स्वभाव से उत्पन्न होने वाली राग-द्वेपमय क्रिया अवश्य होती ही है) [यदि] यदि [परम धर्म निष्फल] (वीतरागभावरूप) उत्कृष्ट धर्म (नर-नारकादि उत्पन्न करने रूप) फल से रहित है (वीतराग रूप धर्म नर नारक आदि पर्याय उत्पन्न नही कर सकता है) तो भी [क्रिया हि अफला नास्ति] (रागादि परिणति रूप) क्रिया अवश्य ही (नर-नारकादि पर्याय उत्पन्न करने रूप) फल से रहित नहा है (अर्थात् रागादिरूप क्रिया अवश्य ही नर-नारक आदि पर्याय उत्पन्न करती है) ।

टीका—यहां (इस विश्व मे), अनादि कर्म पुद्गल की उपाधि के सन्निधि प्रत्यय (निमित्तकारण) से होने वाला प्रतिक्षण विपरिणमन जिसके होता रहता है, ऐसे संसारी जीव की क्रिया वास्तव मे स्वभाव-निष्पन्न ही है, इसलिये उसके मनुष्यादि पर्यायो मे से कोई भी पर्याय 'यह ही' है ऐसी टकोत्कीर्ण नही है, क्योकि वे पर्याये, पूर्व-पूर्व पर्यायो के नाश मे प्रवर्तमान क्रिया की फलरूप होने से, उत्तर-उत्तर (अगली-अगली) पर्यायो के द्वारा

नष्ट होती है। मोह के साथ मिलन (मिश्रितता) का नाश न हुआ होने से, क्रिया का फल तो मानना चाहिये। क्रिया चेतन की पूर्वोत्तर दशा से विशिष्ट (विशेषित) चैतन्य परिणाम स्वरूप है। जैसे-दूसरे अणु के साथ युक्त अणु की परिणति द्विअणुक कार्य की निष्पादक है, उसी प्रकार मोह के साथ मिलित आत्मा की परिणति मनुष्यादि कार्य की निष्पादक होने से, वह (क्रिया) फल वाली ही है। जसे दूसरे अणु के साथ का सम्बन्ध जिसका नष्ट हो गया है ऐसे अणु की परिणति द्वि-अणुक कार्य की निष्पादक नहीं है, उसी प्रकार मोह के साथ मिलन का नाश होने पर द्रव्य की परम स्वभावभूत होने से 'परमधर्म' नाम से कही जाने वाली वही क्रिया, मनुष्यादि कार्य की निष्पादक न होने से, अफल ही है।

सूचना—**इस गाथा मे नर-नारक आदि पर्यायों की उत्पत्ति को ही फल माना गया है। चूकि संसारी जीव के रागादिक भाव विना प्रयत्न के स्वतः उत्पन्न होने रहते है, अतः रागादिक भाव को यहां स्वभाव कहा है ॥११६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ नर-नारकादिपर्याय' कर्माधीनत्वेन विनश्वरत्वादिति शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्वरूप न भवतीति भेदभावना कथयति—

एसो त्ति णत्थि कोई टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यवत्ससारे मनुष्यादिपर्यायेषु मध्ये सर्वदैवैप एकरूप एव नित्य कोऽपि नास्ति ? तर्हि मनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तिका ससारक्रिया सापि न भविष्यति ? **ण णत्थि किरिया** न नास्ति क्रिया मिथ्यात्वरागादिपरिणतिस्ससार कर्मेति यावत् इति पर्यायनामचतुष्टयरूपा क्रियास्त्येव। सा च कथम्भूता ? **सभावणिव्वत्ता** शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतापि नरनारकादिविभावपर्यायस्वभावेन निर्वृत्ता। तर्हि किं निष्फला भविष्यति ? **किरिया हि णत्थि अफला** क्रिया हि नास्त्यफला सा मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपा क्रिया यद्यप्यनन्तसुखादिगुणात्मकमोक्षकार्य प्रति निष्फला तथापि नानादुःखदायकस्वकीयकार्यभूतमनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तकत्वात्सफलेति मनुष्यादि-पर्यायनिष्पत्तिरेवास्या फल। कथ ज्ञायत इति चेत् ? **"धम्मो जदि णिप्फलो परमो"** धर्मो यदि निष्फल परम नीरागपरमात्मोपलम्भपरिणतिरूप आगमभापया परमयथाख्यातचारित्ररूपो वा योऽसौ परमो धर्म, स केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकत्वात्सफलोऽपि नरनारकादिपर्यायकरणभूत ज्ञानावरणादिकर्मबन्ध नोत्पादयति, तत कारणान्निष्फल। ततो ज्ञायते नरनारकादिससारकार्य मिथ्यात्वरागादिक्रियाया फलमिति। अथवास्य सूत्रस्य द्वितीयव्याख्यान क्रियते—यथा शुद्धनयेन रागादिविभावेन न परिणमत्यय जीवस्तथैवाशुद्धनयेनापि न परिणमतीति [1]यदुक्त साख्येन तन्निराकृत। कथमिति चेत् ? अशुद्धनयेन मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणतजीवाना नरनारकादिपर्यायपरिणतिदर्शनादिति। एव प्रथमस्थले सूत्रगाथा गता ॥११६॥

ख पुस्तके "परिणमति रागादिभावेन जीव साख्येन यदुक्त" इति वर्तते।

उत्थानिका—आगे कहते है कि नारक आदि पर्याय कर्म के अधीन है इससे नाशवत है। इस कारण शुद्ध निश्चय से नारकादि पर्यायें जीव का स्वरूप नही है, ऐसी भेद भावना को कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एसो त्ति णत्थि कोई) कोई भी मनुष्यादि पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो (ण सहावणिव्वत्ता किरिया णत्थि) और रागादि विभाव स्वभाव से होने वाली क्रिया न होती हों ऐसा भी नही है अर्थात् रागादि रूप क्रिया अवश्य है। (किरिया हि अफला णत्थि) यह रागादि रूप क्रिया निश्चय से विना फल के नही होती है अर्थात् मनुष्यादि पर्याय रूप फल को देती है (जदि परमा धम्मो णिप्फलो) किन्तु उत्कृष्ट वीतरागधर्म मनुष्यादि पर्याय रूप फल देने से रहित है।**

जैसे टंकोत्कीर्ण (टांकी से उकेरे के समान अमिट) ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप परमात्मा द्रव्य नित्य है वैसे इस संसार में मनुष्य आदि पर्यायों मे से कोई भी पर्याय ऐसी नही है जो नित्य हो तब क्या मनुष्यादि पर्यायों को उत्पन्न करने वाली संसार की क्रिया भी नही है? इसके उत्तर में कहते है कि मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादिकी परिणति रूप सांसारिक क्रिया न होती हों, ऐसा नही है। ये मनुष्यादि चारों गतियां क्योंकि कर्म (कार्य) है इसलिये इनको उत्पन्न करने वाली रागादि क्रिया अवश्य है। यह क्रिया शुद्धात्मा के स्वभाव से विपरीत होने से नर नारकादि विभाव पर्याय के स्वभाव से उत्पन्न हुई है। तब क्या यह रागादि क्रिया निष्फल रहेगी? मिथ्यात्व रागादि मे परिणतिरूप क्रिया यद्यपि अनन्त सुखादि गुणमयी मोक्ष के कार्य को पैदा करने के लिये निष्फल है तथापि नाना प्रकार के दुःखों को देने वाली स्व-कार्यभूत मनुष्यादि पर्याय को पैदा करने के कारण फल सहित है, निष्फल नही है—इस रागादि क्रिया का फल मनुष्यादि पर्याय को उत्पन्न करना है। यह बात कैसे मालूम होती है? इसके उत्तर मे कहते है कि यद्यपि वीतराग परमात्मा की प्राप्ति मे परिणमन करने वाली क्रिया, जिसको आगम की भाषा मे परम यथाख्यातचारित्र रूप परमधर्म कहते है, केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की प्रगटता रूप कार्य-समयसार को उत्पन्न करने के कारण फल सहित है तथापि नर नारक आदि पर्यायों के कारणरूप ज्ञानावरणादि कर्मबंध को नही पैदा करती है इसलिये निष्फल है। इससे यह ज्ञात होता है कि नरनारक आदि सांसारिक कार्य मिथ्यात्व रागादि क्रिया के फल है। अथवा इस सूत्र का दूसरा व्याख्यान किया जाता है–जैसे शुद्ध निश्चयनय से यह जीव रागादि विभाव-भावों से नही परिणमन करता है तैसे ही अशुद्ध नय से भी नही परिणमन

करता है ऐसा जो सांख्यमत कहता है उसका निषेध इस गाथा में है, क्योंकि अशुद्धनय से जो जीव मिथ्यात्व व रागादि विभावों से परिणमन करते है उन्ही को नर नारक आदि पर्यायो की प्राप्ति है, ऐसा देखा जाता है ।

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध[1] अप्पणो सहावेण ।
अभिभूयं णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ।।११७।।

कर्म नामसमाख्य स्वभावमथात्मन स्वभावेन ।
अभिभूय नर तिर्यंच नैरयिक वा सुर करोति ।।११७।।

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूताया प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः । क्रियाऽभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात् । अथ कथं ते कर्मणः कार्यभावमायान्ति, कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणत्वात् प्रदीपवत् । तथाहि—यथा खलु ज्योति–स्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योति.कार्य तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम् ।।११७।।

भूमिका—अब, जीव के, मनुष्यादि पर्यायो का क्रिया का फलपना होना व्यक्त करते है—

अन्वयार्थ—[अथ] अब, [नामसमाख्य कर्म] 'नाम' सज्ञावाला कर्म [स्वभावेन] अपने स्वभाव से [आत्मन· स्वभावं अभिभूय] जीव के स्वभाव का पराभव करके, [नर तिर्यञ्च नैरयिक वा सुर) मनुष्य, तिर्यंच, नारक अथवा देव (इन पर्यायो) को [करोति] करता है ।

टीका—क्रिया वास्तव मे आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है, (अर्थात् आत्मा क्रिया को प्राप्त करता है इसलिये वास्तव मे क्रिया ही आत्मा का कर्म है ।) उसके निमित्त से परिणमन (द्रव्यकर्मरूप) को प्राप्त होता हुआ पुद्गल भी कर्म है । उस (पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्याये, मूलकारणभूत जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से, क्रिया-फल ही है, क्योकि क्रिया के अभाव मे पुद्गलो के कर्मत्व का अभाव होने से, उस (पुद्गल कर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायो का अभाव होता है । वहां, वे मनुष्यादि पर्याये कर्म के कार्य कैसे है ? (सो कहते है) क्योकि वे (पर्याये) कर्मस्वभाव के द्वारा, जीव के स्वभाव

---

१ अह (ज० वृ०) ।

का पराभव करके, की जाती है, दीपक की भांति। यथा ज्योति (लौ) के स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके किया जाने वाला दीपक ज्योति का कार्य है, उसी प्रकार कर्म स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके जाने वाली मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य हैं ॥११७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ मनुष्यादिपर्यायाः कर्मजनिता इति विशेषेण व्यक्तीकरोति—

कम्म कर्मरहितपरमात्मनो विलक्षणं कर्म कर्तृ । किं विशिष्टं । **णामसमक्खं** निर्नामनिर्गोत्रमुक्तात्मनो विपरीतं नामेति सम्यगाख्या संज्ञा यस्य तद्भवति नामसमाख्यं नामकर्म । **सभावं** शुद्धबुद्धैकपरमात्मस्वभावं **अह** अथ **अप्पणो सहावेण** आत्मीयेन ज्ञानावरणादिकर्मस्वभावेन करणभूतेन **अभिभूय** तिरस्कृत्य प्रच्छाद्य तं पूर्वोक्तमात्मस्वभावं । पश्चात् किं करोति । **णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि** नरतिर्यग्नारकसुररूपं करोतीति । अयमत्रार्थः — यथाग्निः कर्ता तैलस्वभावं कर्मतापन्नमभिभूय तिरस्कृत्य वर्त्याधारेण दीपशिखारूपेण परिणमयति, तथा कर्माग्निः कर्ता तैलस्थानीयं शुद्धात्मस्वभावं तिरस्कृत्य वर्तिस्थानीयशरीराधारेण दीपशिखास्थानीयनरनारकादिपर्यायरूपेण परिणमयति । ततो ज्ञायते मनुष्यादिपर्यायाः निश्चयनयेन कर्मजनिता इति ॥११८॥

उत्थानिका—आगे इसी सूत्र का विशेष कहते हुए बताते हैं कि ये मनुष्य आदि पर्याय कर्मों के द्वारा पैदा होती हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अह) तथा (णामसमक्खं कम्मं) नाम नामका कर्म (सहावेण) अपने कर्म स्वभाव से (अप्पणो सहावं) आत्मा के स्वभाव को (अभिभूय) ढक-कर (णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि) उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी या देवरूप कर देता है। कर्मों से रहित परमात्मा से विलक्षण ऐसा कर्म जिसकी भले प्रकार नाम संज्ञा की गई है, अर्थात् नाम कर्म जो नामरहित, गोत्र-रहित परमात्मा से विपरीत है, अपने ही सहज बो-ज्ञानावरणादि कर्मों के स्वभाव से शुद्धबुद्ध एक परमात्मस्वभाव को आच्छादन कर उसे नर, नारक, तिर्यंच या देवरूप कर देता है। यहां यह विशेष अर्थ है—जैसे अग्नि कर्ता होकर तेल के स्वभाव को तिरस्कार करके बत्ती के आधार से उस तेल को दीपक की शिखारूप में परिणमन कर देती है, तैसे कर्मरूपी अग्नि कर्ता होकर तेल के स्थान में शुद्ध आत्मा के स्वभाव को तिरस्कार करके बत्ती के समान शरीर के आधार से उसे दीपक की शिखा के समान नर नारकादि पर्यायों के रूप से परिणमन कर देती है। इससे जाना जाता है कि मनुष्य आदि पर्यायें निश्चय से कर्म-जनित हैं ॥११८॥

अथ कुतो मनुष्यादिपर्यायेषु जीवस्य स्वभावाभिभवो भवतीति निर्धारयति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणासकम्माणि ।।११८।।

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवा खलु नामकर्मनिर्वृत्ता ।
न हि ते लब्धस्वभावा परिणममाना स्वकर्माणि ।।११८।।

अमी मनुष्यादयः पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ताः सन्ति तावत् । न पुनरेतावतापि तत्र जीवस्य स्वभावाभिभवोऽस्ति । यथा कनकबद्धमाणिक्यकङ्कणेषु माणिक्यस्य । यत्तत्र नैव जीवः स्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पयःपूरवत् । यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्या पिचुमन्दचन्दनादिवनराजी परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ।।११८।।

भूमिका—अब यह निर्णय करते है कि मनुष्यादि पर्यायो में जीव के स्वभाव का पराभव किस कारण से होता है ?—

अन्वयार्थ—[नरनारकतिर्यक्सुरा जीवाः] मनुष्य, नारक, तिर्यच और देवरूप जीव [खलु] वास्तव मे [नामकर्म-निर्वृत्ता] नामकर्म से निष्पन्न है । [हि] वास्तव मे [ते] वे जीव [स्वकर्माणि] अपने अपने उपार्जित कर्मरूप [परिणममाना] परिणत होते हुए [न लब्धस्वभाव] (चिदानन्द) स्वभाव को प्राप्त नही होते ।

टीका—प्रथम तो यह मनुष्यादि पर्याये नामकर्म से निष्पन्न है, किन्तु इतने से भी वहां (उन पर्यायो मे) जीव के स्वभाव का पराभव नही है, जैसे—सुवर्ण मे जड़े हुये माणिक वाले कंकणो में माणिक के स्वभाव का पराभव नही होता । जो वहां (उन पर्यायो मे) जीव स्वभाव को प्राप्त नही करता (अनुभव नही करता), सो स्वकर्म रूप परिणमित होने से है, पानी के पूर (बाढ) की भांति । जैसे—पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्ब-चन्दनादि वनराजिरूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षो की लम्बी पंक्ति रूप) परिणमित होता हुआ (अपने) द्रवत्व (तरलता, बहना) और स्वादुत्व रूप (स्वादिष्टपना) स्वभाव को प्राप्त नही करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्म रूप परिणमित होने से (अपने) अमूर्तत्व और निरुपराग-विशुद्धिमत्व रूप स्वभाव को प्राप्त नहीं करता ।।११८।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ नरनारकादिपर्यायेपु कथ जीवस्य स्वभावाभिभवो जातस्तत्र किं जीवाभाव इति प्रश्ने ? प्रत्युत्तर ददाति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा नरनारकतिर्यक्सुरनामानो जीवा सन्ति तावत् **खलु** स्फुट । कथम्भूता ? **णामकम्मणिव्वत्ता** नरनारकादिस्वकीयस्वकीयनामकर्मणा निर्वृत्ता **ण हि ते लद्धसहावा** किन्तु यथा माणिक्यबद्धसुवर्णकङ्कणेषु माणिक्यस्य हि मुख्यता नास्ति, तथा ते जीवाश्चिदानन्दैकशुद्धात्मस्वभावमलभमाना सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति, तेन कारणेन स्वभावाभिभवो भण्यते, न च जीवाभाव । कथम्भूता सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति ? **परिणममाणा सकम्माणि** स्वकीयोदयागतकर्माणि सुखदु खरूपेण परिणममाना इति ।' अयमत्रार्थ —यथा वृक्षसेचनविपये जलप्रवाहश्चन्दनादिवनराजिरूपेण परिणत सन्स्वकीयकोमलशीतलनिर्मलादिस्वभाव न लभते, तथाय जीवोऽपि वृक्षस्थानीयकर्मोदयपरिणत सन्परमाह्लादैकलक्षणसुखामृतास्वादनैर्मल्यादिस्वकीयगुणसमूह न लभत इति ॥११८॥

उत्थानिका—आगे शिष्य ने प्रश्न कियाकि नरनारकादि पर्यायो मे किस तरह जीव के स्वभाव का तिरस्कार हुआ है । क्या जीव का अभाव हो गया है ? इसका समाधान आचार्य करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णरणारयतिरियसुरा) **मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव पर्याय में तिष्ठने वाले (जीवा) जीव (खलु) प्रगटपने (णाम कम्मणिव्वत्ता) नामकर्म द्वारा उन गतियों मे रचे (जीवा) जीव की (णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव पर्याये (खलु) प्रगटपने (णाम कम्मणिव्वत्ता) नामकर्म द्वारा रची है । इस कारण (ते) वे जीव (सकम्माणि परिणममाणा) अपने-अपने कर्मो के उदय में परिणमन करते हुए (लद्धसहावा ण हि) अपने स्वभाव को निश्चय से नहीं प्राप्त होते है । जीव नर, नारक, तिर्यंच, देव इन चार प्रगट गति रूप होता है, क्योकि ये गतियां अपने-अपने नर नारकादि नामकर्म के द्वारा रची गई है । वे अपने-अपने उदय प्राप्त कर्मो के अनुसार सुख तथा दुःख को भोगते हुए अपने चिदानन्दमयी एक शुद्ध आतम-स्वभाव को नही पाते है । जैसे माणिक-जड़ित सुवर्ण-कंकण मे माणिक की मुख्यता नही है, उसी तरह इन नर नारकादि पर्यायों मे जीव-स्वभाव का तिरस्कार है । इससे जीव का अभाव नही हो जाता है । इसका यह भाव है जैसे जल का प्रवाह वृक्षों के सीचने मे परिणमन करता हुआ चन्दन व नीम आदि वन के वृक्षो मे जाकर उन रूप मीठा, कडुवा, सुगन्धित, दुर्गंधित होता हुआ अपने जल के कोमल, शीतल, निर्मल स्वभाव को नही रखता है, इसी तरह यह जीव भी वृक्षों के स्थान मे कर्मो के उदय के अनुसार परिणमन करता हुआ परमानन्द रूप एक लक्षणमय सुखामृत का स्वाद तथा निर्मलता आदि अपने निज गुणो को नही प्राप्त करता है ॥११८॥**

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्वं द्योतयति—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति[1] ते णाणा ॥११९॥

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कश्चित्।
यो हि भव स विलय सभवविलयाविति तौ नाना ॥११९॥

इह तावन्न कश्चिज्जायते न म्रियते च। अथ च मनुस्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोक. प्रतिक्षणपरिणमित्वादुत्संगितक्षणभगोत्पादः। न च विप्रतिषिद्धमेतत्, संभवविलययोरेकत्वनानात्वाभ्याम्। यदा खलु भंगोत्पादयोरेकत्वं तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः। तथाहि—यथा य एव घटस्तदेव कुण्डमित्युक्ते घटकुण्डस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूता मृत्तिका संभवति, तथा य एव संभवः स एव विलय इत्युक्ते संभवविलयस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूत ध्रौव्यं सभवति। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने च य एव सभव स एव विलय इति कृत्वा तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यवज्जीवद्रव्यं सभाव्यत एव। ततः सर्वदा द्रव्यत्वेन जीवष्टङ्कोत्कीर्णोऽवतिष्ठते। अपि च यथाऽन्यो घटोऽन्यत्कुण्डमित्युक्ते तदुभयाधारभूताया मृत्तिकाया अन्यत्वासंभवात् घटकुण्डस्वरूपे सभवत, तथान्यः संभवोऽन्यो विलय इत्युक्ते तदुभयाधारभूतस्य ध्रौव्यस्यान्यत्वासंभवात्संभवविलयस्वरूपे सभवतः। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने चान्यः संभवोऽन्यो विलय इति कृत्वा संभवविलयवन्तौ देवादिमनुष्यादिपर्यायौ संभाव्येते। ततः प्रतिक्षणं पर्यायैर्जीवोऽनवस्थितः ॥११९॥

भूमिका—अब, जीव के, द्रव्य रूप से अवस्थितता (ध्रौव्य वह का वह ही) होने पर भी पर्यायो से अनवस्थितता। (अध्रौव्यपना, भिन्न-भिन्नपना, नानापना) प्रकाशते है—

अन्वयार्थ—[क्षण-भङ्गसमुद्भवे जने] प्रतिक्षण उत्पाद और विनाश वाले जीव लोक मे [कश्चित्] कोई (भी जीव) [न एव जायते] (द्रव्यपने से) न उत्पन्न ही होता है, और [न नश्यति] न नष्ट होता है, (क्योकि) [हि] निश्चय से [य भवः स विलय] जो (जीव) उत्पाद रूप है वही विनाशरूप है, (किन्तु) [सभवविलयौ इति तौ नाना] उत्पाद तथा विनाश, ऐसी वे दोनो (पर्याय) नाना (भिन्न-भिन्न, भेद रूप) है।

टीका—प्रथम तो यहां न कोई (जीव) जन्म लेता है और न मरता है, (अर्थात् इस लोक में कोई जीव न तो उत्पन्त होता है और न नाश को प्राप्त होता है), (ऐसा

---

१ सभवविलओ त्ति (ज० वृ०)।

होने पर भी) मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारकात्मक जीव लोक, प्रतिक्षण परिणामी होने से, क्षण-क्षण मे होने वाले विनाश और उत्पाद से भी सहित है। यह विरोध को (भी) प्राप्त नही होता, क्योंकि उद्भव और विलय का एकत्व और अनेकत्व है। जब उद्भव और विलय का एकत्व है तब पूर्वपक्ष है और जब अनेकत्व है तब उत्तरपक्ष है। (अर्थात्–जब उत्पाद और विनाश के एकत्व की अपेक्षा ली जाय तब यह पक्ष फलित होता है कि–'न तो जीव उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है और जब उत्पाद तथा विनाश के अनेकत्व की अपेक्षा ली जाय तब प्रतिक्षण होने वाले विनाश और उत्पाद का पक्ष फलित होता है।) वह इस प्रकार है—जैसे–'जो घड़ा है वही कूंडा है' ऐसा कहे जाने पर, घड़े और कूंडे के स्वरूप का एकत्व असम्भव होने से, उन दोनों की आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है, उसी प्रकार 'जो उत्पाद है वही विनाश है' ऐसा कहे जाने पर, उत्पाद और विनाश के स्वरूप का एकत्व असम्भव होने से उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्य प्रगट होता है, इसलिये देवादि पर्याय के उत्पन्न होने और मनुष्यादि पर्याय के नष्ट होने पर, 'जो उत्पाद है वही विलय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से) उन दोनो का आधारभूत ध्रौव्य वाला जीवद्रव्य प्रगट होता ही है (लक्ष्य में आता है)। इसलिये सर्वदा द्रव्यपने से जीव टंकोत्कीर्ण रहता है और फिर, जैसे—'अन्य घडा है और अन्य कूंडा है' ऐसा कहे जाने पर, उन दोनो की आधारभूत मिट्टी का अन्यत्व (भिन्न-भिन्नपना) असंभव होने के कारण घड़े का और कूंडे का (दोनों का भिन्न-भिन्न) स्वरूप प्रगट होता है, उस ही प्रकार 'अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है' ऐसा कहा जाने पर, उन दोनों के आधारभूत ध्रौव्य का अन्यत्व असभव होने से, उत्पाद और व्यय का स्वरूप प्रगट होता है, इसलिये देवादि पर्याय के उत्पन्न होने पर और मनुष्यादि पर्याय के नष्ट होने पर अन्य उत्पाद है और 'अन्य व्यय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से), उत्पाद और व्यय वाली देवादिपर्याय और मनुष्यादिपर्याय प्रगट होती है (लक्ष्य मे आती है)। इसलिये जीव प्रतिक्षण पर्याय से अनवस्थित (भेदरूप) है ॥११६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ जीवस्य द्रव्येण नित्यत्वेऽपि पर्यायेण विनश्वरत्व दर्शयति—

जायदि णेव ण णस्सदि जायते नैव न नश्यति द्रव्यार्थिकनयेन। क्व? **खणभगसमुब्भवे जणे कोई** क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कोऽपि। क्षण क्षण प्रति भङ्गसमुद्भवो यत्र सम्भवति क्षणभङ्गसमुद्भवस्तस्मिन्क्षणभङ्गसमुद्भवे विनश्वरे द्रव्यार्थिकनयेन जने लोके जगति कश्चिदपि, तस्मान्नैव जायते न चोत्पद्यत इति हेतु वदति **जो हि भवो सो विलओ** द्रव्यार्थिकनयेन यो हि भवस्स एव विलयो यत कारणात्। तथाहि—मुक्तात्मना य एव सकलविमलकेवलज्ञानादिरूपेण मोक्षपर्यायेण भव उत्पाद स

एव निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायेण विलयो विनाशस्तौ च मोक्षपर्यायमोक्षमार्गपर्यायौ कार्यकारणरूपेण भिन्नौ, तदुभयाधारभूत यत्परमात्मद्रव्य तदेव मृत्पिण्डघटाधारभूतमृत्तिकाद्रव्यवत् मनुष्यपर्यायदेवपर्यायाधारभूतससारिजीवद्रव्यवद्वा । क्षणभगसमुद्भवे हेतु कथ्यते । **सभवविलओ त्ति ते णाणा** सम्भवविलयौ द्वाविति तौ नाना भिन्नौ यत कारणात्तत पर्यायार्थिकनयेन भगोत्पादौ । तथाहि—य एव पूर्वोक्तमोक्षपर्यायस्योत्पादो मोक्षमार्गपर्यायस्य विनाशस्तावेव भिन्नौ न च तदाधारभूतपरमात्मद्रव्यमिति । ततो ज्ञायते द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायरूपेण विनाशोऽस्तीति ।।११६।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि द्रव्य की अपेक्षा जीवन नित्य है तथापि पर्याय की अपेक्षा विनाशीक या अनित्य है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(खणभगसमुब्भवे जणे) पर्यायार्थिकनय से क्षण-क्षण मे नाश व उत्पन्न होता है ऐसे लोक में (कोई णेव जायदि ण णस्सदि) द्रव्यार्थिकनय से कोई जीव न तो उत्पन्न होता है और न नाश होता है । कारण (जो हि भवोसो विलओ) जो निश्चय से उत्पत्ति रूप है वही नाश रूप है । (ते सभव बिलयत्ति णाणा) वे उत्पाद और नाश भिन्न-भिन्न है । क्षण-क्षण मे जहां पर्यायार्थिकनय से अवस्था का नाश व उत्पाद होता है ऐसे इस लोक मे कोई भी जीव द्रव्यार्थिकनय से न नया पैदा होता है, न पुराना नाश होता है । इसका कारण यह है कि पर्याय की अपेक्षा जो निश्चय से उपजे है वही नाश होय है । जैसे मुक्त आत्माओ का जो ही सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानादि रूप मोक्ष की अवस्था से उत्पन्न होना है सो ही निश्चयरत्नत्रयमयी निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय की अपेक्षा विनाश होना है । वे मोक्ष पर्याय और मोक्षमार्ग पर्याय यद्यपि कार्य और कारण रूप से परस्पर भिन्न-भिन्न है तथापि इन पर्यायों का आधार रूप जो परमात्मा द्रव्य है सो वही है, अन्य नही है । अथवा जैसे मिट्टी के पिण्ड के नाश होते हुए और घटके बनते हुए इन दोनों की आधारभूत मिट्टी वही है । अथवा मनुष्य पर्याय को नष्ट होकर देव पर्याय को पाते हुए इन दोनो का आधार रूप संसारी जीव द्रव्य वही है । पर्यायार्थिक नय से विचार करे तो वे उत्पाद और व्यय परस्पर भिन्न-भिन्न है । जैसे पहली कही हुई बात मे जो कोई मोक्ष अवस्था का उत्पाद है तथा मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश है ये दोनो ही एक नही है किन्तु भिन्न-भिन्न हैं । यद्यपि इन दोनो का आधार रूप परमात्म-द्रव्य भिन्न नही है अर्थात् वही एक है इससे यह जाना जाता है कि द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य मे नित्यपना होते हुए भी पर्याय की अपेक्षा नाश है ।।११६।।**

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्योतयति—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे ।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स[1] ॥१२०॥

तस्मात् नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससारे ।
ससार पुन क्रिया ससरतो द्रव्यस्य ॥१२०॥

यत खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थितः, ततः प्रतीयते न कश्चिदपि संसारे स्वभावेनावस्थित इति । यच्चात्रानवस्थितत्वं तत्र संसार एव हेतुः । तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात् । अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादात्मकः क्रियाख्यः परिणामस्तत्ससारस्य स्वरूपम् ॥१२०॥

भूमिका—अब, जीव की अनवस्थितता का हेतु प्रगट करते है—

अन्वयार्थ—[तस्मात् तु] इसलिये [ससारे] समार मे [स्वभावसमवस्थित. इति] स्वभाव से अवस्थित ऐसी [कश्चित् नास्ति] कोई (वस्तु) नही है, (अर्थात् ससार मे किसी भी वस्तु का स्वभाव केवल एक रूप रहना नही है) [पुन]और (जो) [ससरतो द्रव्यस्य] (चारो गतियो मे) भ्रमण करने वाले (जीव) द्रव्य की [क्रिया] (अन्य अवस्था रूप) परिणति है, (वही) [ससार] ससार है ।

टीका—क्योकि वास्तव मे जीव द्रव्यत्व से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अनवस्थित है, इससे यह प्रतीत होता है कि ससार में कोई भी (वस्तु) स्वभाव से अवस्थित नही है (अर्थात् किसी का स्वभाव केवल अविचल-एकरूप रहना नही है) और यहां (इस ससार मे) जो अनवस्थितता है उसमे संसार ही हेतु है, क्योकि उसके (संसार के) मनुष्यादि पर्यायात्मरुपना है, कारण कि वह संसार रूप से ही वैसा (अनवस्थित) है । (अर्थात् संसार का स्वरूप ही ऐसा है ।) अब, परिणमन करते हुये द्रव्य का जो पूर्व दशा का परित्याग तथा उत्तर दशा का ग्रहण रूप क्रिया नामक परिणाम है, वह ही संसार का स्वरूप है ॥१२०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ विनश्वरत्वे कारणमुपन्यस्यति अथवा प्रथमस्थलेऽधिकारसूत्रेण मनुष्यादिपर्यायाणां कर्मजनितत्वेन यद्विनश्वरत्वं सूचितं तदेव गाथात्रयेण विशेषेण व्याख्यानमिदानीं तस्योपसंहारमाह—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति तस्मान्नास्ति कश्चित्स्वभावसमवस्थित इति । यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण मनुष्यादिपर्यायाणां विनश्वरत्वव्याख्यानं कृतं तस्मादेव ज्ञायते परमानन्दैकलक्षणपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतशुद्धात्मस्वभाववदवस्थितो नित्यः कोऽपि नास्ति । क्व ? **संसारे**

---

१ दीअस्स (ज० वृ०) ।

निस्ससारशुद्धात्मनो विपरीते ससारे । ससारस्वरूप कथयति—**संसारो पुण किरिया** ससार पुन क्रिया निष्क्रियनिर्विकल्पशुद्धात्मपरिणतेर्विसदृशा मनुष्यादिविभावपर्यायपरिणतिरूपा क्रिया ससारस्वरूप । सा च कस्य भवति ? **संसरमाणस्स जीवस्स** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमुक्तात्मनो विलक्षणस्य ससरत परिभ्रमत ससारिजीवस्येति । तत स्थित मनुष्यादिपर्यायात्मक ससार एव विनश्वरत्वे कारणमिति ॥१२०॥

एव शुद्धात्मनो भिन्नाना कर्मजनितमनुष्यादिपर्यायाणा विनश्वरत्वकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन द्वितीयस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे इस विनाश स्वरूप जगत् के लिये कारण क्या है ? उसको सक्षेप मे कहते है अथवा पहले स्थल मे अधिकार सूत्र से जो यह सूचित किया था कि मनुष्यादि पर्याये कर्मो के उदय से हुई है इससे विनाशीक है इसी ही बात को तीन गाथाओ से विशेप करके व्याख्यान किया गया अब उसको सकोचते हुए कहते है—

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(तम्हा दु) इसी कारण से (ससारे) इस संसार मे (कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति णत्थि) कोई वस्तु स्वभाव से स्थिर नही है । (पुण) तथा (ससरमाणस्स जीवस्स) भ्रमण करते हुए जीव द्रव्य की (क्रिया) क्रिया (ससारो) ससार है ।**

जैसा पहले कह चुके है कि मनुष्यादि पर्याये नाशवन्त है इसी कारण से यह बात जानी जाती है कि जैसे परमानन्दमयी एक लक्षणधारी परम चैतन्य के चमत्काररूप परिणत शुद्धात्म स्वभाव स्थिर है, वैसा कोई भी जीव पदार्थ इस ससार-रहित शुद्धात्मा से विपरीत संसार मे अवस्थित नित्य नही है । तथा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव के धारी मुक्तात्मा से विलक्षण ससार मे भ्रमण करते हुये इस संसारी जीव की जो क्रिया रहित और विकल्प रहित शुद्धात्मा की परिणति से विरुद्ध मनुष्यादि रूप विभावपर्याय मे परिणमन रूप क्रिया है सो ही ससार का स्वरूप है । इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि पर्यायस्वरूप संसार ही जगत् के नाश मे कारण है ॥१२०॥

इस तरह शुद्धात्मा से भिन्न कर्मो से उत्पन्न मनुष्यादि पर्याय नाशवत है इस कथन की मुख्यता से चार गाथाओं के द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ परिणामात्म के संसारे कुत पुद्गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वमित्यत्र समाधानमुपवर्णयति—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं दु[1] परिणामो ॥१२१॥

आत्मा कर्ममलीमस परिणाम लभते कर्मसयुक्तम् ।
तत श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणाम ॥१२१॥

---

१ तु (ज० वृ०)

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतुः । अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतुः, द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनेवोपलम्भात् । एवं सतीतरेतराश्रयदोषः न हि । अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात् एवं कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव । तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ॥१२१॥

भूमिका—**अब, परिणमनस्वरूप संसार में किस कारण से पुद्गल का सम्बन्ध होता है–कि जिससे उसके (संसार के) मनुष्यादि पर्यात्मकपना होता है ? इसका यहां समाधान करते है—**

अन्वयार्थ—[कर्ममलीमस आत्मा] कर्म से मलिन आत्मा [कर्मसयुक्त परिणाम] कर्मसयुक्त परिणाम को (द्रव्यकर्म के सयोग से होने वाले अशुद्ध परिणाम को) [लभते] प्राप्त करता है, [तत] उससे [कर्म श्लिष्यति] कर्म चिपक जाता है (द्रव्य कर्म का बंध होता है), [तस्मात् तु] इसलिये [परिणामः कर्म] परिणाम कर्म है ।

टीका—**'संसार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का परिणाम है वही द्रव्यकर्म के चिपकने का (बन्ध का) हेतु है । अब, उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है ? (इसके उत्तर में कहते है कि) द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्यकर्मकी[1] संयुक्तता से ही वह (अशुद्ध परिणाम) कर्म है ।**

शका—**ऐसा होने से इतरेतराश्रयदोष[2] आयगा, क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ सम्बद्ध आत्माका जो पूर्वका द्रव्यकर्म[3] है उसका वहां हेतुरूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है ।**

इसप्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम होने से, वह उपचार से द्रव्यकर्म ही है, और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्त्ता भी उपचार से है ॥१२२॥

---

१ द्रव्यकर्म के सयोग से ही अशुद्ध परिणाम होते है, द्रव्यकर्म के विना वे कभी नही होते । इसलिये द्रव्यकर्म अशुद्ध परिणाम का कारण है । २ एक असिद्ध वात को सिद्ध करने के लिये दूसरी असिद्ध वात का आश्रय लिया जाय, और फिर उस दूसरी वात को सिद्ध करने के लिये पहली का आश्रय लिया जाय,—सो इस तर्क-दोष को इतरेतराश्रयदोप कहा जाता है ।

द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध परिणाम कहा है, फिर उस अशुद्ध परिणाम के कारण के सम्वन्ध मे पूछे जाने पर, उसका कारण पुन द्रव्यकर्म कहा है, इसलिये शकाकार को शका होती है कि इस वात मे इतरेतराश्रय दोप आता है । ३ नवीन द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध आतमपरिणाम है, और उस अशुद्ध आतम-परिणाम का कारण वह का वही (नवीन) द्रव्यकर्म नही किन्तु पहले का (पुराना) द्रव्यकर्म है, इसलिये इसमे इतरेतराश्रय दोप नही आता ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ ससारस्य कारण ज्ञानावारणादि द्रव्यकर्म तस्य तु कारण मिथ्यात्वरागादिपरिणाम इत्यावेदयति—

आदा निर्दोपिपरमात्मा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशात् **कम्ममलिमसो** कर्ममलीमसो भवति । तथा भवन्सन कि करोति ? **परिणाम लहदि** परिणाम लभते । कथम्भूत ? **कम्मसजुत्तं** कर्मरहितपरमात्मनो विसदृशकर्मसयुक्त मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणाम **तत्तो सिलिसदि कम्मं** तत परिणामात् श्लिष्यति वध्नाति । कि ? कर्म । यदि पुनर्निर्मलविवेकज्योति - परिणामेन परिणमति तदा तु कर्म मुञ्चति **तम्हा कम्मं तु परिणामो** तस्मात् कर्म तु परिणाम । यस्माद्रागादिपरिणामेन कर्म वध्नाति, तस्माद्रागादिविकल्परूपो भावकर्मस्थानीय सरागपरिणाम एव कर्म-कारणत्वादुपचारेण कर्मेति भण्यते । तत स्थित रागादिपरिणाम कर्मवन्धकारणमिति ॥१२१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि ससार का कारण ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म है और इन द्रव्यकर्म के बध का कारण मिथ्यादर्शन व राग आदि रूप परिणाम है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(आदा कम्ममलिमसो) आत्मा द्रव्य कर्मो से अनादि काल से मैला है इसलिये (कम्मसंजुत्त परिणामं) मिथ्यात्व आदि भाव-कर्म रूप परिणाम (लहदि) प्राप्त होता है । (तत्तो) उस मिथ्यात्व आदि परिणाम से (कम्म सिलिसदि) पुद्गल कर्म जीव के साथ बध जाता है (तम्हा) इसलिये (परिणामो) मिथ्यात्व व रागादि रूप परिणाम ही (कम्मं दु) भावकर्म है अर्थात् कर्म के बन्ध का कारण है । निश्चय-नय से यह दोष-रहित परमात्मा शुद्धबुद्ध एक स्वभाव वाला होने पर भी व्यवहार नयसे अनादि कर्म बन्ध के कारण कर्मो से मैला हो रहा है । इसलिये कर्म रहित परमात्मा से विरुद्ध कर्मसहित मिथ्यात्व व रागादि परिणाम को प्राप्त होता है—इस परिणाम से द्रव्य कर्मो को बांधता है । और जब निर्मल भेद-विज्ञान की ज्योतिरूप परिणाम मे परिणमता है तब कर्मो से छूट जाता है, क्योकि रागद्वेष आदि परिणाम से कर्म बंधता है । इसलिये राग आदि विकल्परूप जो भावकर्म या सरागपरिणाम है सो ही द्रव्यकर्मो का कारण होने से उपचार से कर्म कहलाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि राग आदि परिणाम ही कर्म बन्ध का कारण है ॥१२१॥**

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तृत्वमुद्योतयति—

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु[1] कत्ता ॥१२२॥

परिणाम स्वयमात्मा सा पुन क्रियेति भवति जीवमयी ।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ॥१२२॥

---

१ तु (ज० वृ०)

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात् । यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात् । या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म । ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मणः । अथ द्रव्यकर्मणः कः कर्तेति चेत् ? पुद्गलपरिणामो हि तावत्स्वयं पुद्गल एव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात् । यश्च तस्य तथाविध. परिणामः सा पुद्गलमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात् । या च क्रिया सा पुन· पुद्गलेन स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म । ततस्तस्य परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः तत आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति ॥१२२॥

भूमिका—अब, परमार्थ से आत्मा के द्रव्यकर्म का अकर्तृत्व प्रकाशित करते है (निश्चय से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता नही है ऐसा प्रगट करते है)—

अन्वयार्थ—[परिणाम] परिणाम [स्वयम्] स्वय [आत्मा] आत्मा है, [सा पुन] और वह [जीवमयी क्रिया इति भवति] जीवमय क्रिया है, [क्रिया] क्रिया को [कर्म इति मता] कर्म माना गया है, [तस्मात्] इसलिये आत्मा [कर्मण. कर्ता तु न] द्रव्यकर्म का कर्त्ता तो नही है ।

टीका—प्रथम तो आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि परिणामी के परिणाम के स्वरूप का कर्त्तापना होने से, अनन्यपना है । जो उस (आत्मा) का तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणाम लक्षण वाली क्रिया आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई है जो (जीवमयी) क्रिया है, वह, आत्मा के द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य होने से, कर्म है । इसलिये परमार्थ से आत्मा अपने परिणाम स्वरूप भावकर्म का ही कर्ता है, किन्तु पुद्गल परिणाम स्वरूप द्रव्यकर्म का नही ।

अब यहां यह प्रश्न होता है कि '(जीव भावकर्म का ही कर्त्ता है तब फिर) द्रव्य कर्म का कर्त्ता कौन है ?' इसका उत्तर इस प्रकार है—प्रथम तो पुद्गल का परिणाम वास्तव मे स्वयं पुद्गल ही है, क्योकि परिणामी के, परिणाम के स्वरूप का कर्त्तापना होने से अनन्यपना है । जो उस (पुद्गल) का तथाविध परिणाम है, वह पुद्गलमयी ही

क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणाम स्वरूप क्रिया निजमय होती है, यह स्वीकार किया गया है। जो (पुद्गलमयी) क्रिया है, वह पुद्गल के द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्त होने से, कर्म है। इसलिये परमार्थ से पुद्गल अपने परिणाम स्वरूप उस द्रव्यकर्म का ही कर्त्ता है, किन्तु आत्मा के परिणाम स्वरूप भावकर्म का नहीं। इससे (यह समझना चाहिये कि) आत्मा आत्मस्वरूप परिणमित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणमित नही होता ॥१२२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मा निश्चयेन स्वकीयपरिणामस्यैव कर्ता, न च द्रव्यकर्मण इति प्रतिपादयति। अथवा द्वितीयपातनिकाशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धनयेन यथैवाकर्ता तथैवाशुद्धनयेनापि साख्येन यदुक्त तन्निषेधार्थमात्मनो बन्धमोक्षसिद्ध्यर्थं कथचित्परिणामित्व व्यवस्थापयतीति पातनिकाद्वय मनसि सप्रधार्य सूत्रमिद निरूपयति—

परिणामो सयमादा परिणाम स्वयमात्मा आत्मपरिणामस्तावदात्मैव। कस्मात् ? परिणाम-परिणामिनोस्तन्मयत्वात्। **सा पुण किरियत्ति होदि** सा पुन क्रियेति भवति स च परिणाम क्रिया परिणतिरिति भवति। कथम्भूता ? **जीवमया** जीवेन निर्वृत्तत्वाज्जीवमयी **किरिया कम्म त्ति मदा** जीवेन स्वतन्त्रेण स्वाधिनेन शुद्धाशुद्धोपादानकारणभूतेन प्राप्यत्वात्सा क्रिया कर्मेति मता समता। कर्मशब्देनात्र यदेव चिद्रूप जीवादभिन्न भावकर्मसज्ञ निश्चयकर्म तदेव ग्राह्य। तस्यैव कर्ता जीव **तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता** तस्माद्द्रव्यकर्मणो न कर्तेति। अत्रैतदायाति–यद्यपि कथचित् परिणामित्वे सति जीवस्य कर्तृत्व जात तथापि निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता पुद्गलकर्मणा व्यवहारेणेति। तत्र तु यदा शुद्धोपादानकारणरूपेण शुद्धोपयोगेन परिणमति तदा मोक्ष साधयति, अशुद्धोपादानकारणेन तु बन्धमिति। पुद्गलोऽपि जीववन्निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता जीवपरिणामाना व्यवहारेणेति ॥१२२॥

एव रागादिपरिणामा कर्मबन्धकारण तेषामेव कर्ता जीव इतिकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन तृतीयस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि निश्चय से यह आत्मा अपने ही परिणाम का कर्ता है, द्रव्य कर्मो का कर्ता नही है। अथवा दूसरी उत्थानिका यह है कि शुद्ध पारिणामिक परम भाव को ग्रहण करने वाली शुद्धनय से जैसे यह जीव अकर्ता है वैसे ही अशुद्ध निश्चयनय से भी साख्य मत के कहे अनुसार जीव अकर्ता है। इस बात के निषेध के लिये तथा आत्मा के वन्ध व मोक्ष सिद्ध करने के लिये किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते है। इस तरह दो उत्थानिका मन मे रखकर आगे का सूत्र आचार्य कहते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(परिणामो सयम् आदा) जो परिणाम या भाव है सो स्वयं आत्मा है (पुण सा किरिय त्ति होदि) तथा वही परिणाम क्रिया है। (जीवमयी)**

क्योकि, वह क्रिया जीव के द्वारा की गई है इसलिये जीवमयी है (किरिया कम्मत्ति मदा) तथा जो क्रिया है उसी को जीव का कर्म ऐसा माना है (तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता) इसलिये यह आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता नही है।

आत्मा का जो परिणाम होता है वह आत्मा ही है क्योंकि परिणाम और परिणामी तन्मय होते है। इस परिणाम को ही क्रिया कहते है क्योंकि यह परिणाम जीव से उत्पन्न हुआ है। जो क्रिया जीवने स्वाधीनता से शुद्ध या अशुद्ध उपादानकारण रूप से प्राप्त की है वह क्रिया जीव का कर्म है यह सम्मत है। यहां कर्म शब्द से जीव से अभिन्न चैतन्य कर्म को लेना चाहिये। इसी को भावकर्म या निश्चयकर्म भी कहते है। इस कारण यह आत्मा द्रव्यकर्मो का कर्ता नहीं है। यहां यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि जीव कथंचित् परिणामी है इससे जीव के कर्तापना है तथापि निश्चय से यह जीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, व्यवहार मात्र से ही पुद्गल कर्मो का कर्त्ता है। इनमे से भी जब यह जीव शुद्ध उपादान रूप से शुद्धोपयोग रूप से परिणमन करता है तब मोक्ष को साधता है और जब अशुद्ध उपादान रूप से परिणमता है तब बन्ध को साधता है। इसी तरह पुद्गल भी जीव के समान निश्चय से अपने परिणामों का ही कर्ता है। व्यवहार से जीव के परिणामों का कर्त्ता है, ऐसा जानना ॥१२२॥

इस तरह रागादि भाव कर्मबंध के कारण है उन्ही का कर्त्ता जीव है, इस कथन की मुख्यता से दो गाथाओं में तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ किं तत्स्वरूपं येनात्मा परिणमतीति तदावेदयति—

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥१२३॥

परिणमति चेतनया आत्मा पुन चेतना त्रिधाभिमता।
सा पुन ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ॥१२३॥

यतो हि नाम चैतन्यमात्मनः स्वधर्मव्यापकत्वं, ततश्चेतनैवात्मनः स्वरूपं तया खल्वात्मा परिणमति। यः कश्चनाप्यात्मनः परिणामः स सर्वोऽपि चेतनां नातिवर्तत इति तात्पर्यम्। चेतना पुनर्ज्ञानकर्मकर्मफलत्वेन त्रेधा। तत्र ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतना ॥१२३॥

भूमिका—अब, यह कहते है कि वह कौन सा स्वरूप है जिसरूप आत्मा परिणमित होती है ?—

अन्वयार्थ—[आत्मा] आत्मा [चेतनया] चेतनारूप से [परिणमति] परिणमित होता है। [पुन] और [चेतना] चेतना [त्रिधा अभिमता] तीन प्रकार की मानी गई है, [पुन] और [सा] वह [ज्ञाने] ज्ञान सम्बन्धी, [कर्मणि] कर्मसम्बन्धी [वा] अथवा [कर्मण. फले] कर्मफल सम्बन्धी [भणिता] कही गई है।

टीका—**क्योकि चैतन्य आत्मा का स्वधर्मव्यापक[1] है, इसलिये चेतना ही आत्मा का स्वरूप है, उस रूप (चेतनारूप) वास्तव में आत्मा परिणमित होती है। आत्मा का जो कुछ भी परिणाम हो वह सब ही चेतना का उल्लंघन नही करता, (अर्थात् आत्मा का कोई भी परिणाम चेतना को किंचित्मात्र भी नही छोडता—बिना चेतना के बिल्कुल नही होता)—यह तात्पर्य है और चेतना ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप से तीन प्रकार की है। उसमे ज्ञानपरिणति ज्ञानचेतना, कर्म परिणति कर्मचेतना और कर्मफलपरिणति कर्मफलचेतना है ॥१२३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ येन परिणामेनात्मा परिणमति त परिणाम कथयति—

परिणमदि चेदणाए आदा परिणमति चेतनया करणभूतया। स क ? आत्मा। य कोऽप्यात्मन शुद्धाशुद्धपरिणाम स सर्वोऽपि चेतना न त्यजति इत्यभिप्राय। **पुण चेदणा तिधाभिमदा सा** चेतना पुनस्त्रिधाभिमता। कुत्र कुत्र ? **णाणे** ज्ञानविषये **कम्मे** कर्मविषये **फलम्मि वा** फले वा। कस्य फले ? **कम्मणो** कर्मण **भणिदा** भणिता कथितेति। ज्ञानपरिणति ज्ञानचेतना अग्रेवक्ष्यमाणा, कर्मपरिणति कर्मचेतना कर्मफलपरिणति कर्मफलचेतनेति भावार्थ ॥१२३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जिस परिणाम से आत्मा परिणमन करता है, वह परिणाम क्या है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(आदा) आत्मा (चेदणाए) चेतना के स्वभाव रूप से (परिणमदि) परिणमन करता है (पुण) तथा (चेदणा तिधा अभिमदा) वह चेतना तीन प्रकार मानी गई है। (पुण) अर्थात् (सा) वह चेतना (णाणे) ज्ञान के सम्बन्ध में (कम्मे) कर्म या कार्य के सम्बन्ध मे (वा कम्मणो फलम्मि) तथा कर्मो के फल मे (भणिदा) कही गई है। हर एक आत्मा चेतना से परिणमन करता रहता है अर्थात् जो कोई भी आत्मा का शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतना को नहीं छोड़ता है। वह चेतना जब ज्ञान को विषय करती है अर्थात् ज्ञान की परिणति में वर्तन करती है तब उसको ज्ञान चेतना कहते है। जब वह चेतना किसी कर्म के करने में उपयुक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मो के फल की तरफ परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफल चेतना कहते है। इस तरह चेतना तीन प्रकार की होती है ॥१२३॥**

---

१ स्वधर्मव्यापकत्व—निजधर्मो मे व्यापकपना।

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपमुपवर्णयति—

णाणं अट्ठवियप्पो[1] कम्मं जीवेण जं समारद्धं ।
तमणेगविधं[2] भणिदं[3] फलं त्ति सोक्खं व दुक्खं वा ।।१२४।।

ज्ञानमर्थविकल्प कर्म जीवेन यत्समारब्धम् ।
तदनेकविध भणित फलमिति सौख्य वा दु ख वा ।।१२४।।

अर्थविल्कपस्तावत् ज्ञानम् । तत्र कः खल्वर्थः, ? स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम् । यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारोर्थविकल्पस्तद् ज्ञानम् । क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाणः खल्वात्मा प्रतिक्षणं तेन तेन भावेन भवता यः तद्भाव. स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात् । तत्त्वेकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसन्निधिसद्भावासद्भावाभ्यामनेकविधम् । तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्य सुखदुःखं तत्कर्मफलम् । तत्र यद्द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यासद्भावात्कर्म तस्य फलमनाकुलत्वलक्षणं प्रकृतिभूतं सौख्यं, यत्तु द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यसद्भावात्कर्म तस्य फलं सौख्यलक्षणाभावाद्विकृति भूतं दुःखम् । एव ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपनिश्चयः ।।१२४।।

भूमिका—अब ज्ञान, कर्म और कर्म फल का स्वरूप वर्णन करते है—

अन्वयार्थ—[अर्थविकल्प] अर्थ विकल्प (अर्थात् स्व-पर पदार्थो का भिन्नता पूर्वक युगपत् अवभासन) [ज्ञान] ज्ञान है, [जीवेन] जीव के द्वारा [यत् समारब्ध] जो किया जा रहा हो वह [कर्म] कर्म है, [तत् अनेकविध] वह कर्म अनेक प्रकार का है, [सौख्य वा दु ख वा] सुख अथवा दु ख [फल इति भणितम्] कर्मफल कहा गया है ।

टीका—प्रथम तो, अर्थविकल्प ज्ञान है । वहाँ, अर्थ क्या है ? स्व-परके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ (समस्त पदार्थ) है । उसके आकारो का अवभासन (प्रकाशित होना) विकल्प है । और दर्पण के निज विस्तार की भाँति (अर्थात् जैसे दर्पण के निज विस्तार मे स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते है; उसी प्रकार) जिसमे एक ही साथ स्व-परा-कार अवभासित होते है, ऐसा अर्थ-विकल्प ज्ञान है । जो आत्मा के द्वारा किया जाता है वह कर्म है । क्रिया करती हुई आत्मा वास्तव मे प्रतिक्षण उन-उन भावरूप होती है । जो वह भाव है वही, आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से, कर्म है । वह (कर्म) एक प्रकार का होने पर भी द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेक प्रकार का है ।

१ अट्ठवियप्प (ज० वृ०) । २ तमणेगविह (ज० वृ०) । ३ भणिय (ज० वृ०) ।

अब कर्म से उत्पन्न किया जाने वाला सुख-दुःख कर्मफल है। वहां, द्रव्य कर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्व-लक्षण प्रकृति (स्वभाव) भूत-सुख है, और द्रव्यकर्म रूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल विकृति-(विकार) भूत दुःख है, क्योंकि वहां सुख के लक्षण का अभाव है।

इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल के स्वरूप निश्चित हुये ॥१२४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण त्रिधा चेतना विशेषेण विचारयति—

णाण अट्ठवियप्पं ज्ञान मत्यादिभेदेनाष्टविकल्प भवति। अथवा पाठान्तर **णाणं अट्ठवियप्पो** ज्ञानमर्थविकल्प तथाह्यर्थ परमात्मादिपदार्थ अनन्तज्ञानसुखादिरूपोऽहमिति, रागाद्यास्रवास्तु मत्तो भिन्ना इति स्वपराकारावभासेनादर्श इवार्थपरिच्छित्तिसमर्थो विकल्प विकल्पलक्षणमुच्यते। स एव ज्ञान ज्ञानचेतनेति। **कम्मं जीवेण ज समारद्ध** कर्म जीवेन यत्समारव्ध बुद्धिपूर्वकमनोवचनकायव्यापाररूपेण जीवेन यत्सम्यक्कर्तुमारव्ध तत्कर्म भण्यते। सैव कर्मचेतनेति **तमणेगविहं भणिय** तच्च कर्म शुभाशुभशुद्धोपयोगभेदेनानेकविध त्रिविध भणितमिदानी फलचेतना कथ्यते—**फलत्ति सोक्खं व दुःखं वा** फलमिति सुख व दु ख वा विषयानुरागरूप यदशुभोपयोगलक्षण कर्म तस्य फलमाकुलत्वोत्पादक नारकादिदु ख, यच्च धर्मानुरागरूप शुभोपयोगलक्षण कर्म तस्य फल चक्रवर्त्यादिपञ्चेन्द्रियभोगानुभवरूप, तच्चाशुद्धनिश्चयेन सुखमप्याकुलोत्पादकत्वात् शुद्धनिश्चयेन दु खमेव। यच्च रागादिविकल्परहितशुद्धोपयोगपरिणतिरूप कर्म तस्य फलमनाकुलत्वोत्पादक परमानन्दैकरूपसुखामृतमिति। एव ज्ञानकर्म्मकर्मफलचेतनास्वरूप ज्ञातव्यम् ॥१२४॥

उत्थानिका—आगे चेतना के तीन प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफल-चेतना के स्वरूप का विशेष विचार करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णाणं अट्ठवियप्पं) ज्ञान मति आदि के भेद से आठ प्रकार का है। अथवा (अट्ठवियप्पो) पदार्थों के जानने मे समर्थ जो विकल्प है (णाण) वह ज्ञान या ज्ञान चेतना है। (जीवेण जं समारद्धं कम्मं) जीव के द्वारा जो प्रारम्भ किया हुआ कर्म है (तमणेगविहं भणियं) वह अनेक प्रकार का कहा गया है इस कर्म की चेतना सो कर्म चेतना है (वा सोक्ख व दुक्खं फलत्ति) तथा सुख या दुःख रूप फल में चेतना सो कर्मफल चेतना है। ज्ञान को अर्थ का विकल्प कहते है—जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और परके आकार को झलकाने वाले दर्पण के समान स्व-पर पदार्थों को जानने मे समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्तज्ञान सुखादि रूप में परमात्मा पदार्थ हूँ तथा रागादि आस्रव को आदि लेकर सर्व पुद्गलादि द्रव्य मुझसे भिन्न है। इसी**

अर्थ विकल्प को ज्ञानचेतना कहते है। इस जीव ने अपनी बुद्धिपूर्वक मन वचन काय के व्यापार रूप से जो कुछ करना प्रारम्भ किया हो उसको कर्म कहते है। यही कर्मचेतना है। सो कर्मचेतना शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की कही गई। सुख तथा दुःख को कर्म का फल कहते हैं उसको अनुभव करना सो कर्मफल-चेतना है। विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल अति आकुलता को पैदा करने वाला नारक आदि का दुःख है। धर्मानुराग रूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल चक्रवर्ती आदि पंचेन्द्रियों के भोगों का भोगना है। यद्यपि इसको अशुद्धनिश्चयनय से सुख कहते है तथापि यह आकुलता को उत्पन्न करने वाला होने से शुद्धनिश्चयनय से दुःख ही है। और जो रागादि रहित शुद्धोपयोग में परिणमन रूप कर्म है उसका फल अनाकुलता को पैदा करने वाला परमानन्दमयी एक रूप सुखामृत का स्वाद है। इस तरह ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना स्वरूप जानना चाहिये ॥१२४॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यात्मत्वेन निश्चिनोति—

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी ।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥१२५॥

आत्मा परिणामात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी ।
तस्मात् ज्ञान कर्म फल चात्मा ज्ञातव्य ॥१२५॥

आत्मा हि तावत्परिणामात्मैव, परिणामः स्वयमात्मेति स्वयमुक्तत्वात्। परिणामस्तु चेतनात्मकत्वेन ज्ञानं कर्म कर्मफलं वा भवितुं शीलः, तन्मयत्वाच्चेतनायाः। ततो ज्ञानं कर्म कर्मफलं चात्मैव। एवं हि शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासंभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तःप्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते ॥१२५॥

भूमिका—अब ज्ञान, कर्म और कर्मफल को आत्मा रूप से निश्चित करते है—

अन्वयार्थ—[आत्मा परिणामात्मा] आत्मा परिणाम स्वभाव वाली है, [परिणाम] परिणाम [ज्ञानकर्मफलभावी] ज्ञान रूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होता है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञान, कर्म, फल च] ज्ञान, कर्म और कर्मफल [आत्मा ज्ञातव्य] आत्म-स्वरूप समझने चाहिये।

टीका—प्रथम तो आत्मा वास्तव में परिणाम स्वरूप ही है, क्योकि 'परिणाम स्वयं आत्मा है, ऐसा (१२२ वी गाथा मे भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य देव ने) स्वयं कहा है। परिणाम तो चेतना स्वरूप होने से ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूप होने के स्वभाव वाला

है, क्योंकि चेतना तन्मय (ज्ञानमय, कर्ममय अथवा कर्मफलमय) होती है। इसलिये ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है। इसी प्रकार वास्तव मे शुद्ध द्रव्य के निरूपण मे, परद्रव्य के सम्पर्क (सम्बन्ध) का असम्भव होने से और पर्यायों का द्रव्य के भीतर प्रलीन (लोप) हो जाने से, आत्मा शुद्ध द्रव्य ही रहता है ॥१२५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानकर्मकर्मफयान्यभेदनयेनात्मैव भवतीति प्रज्ञापयति—

अप्पा परिणामप्पा आत्मा भवति ? कथम्भूत ? परिणामात्मा परिणामस्वभाव । कस्मादिति चेत् ? "परिणामो सयमादा" इति पूर्व स्वयमेव भणितत्वात् । परिणाम कथ्यते **परिणामो णाणकम्मफलभावी** परिणामो भवति । किंविशिष्ट ? ज्ञानकर्म्मकर्मफलभावी ज्ञानकर्मकर्म्मफलरूपेण भवित शील इत्यर्थ **तम्हा** तस्मादेव तस्मात्कारणात् **णाणं** पूर्वसूत्रोक्ता ज्ञानचेतना **कम्म** तत्रैवोक्तलक्षणा कर्मचेतना **फल च** पूर्वोक्तलक्षण कर्म फलचेतना च । **आदा मुणेदव्वो** इय चेतना त्रिविधाप्यभेदनयेनात्मैव मन्तव्यो ज्ञातव्य इति । एतावता किमुक्त भवति । त्रिविधचेतनापरिणामेन परिणामी सन्नात्मा । कि करोति ? निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धपरिणामेन मोक्ष साधयति, शुभाशुभाभ्या पुनर्बन्धमपि ॥१२५॥

एव त्रिविधचेतनाकथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलम् गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते है कि यह आत्मा ही अभेदनय से ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना रूप हो जाता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अप्पा परिणामप्पा) आत्मा परिणाम-स्वभावी है। (परिणामो णाणकम्मफलभावी) परिणाम ज्ञानरूप कर्म्मरूप व कर्म्मफल रूप हो जाता है (तम्हा) इसलिये (आदा) आत्मा (णाणं कम्म च फल) ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्म-फलरूप (मुणेदव्वो) जानना चाहिये। आत्मा परिणमन स्वभाव है, यह बात तो पहले ही "परिणामो सयमादा" इस गाथा मे कही जा चुकी है। उसी परिणमन स्वभाव मे यह शक्ति है कि आत्मा का भाव ज्ञानचेतना रूप, कर्मचेतना रूप व कर्मफलचेतना रूप हो जावे। इसलिये ज्ञान, कर्म, कर्मफलचेतना इन तीन प्रकार चेतना रूप अभेदनय से आत्मा को ही जानना चाहिये। इस कथन से यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि यह आत्मा तीन प्रकार चेतना के परिणामों से परिणमन करता हुआ निश्चयरत्नत्रयमयी शुद्ध परिणाम से मोक्ष का साधन करता है। तथा शुभ और अशुभ परिणामों से बन्ध को साधता है ॥१२५॥**

इस तरह तीन प्रकार चेतना के कथन की मुख्यता से चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्य शुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वसिद्धौ शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति—

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥१२६॥

कर्ता करण कर्म कर्मफल चात्मेति निश्चित श्रमण ।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मान लभते शुद्धम् ॥१२६॥

यो हि नामैव कर्तारं करणं कर्म कर्मफलं चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्यं परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसपर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्यायं च शुद्धमात्मानमुपलभते, न पुनरन्यः । तथाहि—यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरजितात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमासं संसारी तदापि न नाम मम कोऽप्यासीत्, तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणमासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम्, अहमेक एव चोपरक्त चित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्य सौख्यं विपर्यस्तलक्षणं दुःखाख्यं कर्मफलमासम् । इदानी पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसन्निधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः, इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि । एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते । परमाणुरिवभावितैकत्वश्च परेण नो संपृच्यते । ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति । कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते ततः पर्यायासंकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ॥१२६॥

भूमिका—अब, इस प्रकार ज्ञेयत्व को प्राप्त आत्मा के, शुद्धता के निश्चय से, ज्ञान तत्व की सिद्धि होने से पर शुद्ध आत्म तत्व की उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुये (अर्थात् आत्मा की शुद्धता के निर्णय की प्रशसा करते हुये) द्रव्य सामान्य के वर्णन का उपसंहार करते है—

अन्वयार्थ—[कर्त्ता करण कर्म कर्मफल च आत्मा] 'कर्ता-करण-कर्म-कर्मफल आत्मा है' [इति निश्चित] ऐसा निश्चय करता हुआ [श्रमण·] मुनि [यदि] यदि [अन्यत्] अन्यरूप [न एव परिणमति] नही हो तो वह [शुद्ध आत्मान] शुद्ध आत्मा को [लभते] प्राप्त करता है ।

टीका—**जो पुरुष इस प्रकार 'कर्ता-करण-कर्म-कर्मफल आत्मा ही है' यह निश्चय करके वास्तव में परद्रव्य रूप परिणमित नही होता, जिसका परद्रव्य के साथ संपर्क रुक गया है, और जिसकी पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो गई है ऐसा वही पुरुष शुद्धात्मा को प्राप्त करता है, अन्य कोई नही ।**

इसी को स्पष्टतया समझाते है—"जब अनादिसिद्ध पौद्गलिककर्म की बंधनरूप उपाधि की निकटता से उत्पन्न हुये उपराग (उपाधि के अनुरूप विकारी भाव) के द्वारा जिसकी स्वपरिणति रंजित (विकृत) थी, ऐसा मै–जपाकुसुम की निकटता से उत्पन्न हुये उपराग (लालिमा) से जिसकी स्वपरिणति रंजित (रगी हुई) हो ऐसे स्फटिक मणिकी भांति-परके द्वारा आरोपित विकार–वाला होने से संसारी (अज्ञानी) था, तब भी (अज्ञान दशा में भी) वास्तव में मेरा कोई भी (संबधी) नहीं था । तब भी मै अकेला ही कर्ता था, क्योंकि में अकेला ही उपरक्त (विकृत) चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतन्त्र था (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता था), मैं अकेला ही करण था, क्योकि मै अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव के द्वारा साधकतम (उत्कृष्टसाधन) था, मै अकेला ही उपरक्त चैतन्य रूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण, आत्मा से प्राप्य था और मै अकेला ही उपरक्त चैतन्य परिणामरूप स्वभाव से निष्पन्न तथा सुख से विपरीत लक्षण वाला 'दुःख' नामक कर्मफल रूप था । अब, जपाकुसुम की निकटता के नाश से जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई हो, ऐसी स्फटिकमणिकी भांति–अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधि की निकटता के नाश से जिसकी सुविशुद्ध साहजिक (स्वाभाविक) स्वपरिणति प्रगट हुई है तथा जिसका पर के द्वारा आरोपित विकार रुक गया है, ऐसा मै एकान्ततः मुमुक्षु (केवल मोक्षार्थी) हूँ, अब भी (मुमुक्षु दशा में–ज्ञान दशा मे भी) वास्तव मे मेरा कोई भी नही है । अब भी मै अकेला ही कर्ता हूँ, क्योकि मै अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्य रूप स्वभाव से स्वतन्त्र हूँ, अर्थात् स्वाधोनतया कर्ता हूँ), मै अकेला ही करण हूँ, क्योकि मै अकेला ही सुविशुद्धचतन्य रूप स्वभाव से साधकतम हूँ, में अकेला ही कर्म हूँ, क्योकि मै अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्य

परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य हूँ और मै अकेला ही विशुद्ध चैतन्य परिणामरूप स्वभाव से निष्पन्न तथा अनाकुलता लक्षण वाला, 'सुख' नामक कर्मफल हूँ।

इस प्रकार बंधमार्ग मे तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है, इस प्रकार चिन्तन करने वाले तथा परमाणु की भांति एकत्व की भावना के उन्मुख पुरुष के परद्रव्य रूप परिणति—किंचित् भी नही होती ; परमाणु की भांति एकत्व को समझने वाला पुरुष परके साथ संबद्ध नही होता। इसलिये परद्रव्य के साथ असबद्धता के कारण वह सुविशुद्ध होता है। कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूप से (अभेददृष्टि से) जानता हुआ, वह पुरुष पर्यायों से सकीर्ण (खडित) नहीं होता इसलिये—पर्यायों के द्वारा संकीर्ण न होने से वह सुविशुद्ध होता है ॥१२६॥

उक्त आशय को प्रगट करने हेतु काव्य लिखते है—

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा, सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-लुण्टाकउत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः ॥७॥

अर्थ—जिसने आत्मा को अन्य द्रव्य से भिन्नता के द्वारा हटा लिया है तथा जिसने समस्त विशेषों के समुदाय को सामान्य में अन्तर्भूत किया है। ऐसा जो यह उद्धत मोह की लक्ष्मी को लूट लेने वाला शुद्धनय है, उसने उत्कृष्ट विवेक (प्रशस्तज्ञान) के द्वारा आत्मस्वरूप को प्राप्त किया है ॥७॥

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं, स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥८॥

अर्थ—इस प्रकार पर परिणति के उच्छेद से और कर्त्ता कर्म आदि भेदों की भ्रान्ति के ध्वंस से भी जिसने बहुत लम्बे समय से शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त किया है ऐसा यह आत्मा चैतन्य मात्र स्वरूप निर्मल (पूर्ण विशुद्ध) तेज में लीन होता हुआ अपनी सहज महिमा के प्रकाश से प्रकाशित हमेशा मुक्त ही रहेगी ॥८॥

अब द्रव्य विशेष के वर्णन की सूचनार्थ काव्य लिखते है—

द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम्।
तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भारः क्रियतेऽधुना ॥९॥

इस प्रकार द्रव्यसामान्य का विशेषज्ञान मानस मे उतारकर, अब द्रव्य विशेष के परिज्ञान (विस्तृत ज्ञान) का प्रारम्भ किया जाता हे।

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचितायां ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापने द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनम् समाप्तम्।

इस प्रकार श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित प्रवचनसार की तत्त्वदीपिकावृत्ति का ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन मे द्रव्यसामान्य कथन अधिकार समाप्त हुआ ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ सामान्यज्ञेयाधिकारसमाप्तौ पूर्वोक्तभेदभावनाया शुद्धात्मप्राप्तिरूप फल दर्शयति,—

कत्ता स्वतन्त्र स्वाधीन कर्ता साधको निष्पादकोऽस्मि भवामि ।'स क ? **अप्प त्ति** आत्मेति । आत्मेति कोऽर्थ ? अहमिति । कथम्भूत ? एक । कस्या साधक ? निर्मलात्मानुभूते । किंविशिष्ट ? निर्विकारपरमचैतन्यपरिणामेन परिणत सन् **करण** अतिशयेन साधक साधकतम करणमुपकरण करणकारकमहमेक एवास्मि भवामि । कस्या साधक ? सहजशुद्धपरमात्मानुभूते । केन कृत्वा ? रागादिविकल्परहितस्वसवेदनज्ञानपरिणतिबलेन **कम्म** शुद्धवुद्धैकस्वभावेन परमात्मना प्राप्य व्याप्यमहमेक एव कर्मकारकमस्मि । फल च शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मन साध्य निष्पाद्य निज-शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादपरिण-तिरूपमहमेक एव फल चास्मि **णिच्छिदो** एवमुक्तप्रकारेण निश्चितमति सन् **समणो** सुखदु खजीवित-मरणशत्रुमित्रादिसमताभावनापरिणत श्रमण परममुनि **परिणमदि णेव अण्ण जदि** परिणमति नैवान्य रागादिपरिणाम यदिचेत् ? **अप्पाण लहदि सुद्धन्** तदात्मान भावकर्मद्रव्यकर्मरहितत्वेन शुद्ध शुद्धवुद्धैक-स्वभाव लभते प्राप्नोति इत्यभिप्रायो भगवता श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवानाम् ॥१२६॥

उत्थानिका—आगे सामान्य ज्ञेय अधिकार की समाप्ति करते हुए पहले कही हुई भेदज्ञान की भावना का फल शुद्धात्मा की प्राप्ति है, ऐसा दिखलाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(कत्ता, करणं, कम्मफलं च अप्प त्ति) कर्त्ता, करण, कर्म तथा फल आत्मा ही है, ऐसा (णिच्छिदो) निश्चय करने वाला (समणो) श्रमण या मुनि (जदि) यदि (अण्ण) अन्य रूप (णेव परिणमदि) नही परिणमन करता है तो (सुद्ध अप्पाण लहदि) शुद्ध आत्मीक स्वरूप को पाता है ।**

मै एक आत्मा ही स्वाधीन होकर अपनी निर्मल आत्मानुभूति का अपने विकार-रहित परम-चैतन्य के परिणाम से परिणमन करता हुआ साधन करने वाला हूँ । इससे मै ही कर्ता हूँ तथा मै ही रागादि विकल्पो से रहित अपनी स्वसंवेदनज्ञान की परिणति के बल से सहज शुद्ध परमात्मा की अनुभूति का साधकतम हूँ, अर्थात् अवश्य साधने वाला हूँ इसलिमे मै ही करण स्वरूप हूँ इसलिये मै ही शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्मा के स्वरूप से प्राप्ति योग्य हूँ इसलिये मै ही कर्म हूँ तथा मै ही शुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभावरूप परमात्मा से साधने योग्य अपने ही शुद्धात्मा की रुचि, व उसी का ज्ञान व उसी मे निश्चल अनुभूति रूप अभेद रत्नत्रयमयी परमसमाधि से पैदा होने वाले सुखामृत रस के आस्वाद से परिण-मन रूप हूँ, इससे मै ही फलरूप हूँ । इस तरह निश्चयनय से बुद्धि को रखने वाला परम मुनि जो सुख-दुःख, जन्म-मरण, शत्रु-मित्र आदि से समता की भावना से परिणमन कर

रहा है यदि अपने से अन्य रागादि परिणामों मे नही परिणमन करता है तो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप आत्मा को प्राप्त करता है। ऐसा अभिप्राय भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का है ॥१२६॥

तात्पर्यवृत्ति

एवमेकसूत्रेण पञ्चमस्थल गतम् । इति सामान्यज्ञेयाधिकारमध्ये स्थलपचकेन भेदभावना गता । इत्युक्तप्रकारेण **तम्हा तस्स णमाइं** इत्यादि पचत्रिशत्सूत्रै सामान्यज्ञेयाधिकार व्याख्यान समाप्तम् ।

इत ऊर्ध्वमेकोनविशतिगाथाभिर्जीवाजीवद्रव्यादिविवरणरूपेण विशेषज्ञेयव्याख्यान करोति । तत्राष्टस्थालानि भवन्ति । तेष्वादौ जीवाजीवत्वकथनेन प्रथमगाथा, लोकालोकत्वकथनेन द्वितीया, सक्रियनि क्रियत्वव्याख्यानेन तृतीया चेति । **दव्वं जीवमजीवं** इत्यादिगाथात्रयेण प्रथमस्थल, तदनन्तर ज्ञानादिविशेषगुणाना स्वरूपकथनेन **लिगेंहि जेहि** इत्यादिगाथाद्वयेन द्वितीयस्थलम । अथानन्तर स्वकीय-स्वकीयविशेषगुणोपलक्षितद्रव्याणा निर्णयार्थ **वण्णरस** इत्यादिगाथात्रयेण तृतीयस्थलम् । अथ पचास्तिकायकथनमुख्यत्वेन **जीवा पोग्गलकाया** इत्यादिगाथाद्वयेन चतुर्थस्थलम् । अत पर द्रव्याणा लोकाकाशमाधार इति कथनेन प्रथमा, यदेवाकाशद्रव्यस्य प्रदेशलक्षण तदेव शेषाणामिति कथनरूपेण द्वितीया चेति, **लोयालोयेसु** इत्यादिसूत्रद्वयेन पचमस्थलम् । तदनन्तर कालद्रव्यस्याप्रदेशत्वस्थापनरूपेण प्रथमा, समयरूप पर्यायकाल कालाणुरूपो द्रव्यकाल इति कथनरूपेण द्वितीया चेति **समओ दु अप्पदेसो** इत्यादिगाथाद्वयेन षष्ठस्थलम् । अथ प्रदेशलक्षणकथनेन प्रथमा, तदनन्तर तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयस्वरूपकथनेन द्वितीया चेति, **आयासमणुणिविट्ठं** इत्यादिसूत्रद्वयेन सप्तमस्थलम् । तदनन्तर कालाणुरूपद्रव्यकालस्थापनरूपेण **उप्पादो पद्धंसो** इत्यादिगाथात्रयेणाष्टमस्थलमिति विशेषज्ञेयाधिकारे समुदायपातनिका ।

समुदायपातनिका—इस तरह एक सूत्र से पाँचवां स्थल पूर्ण हुआ इस तरह सामान्य ज्ञेय के अधिकार के मध्य मे पाँच स्थलो से भेद भावना कही गई। ऊपर कहे प्रमाण "तम्हा तस्स णमाइ" इत्यादि पैंतीस सूत्रो के द्वारा सामान्य ज्ञेयाधिकार का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

आगे उन्नीस गाथाओ से जीव अजीव द्रव्यादि का विवरण करते हुए विशेप ज्ञेय का व्याख्यान करते है। इसमे आठ स्थल है। इन आठ मे से पहले स्थल मे प्रथम ही जीवत्व व अजीवत्व को कहते हुए पहली गाथा, लोक और अलोकपने को कहते हुए दूसरी, सक्रिय और नि क्रियपने का व्याख्यान करते हुए तीसरी, इसी तरह "दव्व जीवमजीव" इत्यादि तीन गाथाओ से पहला स्थल है। इसके पीछे ज्ञान आदि विशेष गुणो का स्वरूप कहते हुए "लिगेंहि जेहि' इत्यादि दो गाथाओ पर दूसरा स्थल है। आगे अपने-अपने गुणो से द्रव्य पहचाने जाते है इसके निर्णय के लिये "वण्णरस" इत्यादि तीन गाथाओ से तीसरा स्थल है आगे पचास्तिकाय के कथन की मुख्यता से "जीवा पोग्गल काया" इत्यादि दो गाथाओ से चौथा स्थल है। इसके पीछे द्रव्यो का आधार लोकाकाश है ऐसा कहते हुये पहली, जैसा आकाश द्रव्य का प्रदेश लक्षण है वैसा ही शेप द्रव्यो का है ऐसा कहते हुए

दूसरी, इस तरह "लोयालोयेमु" इत्यादि दो सूत्रो से पाचवा स्थल है। इसके पीछे काल द्रव्य को अप्रदेशी स्थापित करते हुये पहली, समयरूप पर्यायकाल है कालाणुरूप द्रव्यकाय है ऐसा कहते हुए दूसरी, इस तरह "समओ दु अप्पदेसो" इत्यादि दो गाथाओ से छठा स्थल है। आगे प्रदेश का लक्षण कहते हुए पहली, फिर तिर्यक् प्रचय को कहते हुए दूसरी इस तरह "आयासमणुणिविट्ठ" इत्यादि दो सूत्रो से सातवा स्थल है। फिर कालाणु को द्रव्य काल स्थापित करते हुए "उप्पादो पद्भसो" इत्यादि तीन गाथाओ से आठवा स्थल है इस तरह विशेष ज्ञेय के अधिकार मे समुदायपातनिका है।

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनं तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेषं निश्चिनोति—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य[1] अजीवं[2] ॥१२७॥

द्रव्य जीवोऽजीवो जीव पुनश्चेतनोपयोगमय ।
पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीव ॥१२७॥

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षण-सद्भावादन्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते। तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैका व्यक्तिः। अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः। विशेषलक्षणं जीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम्। तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्वरूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया यत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणोपयोगेन च निर्वृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीवः। यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः ॥१२७॥

भूमिका—**अब, द्रव्यविशेष का प्रज्ञापन करते है, अर्थात् द्रव्यविशेषो को (द्रव्य के भेदो को) बतलाते है। उसमे (प्रथम) द्रव्य के जीवाजीवत्वरूप विशेष का निश्चय करते है, (अर्थात् द्रव्य के जीव और अजीव दो भेद बतलाते है)—**

अन्वयार्थ—[द्रव्यं] द्रव्य [जीव अजीव.] जीव और अजीव (ऐसे दो भेद रूप) है। [पुन] और (उसमे) [चेतनोपयोगमयः] चेतन तथा उपयोगमयी [जीव.] जीव है [च] और [पुद्गलद्रव्यप्रमुख अचेतन] पुद्गल आदि अचेतनद्रव्य [अजीव भवति] अजीव है।

---

१. ज० वृ० गाथा मे 'य' पाठ नही हे। २ अज्जीव (ज० वृ०)।

टीका—यहां (इस विश्व मे) वास्तव में, एकत्व के कारणभूत द्रव्यत्व सामान्य को छोड़े बिना ही, उसमे (द्रव्य मे) रहने वाले विशेष लक्षणों के सद्भाव के कारण एक दूसरे से पृथक्पने से, द्रव्य जीवत्व रूप और अजीवत्व रूप विशेषता को प्राप्त होता है, उसमें जीव का आत्मद्रव्य एक ही भेद है, और अजीव के पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य तथा आकाशद्रव्य यह पांच भेद है। जीव का विशेष लक्षण चेतनोपयोगमयत्व (चेतनामयता और उपयोगमयता) है, और अजीव का अचेतनत्व है। उनमें (से) स्वधर्मों मे व्यापकपना होने से स्वरूपपने से प्रकाशित होने वाली, अविनाशिनी, भगवती, (स्व) संवेदनरूप चेतना के द्वारा तथा चेतना परिणाम लक्षण, द्रव्य परिणति रूप उपयोग के द्वारा, जिसमें निष्पन्नत्व अवतरित प्रतिभासित होता है (अर्थात् जो चेतना तथा उपयोग से रचा हुआ—बना हुआ है), वह जीव है जिसमे, उपयोग के साथ रहने वाली, यथोक्त (ऊपर कहे अनुसार) लक्षण वाली चेतना का अभाव होने से बाहर तथा भीतर अचेतनत्व अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है ॥१२७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ जीवाजीवलक्षणमावेदयति—

दव्वं जीवमजीवं द्रव्य जीवाजीवलक्षण भवति **जीवो पुण चेदणो** जीव पुनश्चेतन स्वतःसिद्धया वहिरङ्गकारणनिरपेक्षया वहिरन्तश्च प्रकाशमानया नित्यरूपया निश्चयेन परमशुद्धचेतनया व्यवहारेण पुनरशुद्धचेतनया च युक्तत्वाच्चेतनो भवति। पुनरपि किंविशिष्ट ? **उवओगमओ** उपयोगमय अखण्डैकप्रतिभासमयेन सर्वविशुद्धे न केवलज्ञानदर्शनलक्षणेनार्थग्रहणव्यापाररूपेण निश्चयनयेनेत्थम्भूतशुद्धोपयोगेन, व्यवहारेण पुनर्मतिज्ञानाद्यशुद्धोपयोगेन च निर्वृ त्तत्वान्निष्पन्नत्वादुपयोगमय **पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं** पुद्गलद्रव्यप्रमुखचेतन भवत्यजीवद्रव्य पुद्गलधर्माधर्माकाशकालसज्ञ द्रव्यपचक पूर्वोक्तलक्षणचेतनाया उपयोगस्य चाभावादजीवमचेतन भवतीत्यर्थ ॥१२७॥

उत्थानिका—आगे जीव और अजीव का लक्षण कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दव्वं) द्रव्य (जीवमजीवं) जीव और अजीव है (पुण) और (जीवो) जीव द्रव्य (चेदणा उवओगमओ) चेतना स्वरूप तथा ज्ञान दर्शन उपयोगवान् है (य पोग्गलदव्वप्पमुहं) और पुद्गलद्रव्य आदि (अचेदणं) चेतनारहित (अजीवं) अजीव है।

द्रव्य के दो भेद है–जीव और अजीव, इनमे से जीवद्रव्य स्वयं सिद्ध बाहरी और अन्तरङ्ग व बाहर मे प्रकाशमान नित्य रूप निश्चय से परम शुद्धचेतना से तथा व्यवहार मे अशुद्धचेतना से युक्त होने के कारण चेतन स्वरूप है तथा निश्चयनय से अखंड व

अथ क्रियाभावतद्भावविशेष निश्चिनोति—

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामा जायंते[1] संघादादो व भेदादो ॥१२९॥

उत्पादस्थितिभङ्गा पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य ।
परिणामाज्जायन्ते सघाताद्वा भेदात् ॥१२९॥

क्रियाभाववत्त्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः । तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात् । शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः । तत्र परिणाममात्रलक्षणो भाव, परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया । तत्र सर्वाण्यपि द्रव्याणि परिणामस्वभावत्वात् परिणामेनोपात्तान्वयव्यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति । पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन सहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति । तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह सघातेन सहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति ॥१२९॥

भूमिका—अब, क्रिया–रूप और 'भाव' रूप जो द्रव्य के भाव है उनकी अपेक्षा से द्रव्य का भेद निश्चित करते हैं—

अन्वयार्थ—[पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य] पुद्गल-जीवमयी लोक के (अर्थात् जीव पुद्गल के) [परिणामात्] परिणमन से, तथा [संघातात् या भेदात्] सघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) से [उत्पादस्थितिभगा] उत्पाद, ध्रौव्य, और व्यय [जायन्ते] होते है । (सामर्थ्य से अर्थात् परिशेप न्याय से यह भी सिद्ध हो जाता है कि शेष चार द्रव्यो के केवल परिणमन से उत्पाद आदि होते है)

टीका—कोई द्रव्य 'भाव' वाले तथा 'क्रिया वाले होने से और कोई द्रव्य केवल 'भाव' वाले होने से, इस अपेक्षा से द्रव्यो के भेद होते है । उनमें पुद्गल तथा जीव (१) भाव वाले तथा (२) क्रिया वाले है, क्योकि (१) परिणाम द्वारा तथा (२) संघात और भेद के द्वारा वे (जीव पुद्गल) उत्पन्न होते है, टिकते है और नष्ट होते है । शेष द्रव्य तो भाव वाले ही है, क्योकि वे परिणाम के द्वारा ही उत्पन्न होते है, टिकते है और नष्ट होते है,–ऐसा निश्चय है ।

---

१ जायदि (ज० वृ०)

उसमें, 'भाव' परिणाममात्र लक्षण वाला है, (और) 'क्रिया' परिस्पंद (कम्पन) लक्षण वाली है। इनमे, समस्त द्रव्य भाव वाले तो है ही, क्योंकि परिणाम स्वभाव वाले होने से परिणाम के द्वारा अन्वय (सह भावित्व ध्रुवता) और व्यतिरेक (क्रम-भावित्व पर्याय) को प्राप्त होते हुये वे उत्पन्न होते है, टिकते है और नष्ट होते है। पुद्गल तो (भाव वाले होने के अतिरिक्त) क्रिया वाले भी होते है, क्योंकि परिस्पंद-स्वभाव वाले होने से परिस्पंद के द्वारा पृथक् पृथक् पुद्गल एकत्रित हो जाने से और एकत्रित–मिले हुये पुद्गल पुनः पृथक् हो जाने से वे उत्पन्न होते हैं, टिकते है और नष्ट होते है तथा जीव भी (भाव वाले होने के अतिरिक्त) क्रिया वाले भी होते है, क्योंकि परिस्पंद स्वभाव वाले होने से परिस्पद के द्वारा नवीन कर्म-नोकर्मरूप भिन्न पुद्गलों के साथ एकत्रित होने से और कर्म-नोकर्मरूप एकत्रित हुये पुद्गलो से बाद मे पृथक् होने से, वे जीव उत्पन्न होते है, टिकते है, और नष्ट होते है ॥१२६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्याणां सक्रियनि क्रियत्वेन भेद दर्शयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु जीवपुद्गलयोरर्थ-व्यञ्जनपर्यायौ द्वौ, शेषद्रव्याणा तु मुख्यवृत्त्यार्थपर्याय इति व्यवस्थापयति,—

जायदि जायते। के कर्तार ? **उप्पादट्ठिदिभगा** उत्पादस्थितिभङ्गा। कस्य सबन्धिन ? **लोगस्स** लोकस्य। कि विशिष्टस्य ? **पोग्गलजीवप्पगस्स।** पुद्गलजीवात्मकस्य पुद्गलजीवावित्युपलक्षण षड्द्रव्या-त्मकस्य। कस्मात्सकाशात् जायन्ते ? **परिणामादो** परिणामात् एकसमयवर्तिनोऽर्थपर्यायात् **संघादादो व भेदादो** केवलमर्थपर्यायात्सकाशाज्जायन्ते। जीवपुद्गलानामुत्पादादय. सघाताद्वा भेदाद्वा व्यञ्जन-पर्यायादित्यर्थ । तथाहि—धर्माधर्माकाशकालाना मुख्यवृत्त्यैकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया एव जीवपुद्गलाना-मर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायाश्च। कथमिति चेत् ? प्रतिसमयपरिणतिरूपा अर्थपर्याया भण्यन्ते। यदा जीवोऽनेन शरीरेण सह भेदवियोग त्याग कृत्वा भवान्तरशरीरेण सह सघात मेलापक करोति तदा विभावव्यञ्जन-पर्यायो भवति, तस्मादेव भवान्तरसक्रमणात्सक्रियत्व भण्यते पुद्गलाना तथैव विवक्षितस्कन्धविघटनात्स-क्रियत्वेन स्कन्धान्तरसयोगे सति विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति। मुक्तजीवाना तु निश्चयरत्नत्रयलक्षणेन परमकारणसमयसारसञ्ज्ञेन निश्चयमोक्षमार्गबलेनायोगिचरमसमये नखकेशान्विहाय परमौदारिक-शरीरस्य विलीयमानरूपेण विनाशे सति केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिलक्षणेन परमकार्यसमयसार-रूपेण स्वभावव्यञ्जनपर्यायेण कृत्वा योऽसावुत्पाद स भेदादेव भवति न सघातात्। कस्मादितिचेत् ? शरीरान्तरेण सह सबन्धाभावादिति भावार्थ ॥१२६॥

एव जीवाजीवत्वलोकालोकत्वसक्रियनि क्रियत्वकथनक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रय गतम्।

उत्थानिका—आगे द्रव्यो मे सक्रिय और नि क्रिय भेद को दिखलाते है यह एक पातनिका है। दूसरी यह है कि जीव और पुद्गल मे अर्थ-पर्याय और व्यजन-पर्याय दोनो होती है जबकि शेष द्रव्यो मे मुख्यता से अर्थपर्याय होती है, इसको सिद्ध करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(लोगस्स) इस छह द्रव्यमयी लोक के (उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपी अर्थपर्याय होते है तथा (पोग्गलजीवप्पगस्स) पुद्गल और जीवमयी लोक के अर्थात् पुद्गल और जीवों के (परिणाम) व्यंजन पर्यायरूप परिणमन भी (संघादादो) सघात से (व) या (भेदादो) भेद से (जायदि) होते है। यह लोक छह द्रव्यमयी है। इन सब द्रव्यों मे सत्पना होने से समय-समय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन हुआ करते है इनको अर्थ-पर्याय कहते है। जीव और पुद्गलों मे केवल अर्थ-पर्याय ही नही होती किन्तु संघात या भेद से व्यंजन पर्याये भी होती हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल की मुख्यता से एक समयवर्ती अर्थ-पर्याये ही होती है तथा जीव और पुद्गलों के अर्थ-पर्याय और व्यंजन-पर्याय दोनों होती है। किस तरह होती हैं, सो कहते है, सो समय-समय परिणमन रूप अवस्था है उसको अर्थ-पर्याय कहते है। जब यह जीव इस शरीर को त्यागकर भवान्तर शरीर के साथ मिलाप करता है तब विभाव व्यंजनपर्याय होती है। इसी ही कारण से कि यह जीव एक जन्म से दूसरे जन्म मे जाता है इसको क्रियावान् कहते है। तैसे ही पुद्गलों की भी व्यंजन-पर्याय होती है। जब कोई विशेष स्कंध से छूट कर एक पुद्गल अपने क्रियावानपने से दूसरे स्कंध मे मिल जाता है तब विभाव व्यजन-पर्याय होती है। मुक्त जीवो के स्वभाव व्यंजनपर्याय किस तरह होती है सो कहते है। निश्चयरत्नत्रयमयी परम कारण-समयसाररूप निश्चयमोक्षमार्ग के बल से अयोग केवली गुण-स्थान के अंत समय में नख केशों को छोड़कर परमौदारिक शरीर का विलय होता है इस तरह का नाश होते हुए केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय की व्यक्तिरूप परम कार्य-समय-सार रूप सिद्ध अवस्था का स्वभाव-व्यजन-पर्यायरूप उत्पाद होता है, यह भेद से ही होता है, संघात से नही होता है क्योंकि मुक्तात्मा के अन्य शरीर के सम्बन्ध का अभाव है॥१२९॥

इस तरह जीव और अजीवपना, लोक और अलोकपना, सक्रिय और निष्क्रियपना को क्रम से कहते हुए प्रथम स्थल में तीन गाथाएं समाप्त हुईं।

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥१३०॥

लिगैर्यैर्द्रव्य जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम्।
तेऽतद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेया ॥१३०॥

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः। ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्यं भवतीति द्रव्यादतद्भावेन विशिष्टा. सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते। अथ ते द्रव्यस्य जीवोऽयमजीवोऽयमित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्तविशेषत्वात्। यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो यः स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः। अत एव च मूर्तानाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता इति तेषां विशेषो निश्चेयः ॥१३०॥

भूमिका—अब यह बतलाते है कि–गुण-विशेष (गुणों के भेद) से द्रव्य-विशेष (द्रव्य का भेद) होता है—

अन्वयार्थ—[यै. लिगैः] जिन लिगो से [द्रव्य] द्रव्य [जीवः अजीवः च] जीव और अजीव के रूप मे [विज्ञात भवति] ज्ञात होता है, [ते] वे [अतद्भावविशिष्टाः] अतद्भाव से विशिष्ट (मूर्त गुण का अमूर्त मे अतद्भाव तथा अमूर्त का मूर्त मे अतद्भाव, अथवा अतद्भाव के द्वारा द्रव्य से भिन्न) [मूर्तामूर्ता] मूर्त-अमूर्त [गुणा.] गुण [ज्ञेयाः] जानने चाहिये।

टीका—द्रव्य का आश्रय लेकर और परके आश्रय के बिना प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य 'लिंगित' (चिन्हित) होताहै—पहचाना जाता है, ऐसे लिंग गुण है। वे (गुण), 'जो द्रव्य है वे गुण नहीं है और जो गुण है वे द्रव्य नहीं है' इस अपेक्षा से द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) रहते हुये, लिंगी के रूप में प्रसिद्धि (परिचय) के समय द्रव्य के लिगत्व को प्राप्त होते है। अब, वे द्रव्य के—'यह जीव है, यह अजीव है'—ऐसे भेद उत्पन्न करते है, क्योकि स्वयं भी, तद्भाव (जीवत्व-अजीवत्व भाव) के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) होने से विशेष (भेद) को प्राप्त है। क्योंकि जिस द्रव्य का जो जो स्वभाव हो उस उसका उस उसके द्वारा विशिष्टत्व होने से उनके विशेष (भेद) है। इसीलिये मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यो का मूर्तत्व अमूर्तत्व रूप तद्भाव के द्वारा विशिष्टत्व होने से, उनके इस प्रकार के भेद निश्चित करने चाहियें कि 'यह मूर्त गुण है और यह अमूर्तगुण है' ॥१३०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदमावेदयति—

लिगेहि जेहि लिगैर्यै सहजशुद्धपरमचैतन्यविलासरूपैस्तथैवाचेतनैर्जडरूपैर्वा लिगैश्चिन्हैर्विशेषगुणैर्यै करणभूतैर्जीवेन कर्तृभूतेन हवदि विण्णाद विशेषेण ज्ञात भवति। कि कर्मतापन्न ? दव्वं द्रव्य। कथम्भूत ? जीवमजीव च जीवद्रव्यमजीवद्रव्य च ते मुत्तामुत्ता गुणा णेया ते तानि पूर्वोक्तचेतनाचेतन-

लिङ्गानि मूर्तामूर्तगुणा ज्ञेया ज्ञातव्या । ते च कथम्भूता ? **अतब्भावविसिट्ठा** अतद्भावविशिष्टा । तद्यथा—शुद्धजीवद्रव्ये ये केवलज्ञानादिगुणास्तेषा शुद्धजीवप्रदेशै सह यदेकत्वमभिन्नत्व तन्मयत्व स तद्भावो भण्यते, तेषामेव गुणाना तै प्रदेशै सह यदा सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद क्रियते तदा पुनरतद्भावो भण्यते, तेनातद्भावेन संज्ञादिभेदरूपेण स्वकीयस्वकीयद्रव्येण सह विशिष्टा भिन्ना इति, द्वितीयव्याख्यानेन पुन स्वकीयद्रव्येण सह तद्भावेन तन्मयत्वेनान्यद्रव्यादिविशिष्टा भिन्ना इत्यभिप्राय ॥१३०॥

एव गुणभेदेन द्रव्यभेदो ज्ञातव्य ।

उत्थानिका—आगे ज्ञानादि विशेष गुणो के भेद से द्रव्यो के भेदो को बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जेहिं लिगेहिं) जिन चेतन अचेतन लक्षणो से (जीवमजीवं दव्वं) जीव और अजीव द्रव्य (विण्णादं हवदि) जाने जाते है (ते) वे लक्षण या चिह्न (अब्भावविसिट्ठा) यद्यपि वे लक्षण या चिन्ह संज्ञा आदि की अपेक्षा अतद्भाव विशिष्ट (भिन्न) है तथापि प्रदेश अभिन्न होने से उनके साथ तन्मयता को रखने वाले है (मुत्तामुत्ता गुणा) वे चेतन और अचेतन मूर्तिक और अमूर्तिक गुण वाले है (णेया) ऐसा जानना चाहिये । स्वाभाविक शुद्ध परम चैतन्य के विलासरूप विशेष गुणो से जीव द्रव्य तथा अचेतन या जड़रूप विशेष गुणो से अजीव द्रव्य पहचाने जाते है । ये चेतन तथा अचेतन गुण अपने-अपने द्रव्य से तन्मय हैं । जैसे शुद्ध जीव द्रव्य मे जो केवलज्ञान आदि गुण हैं उनकी शुद्ध जीव के प्रदेशो के साथ जो एकता, अभिन्नता तथा तन्मयता है उसको तद्भाव कहते है । इस तरह शुद्ध जीव द्रव्य अपने प्रदेशों की अपेक्षा अपने शुद्ध गुणों से तन्मय है परन्तु जब गुणो का और उन प्रदेशों का जहां वे गुण पाए जाते है संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि से भेद किया जाता है तब गुण और द्रव्य मे अतद्भावपना या भेदपना भी सिद्ध होता है । द्रव्य और गुण किसी अपेक्षा अभेदरूप व किसी अपेक्षा भेदरूप है । अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि जिस द्रव्य के जो विशेष गुण है वे अपने द्रव्य से तद्भाव रूप या तन्मय है परन्तु अन्य द्रव्यों से वे अतद्भाव रूप या भिन्न है । ये चेतन अचेतन मूर्तिक और अमूर्तिक गुण वाले हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥१३०॥**

इस तरह गुणों के भेद से द्रव्य का भेद जानना चाहिये ।

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धमाख्याति—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा[1] ।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥१३१॥

---

१ अणेयविहा (ज० वृ०) ।

मूर्ता इन्द्रियग्राह्या पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा ।
द्रव्याणाममूर्ताना गुणा अमूर्ता ज्ञातव्या ॥१३१॥

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम् । अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम् । ते च मूर्ताः पुद्गलद्रव्यस्य, तस्यैवैकस्य मूर्तत्वात् । अमूर्ताः शेषद्रव्याणां, पुद्गलादन्येषां सर्वेषामप्य-मूर्तत्वात् ॥१३१॥

भूमिका—**अब मूर्त और अमूर्त गुण के लक्षण तथा सम्बन्ध (अर्थात् उनका किन द्रव्यों के साथ संबंध है, यह) कहते है—**

अन्वयार्थ—[मूर्ता.] मूर्त गुण [इन्द्रियग्राह्या] इन्द्रिय-ग्राह्य है [पुद्गलद्रव्यात्मका:] पुद्गल द्रव्यमयी है तथा [अनेक-विधा] अनेक प्रकार के है, [अमूर्ताना द्रव्याणा] अमूर्त द्रव्यो के [गुणा] गुण [अमूर्ता:ज्ञातव्या.] अमूर्त जानना चाहिये ।

टीका—**मूर्त गुणों का लक्षण इन्द्रिय ग्राह्यत्व है, और अमूर्त गुणों का उससे विपरीत है, (अर्थात् अमूर्त गुण इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होते) और मूर्त गुण पुद्गल द्रव्य के है, क्योंकि वही (पुद्गल ही) एक मूर्त है, और अमूर्त गुण शेष द्रव्यो के है, क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त शेष द्रव्य अमूर्त है ॥१३१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ मूर्तामूर्तगुणाना लक्षण सम्बन्ध च निरूपयति—

मुत्ता इंदियगेज्झा मूर्ता गुणा इन्द्रियग्राह्या भवन्ति, अमूर्ता पुनरिन्द्रियविषया न भवन्ति इति मूर्तामूर्तगुणानामिन्द्रियानिन्द्रियविषयत्वलक्षणमुक्त । इदानी मूर्तगुणा कस्य सम्वन्धिनो भवन्तीति सम्बन्ध कथयति ? **पोग्गलदव्वप्पगा अणेयविहा** मूर्तगुणा पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा भवन्ति पुद्गल-द्रव्यसम्बन्धिनो भवन्तीत्यर्थ । अमूर्तगुणाना सम्बन्ध प्रतिपादयति **दव्वाणममुत्ताणं** विशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभाव यत्परमात्मद्रव्य तत्प्रभृतीनाममूर्तद्रव्याणाना सम्बन्धिनो भवन्ति । ते के गुणा ? **गुणा अमुत्ता** अमूर्ता गुणा केवलज्ञानादय इत्यर्थ । इति मूर्तामूर्तगुणाना लक्षणसम्वन्धौ **मुणेदव्वा** ज्ञातव्यौ ॥१३१॥

एव ज्ञानादिवशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदो भवतीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वय गतम् ।

उत्थानिका—आगे मूर्तिक और अमूर्तिक गुणो का लक्षण और सम्वन्ध कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(इंदियगेज्झा) जो इन्द्रिय के ग्रहण करने योग्य है (मुत्ता) वे मूर्तिक है वे (अणेयविहा) अनेक प्रकार के है तथा (पोग्गल-दव्वप्पगा) पुद्गल–द्रव्यमयी है। (अमुत्ताणं दव्वाणं) अमूर्तिक द्रव्यो के (गुणा) गुण (अमुत्ता) अमूर्तिक (मुणेदव्वा) जानने योग्य है। जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं वे मूर्तिक गुण हैं और जो अमूर्तिक गुण है वे इंद्रियों के द्वारा नही ग्रहण किये जाते है। इस तरह मूर्तिक गुणों का लक्षण इन्द्रियो का विषयपना है जब कि अमूर्तिक गुणो का लक्षण इन्द्रियों का विषयपना नही है। मूर्तिकगुण अनेक प्रकार के पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी होते है तथा अमूर्तिकगुण**

विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी परमात्म-द्रव्य को आदि लेकर अमूर्तिकद्रव्यों के होते है। वे अमूर्तिकगुण केवलज्ञान आदि होते है। इस तरह मूर्त और अमूर्त गुणों के लक्षण और सम्बन्ध जानने योग्य है ॥१३१॥

इस तरह ज्ञान आदि विशेष गुणों के भेद से द्रव्यों में भेद होता है, ऐसा कहते हुए दूसरे स्थल मे दो गाथाएँ पूर्ण हुईं।

अथ मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंत्तस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥१३२॥

वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मात्।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्द स पुद्गलश्चित्र ॥१३२॥

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणो आ अनेकद्रव्यात्मकस्थूलपर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते। ते च मूर्तत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन्तः पुद्गलमधिगमयन्ति। शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्वं न खल्वाशङ्कनीयं, तस्य वैचित्र्यप्रपञ्चितवैश्वरूपस्याप्यनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात्। गुणत्वे वा न तावदमूर्तद्रव्यगुणः शब्दः गुणगुणिनोरविभक्तप्रदेशत्वेनैकवेदनवेद्यत्वादमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः। पर्यायलक्षणेनोत्खातगुणलक्षणत्वान्मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति। पर्यायलक्षणं हि कादाचित्कत्व गुणलक्षणं तु नित्यत्वम्। ततः कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम्। यत्तु तत्र नित्यत्वं तत्तदारम्भकपुद्गलानां तद्गुणानां च स्पर्शादीनामेव न शब्दपर्यायस्येति दृढतरं ग्राह्यम्। न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम्। अपां घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्, ज्योतिषो घ्राणरसनेन्द्रियाविषयत्वात्, मरुतो घ्राणरसनचक्षुरिन्द्रियाविषयत्वाच्च। न चागन्धागन्धरसागन्धरसवर्णाः, एवमप्ज्योतिर्मारुतः, सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात्। व्यक्तस्पर्शादिचतुष्कानां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानामप्ज्योतिरुदरमरुतामारम्भदर्शनात्। न च क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वं कादाचित्कपरिणामवैचित्र्यप्रत्ययं नित्यद्रव्यस्वभावप्रतिघाताय। ततोऽस्तु शब्दः पुद्गलपर्याय एवेति ॥१३२॥

भूमिका—अब मूर्त पुद्गल द्रव्य के गुण कहते है—

अन्वयार्थ—[सूक्ष्मात् पृथिवीपर्यन्तस्य पुद्गलस्य] सूक्ष्म (परमाणु) से लेकर समस्त पुद्गल के [वर्णरसगधस्पर्शाः] वर्ण, रस, गध और स्पर्श (गुण) [विद्यन्ते] होते है, [चित्रः शब्द.] जो विविध प्रकार का शब्द है [स.] वह [पुद्गलः] पुद्गल है। (अर्थात् पुद्गल की पर्याय है)।

टीका—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य है क्योंकि वे इन्द्रियों के विषय है। वे इन्द्रिय-ग्राह्यता की व्यक्ति और शक्ति के वश से भले ही इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हों या न किये जाते हों तथापि वे एक द्रव्यात्मक सूक्ष्म पर्यायरूप परमाणु से लेकर अनेक द्रव्यात्मक स्थूल पर्यायरूप पृथ्वीस्कंध तक के समस्त पुद्गल के अविशेषतया (क्योंकि कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है जिसमें ये न पाये जाये अतः साधारण रूप से या समस्त रूप से) विशेष गुणों के रूप में होते है (क्योंकि ये अन्य द्रव्यों में नहीं हो सकते, अतः विशेष या असाधारण गुण है।) और वे, मूर्त होने के कारण से ही (पुद्गल के अतिरिक्त) शेष द्रव्यों में न होने से, पुद्गल को बतलाते है (उसका ज्ञान कराते है)।

ऐसी शंका नही करनी चाहिये कि शब्द भी इन्द्रियग्राह्य होने से गुण होगा, क्योंकि विचित्रता के द्वारा विश्वरूपत्व को (अनेकानेक प्रकारत्व को) प्राप्त उसके (शब्द के) अनेक द्रव्यात्मक पुद्गल–पर्यायता स्वीकार की गई है (अर्थात् शब्द पुद्गलस्कंध की पर्याय है)।

यदि शब्द को (पर्याय न मानकर) गुण माना जाय, तो वह क्यों योग्य नहीं है, उसका समाधान—

प्रथम तो, शब्द अमूर्त द्रव्य का गुण नही है, क्योंकि गुण-गुणी में अभिन्न–प्रदेशत्व होने से तथा वे (गुण-गुणी) (एक वेदन से वेद्य–एक ही ज्ञान से ज्ञात होने योग्य होने से, अमूर्त द्रव्य के भी श्रवणेन्द्रिय की विषयभूतता आ जायगी। (दूसरे, शब्द में) पर्याय के लक्षण से गुण का लक्षण उत्थापित (खण्डित) होने से, शब्द मूर्त द्रव्य का गुण भी नहीं है। पर्याय का लक्षण कादाचित्कत्व (अनित्यत्व) है और गुण का लक्षण नित्यत्व है, इसलिये (शब्द को) अनित्यत्व से नित्यत्व के उत्थापित होने से (अर्थात् शब्द कभी-कभी ही होता है, अतः नित्य नही है, इसलिये) शब्द गुण नही है। जो वहां नित्यत्व है, वह उसको (शब्द को) उत्पन्न करने वाले पुद्गलों का और उनके स्पर्शादिक गुणों का ही है, शब्द पर्याय का नही,–इस प्रकार अतिदृढ़ता-पूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

"यदि शब्द पुद्गल की पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कंध की भांति स्पर्शनादिक इंद्रियों का भी विषय होना चाहिये, अर्थात् जैसे पृथ्वीस्कध रूप पुद्गलपर्याय सर्व इन्द्रियों से ज्ञात होती है उसी प्रकार शब्दरूप पुद्गल पर्याय भी सभी इन्द्रियों से ज्ञात होनी चाहिये" (ऐसा तर्क किया जाय तो) ऐसा भी नही है, क्योकि जल (पुद्गल की पर्याय है, फिर भी) घ्राणेन्द्रिय का विषय नही है, अग्नि घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय का विषय नही है और वायु घ्राण, रसना तथा चक्षुइन्द्रिय का विषय नहीं है (इसलिये नाक तथा जीभ से अग्राह्य है) और वायु, गंध, रस वर्ण रहित है (इसलिये नाक, जीभ तथा आंखों से अग्राह्य है) क्योकि सभी पुद्गल स्पर्शादिचतुष्क युक्त (स्पर्श-रस-गंध-वर्ण युक्त) स्वीकार किये गये है। क्योंकि जिनके स्पर्शादिचतुष्क व्यक्त है ऐसे (१) चन्द्रकान्तमणि को, (२) अरणिको और (३) जौ को जो पुद्गल उत्पन्न करते है उन्ही के द्वारा (१) जिसकी गंध अव्यक्त है ऐसे पानी की, (२) जिसकी गध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्नि की और (३) जिसके गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है ऐसी उदरवायु की उत्पत्ति होती देखी जाती है। और कही (किसी पर्याय मे) किसी गुण की कादाचित्क परिणाम की विचित्रता के कारण होने वाली व्यक्तता या अव्यक्तता नित्य द्रव्यस्वभाव का प्रतिघात नही करती। (अर्थात् अनित्य-परिणाम के कारण होने वाली गुण की प्रगटता और अप्रगटता नित्य द्रव्यस्वभाव के साथ कहीं विरोध को प्राप्त नही होती। इसलिये शब्द पुद्गल की पर्याय ही है ॥१३२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ मूर्तपुद्गलद्रव्यस्य गुणानावेदयति,—

वण्णरसगन्धफासा विज्जते पोग्गलस्स वर्णरसगन्धस्पर्शा विद्यन्ते। कस्य ? पुद्गलस्य। कथम्भूतास्य ? **सुहुमादो पुढवीपरियंतस्स य।**

"पुढवी जल च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू। छव्विहभेय भणिय पोग्गलदव्व जिणवरेहि" ॥

इति गाथाकथितक्रमेण परमाणुलक्षणसूक्ष्मस्वरूपादे पृथ्वीस्कन्धलक्षणस्थूलस्वरूपपर्यन्तस्य च।

तथाहि—यथानन्तज्ञानादिचतुष्टय विशेषलक्षणभूत यथासम्भव सर्वजीवेषु साधारण तथा वर्णादिचतुष्टय विशेपलक्षणभूत यथासम्भव सर्वपुद्गलेपु साधारणम्। यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टय मुक्तजीवेऽतीन्द्रियज्ञानविषयमनुमानगम्यमागमगम्य च, तथा शुद्धपरमाणुद्रव्ये वर्णादिचतुष्टयमप्यतीन्द्रियज्ञानविपयमनुमानगम्यमागमगम्य च। यथा वानन्तचतुष्टयस्य ससारिजीवे रागादिस्नेहनिमित्तेन कर्मवन्धवशादशुद्धत्व भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तेन द्वयणुकादिबन्धावस्थायामशुद्धत्वम्। यथा वानन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य रागादिस्नेहरहितशुद्धात्मध्यानेन शुद्धत्व भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धगुणाभावे वन्धनेऽसति परमाणुपुद्गलावस्थाया शुद्धत्वमिति। **सद्दो सो पोग्गलो** यस्तु शब्द स पौद्गल यथा जीवस्य नरनारकादिविभावपर्याया तथाय शब्द पुद्गलस्य विभावपर्यायो

न च गुण । कस्मात् ? गुणस्याविनश्वरत्वात् अय च विनश्वरो। नैयायिकमतानुसारी कश्चिद्वदत्या-काशगुणोऽय शब्द । परिहारमाह—आकाशगुणत्वे सत्यमूर्त्तो भवति। अमूर्तश्च श्रवणेन्द्रियविषयो न भवति, दृश्यते च श्रवणेन्द्रियविषयत्व। शेषेन्द्रियविषय कस्मान्न भवतीति चेत् ? अन्येन्द्रियविषयोऽन्ये न्द्रियस्य न भवति वस्तुस्वभावादेव रसादिविषयवत्। पुनरपि कथभूत ? **चित्तो** चित्र भाषात्मका-भाषात्मकरूपेण च प्रायोगिक वैस्रसिकरूपेण च नानाप्रकार तच्च। "सद्दो खधप्पभवो" इत्यादि गाथाया पचास्तिकाये व्याख्यात तिष्ठत्यत्राल प्रसगेन ॥१३२॥

उत्थानिका—आगे मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के गुणो को कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सुहुमादो पुढवीपरियंतस्स) सूक्ष्म परमाणु से लेकर पृथ्वी पर्यंत (पोग्गलस्स) पुद्गल द्रव्य के (वण्णरसगधफासा) वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, (विज्जंते) विद्यमान होते है। (य) और (सद्दो) शब्द है (सो पोग्गलो चित्तो) वह नाना प्रकार का है और पौद्गलिक है। पुद्गल द्रव्य के विशेष गुण स्पर्श रस गध वर्ण है। वे पुद्गल सूक्ष्म परमाणु से लेकर स्थूल पृथ्वी स्कंध रूप तक है। जैसे इस गाथा में कहा है—**

जिनेन्द्र देव ने पुद्गल को छह प्रकार कहा है, पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय, कार्मणवर्गणा और परमाणु।

जैसे सर्व जीवों में अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय–विशेष लक्षण यथासंभव साधारण है तैसे ही वर्णादि चतुष्टय रूप विशेष लक्षण यथासम्भव सर्व पुद्गलों में साधारण है और जैसे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय मुक्तजीव मे प्रगट है सो अतीन्द्रियज्ञान का विषय है। हमको अनुमान से तथा आगम प्रमाण से मान्य है तैसे ही शुद्ध परमाणु में वर्णादि-चतुष्टय भी अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। हमको अनुमान से तथा आगम से मान्य है। जैसे यही अनन्तचतुष्टय संसारी जीव मे रागद्वेषादि चिकनाई के कारण कर्मबंध होने के वश से अशुद्धता रखते है तैसे ही स्निग्ध रूक्ष गुण के निमित्त से दो अणु तीन अणु आदि की बंध अवस्था में वर्णादि–चतुष्टय भी अशुद्धता को रखते है। जैसे रागद्वेषादि रहित शुद्ध आत्मा के ध्यान से इन अनन्तज्ञानादि–चतुष्टय की शुद्धता हो जाती है तैसे ही यथायोग्य स्निग्ध रूक्ष गुण के न होने पर बन्धन न होते हुए एक पुद्गल परमाणु की अवस्था में शुद्धता रहती है। और जैसे नरनारक आदि जीव की विभावपर्याय है तैसे यह शब्द भी पुद्गल की विभावपर्याय है, गुण नही है क्योंकि गुण अविनाशी होता है परन्तु यह शब्द विनाशीक है। यहां नैयायिक मत के अनुसार कोई कहता है कि यह शब्द आकाश का गुण है, इसका खंडन करते हुए कहते है कि यदि शब्द आकाश का गुण हो तो शब्दअमूर्तिक हो जावे। जो अमूर्त्त वस्तु है वह कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण नही हो सकती और यह प्रत्यक्ष प्रगट है कि शब्द कर्ण

इन्द्रिय का विषय है। वह बाकी इन्द्रियों का विषय क्यों नहीं होता है ? ऐसी शंका का समाधान यह है कि अन्य इन्द्रिय का विषय अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। जैसे रसादि विषय रसना इन्द्रिय आदि के है। वह शब्द भाषा-रूप, प्रायोगिक और वैश्रसिकरूप अनेक प्रकार का है जैसा कि पंचास्तिकाय की "सद्दो खंधप्पभवो" इस गाथा में समझाया है यहां इतना ही कहना पर्याप्त है ॥१३२॥

भावार्थ—श्री पंचास्तिकाय में भी कहा है—

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥७९॥

शब्द स्कंधों के द्वारा पैदा होता है, स्कंध परमाणुओं के मेल से बनते हैं और उन स्कंधों के परस्पर संघट्ट होने पर शब्द पैदा होता है। भाषावर्गणा के योग्य सूक्ष्म स्कंध जो शब्द के अभ्यंतर कारण है लोक में हर जगह, हर समय मौजूद है। जब तालु, ओठ आदि का व्यापार होता है या घंटे की चोट होती है या मेघादि का मिलान होता है तब भाषा-वर्गणा योग्य पुद्गल शब्द रूप मे परिणमन कर जाते है। निश्चय से भाषावर्गणा योग्य पुद्गल ही शब्दों के उत्पन्न करने वाले है ॥१३२॥

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥१३३॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥१३४॥ जुगलं।

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम्।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुण पुन स्थानकारणता ॥१३३॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणित ।
ज्ञेया. सक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥१३४॥ युगलम्।

विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य, सकृत्सर्वेषां गमनपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गमनहेतुत्वं धर्मस्य, सकृत्सर्वेषां स्थानपरिणामिना जीवपुद्गलानां स्थानहेतुत्वमधर्मस्य, अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य, चैतन्यपरिणामो जीवस्य। एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम्। तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसम्पादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवदाकाशमधिगमयति। तथैकवारमेव गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकाद्गमनहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः

समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवद्धर्ममधिगमयति। तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीव-पुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः, समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येय-भागमात्रत्वाज्जीवस्य, लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासम्भवदधर्ममधिगमयति। तथा अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कारणा-न्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषामसंभवत्कालमधिगमयति। तथा चैतन्य-परिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसभवन् जीवमधिगमयति। एवं गुणविशेषाद्द्रव्य-विशेषोऽधिगन्तव्यः ॥१३३।१३४॥

भूमिका—अब, शेष अमूर्तद्रव्यों के गुण कहते है—

अन्वयार्थ—[आकाशस्यावगाह.) आकाश का अवगाह, [धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्व] धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व [तु पुन.] और [धर्मेतरद्रव्यस्य गुण.] अधर्म द्रव्य का गुण [स्थानकारणता] स्थानकारणता है। [कालस्य] काल का गुण [वर्तना स्यात्] वर्तना है, [आत्मन गुण] आत्मा का गुण [उपयोग. इति भणित] उपयोग कहा है। [मूर्तिप्रही-णाना गुणा हि] इस प्रकार अमूर्तद्रव्यो के गुण [सक्षेपात्] सक्षेप से [ज्ञेया.] जानने चाहिये।

टीका—युगपत् सर्वद्रव्यों के साधारण अवगाह का हेतुत्व आकाश का विशेष गुण है। एक ही साथ गतिरूप परिणमित सर्व जीव-पुद्गलों के गमन का हेतुत्व धर्म का विशेष गुण है। एक ही साथ स्थितिरूप परिणमित सर्व जीव-पुद्गलों के स्थिर होने का हेतुत्व अधर्म का विशेष गुण है। (काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों की प्रति-पर्याय में समयवृत्ति का हेतुत्व (समय-समय की परिणति का निमित्तत्व) काल का विशेष गुण है। चैतन्यपरिणाम जीव का विशेष गुण है। इस प्रकार अमूर्तद्रव्यों के विशेषगुणों का संक्षिप्त ज्ञान होने पर अमूर्तद्रव्यो को जानने के लिंग (चिन्ह, लक्षण, साधन) प्राप्त होते है, अर्थात् उन-उन विशेष गुणों के द्वारा उन-उन अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है—सिद्ध होता है। (इसी को स्पष्टता-पूर्वक समझाते है—

वहां एक ही काल में समस्त द्रव्यों को साधारण अवगाह का संपादन (अवगाह हेतुत्व रूप लिंग) आकाश को ज्ञात कराता है, क्योकि शेष द्रव्यो के सर्वगत-पना न होने से उनके वह (अवगाह-सपादन) संभव नही है। इसी प्रकार एक ही काल में गति-परिणत समस्त जीव-पुद्गलो को लोक तक गमन का हेतुत्व धर्म को ज्ञात कराता है, क्योकि काल

और पुद्गल अप्रदेशी हैं इसलिये उनके वह संभव नही है, जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवे भागमात्र है , इसलिये उसके संभव नही है, लोक अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह संभव नहीं है, और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से अधर्म के वह संभव नही है। काल और पुद्गल एक–प्रदेशी है, इसलिये वे लोक तक गमन मे निमित्त नहीं हो सकते, जीव समुद्घात को छोड़कर अन्य काल मे लोक के असंख्यातवे भाग मे ही रहता है, इसलिये वह भी लोक तक गमन मे निमित्त नही हो सकता, यदि आकाश गति मे निमित्त हो तो जीव और पुद्गलों की गति अलोक मे भी होने लगे, जिससे लोकालोक की मर्यादा ही न रहेगी। इसलिये गति-हेतुत्व आकाश का भी गुण नही है, अधर्मद्रव्य तो गति से विरुद्ध—स्थिति कार्य मे निमित्तभूत है, इसलिये वह भी गति में निमित्त नही हो सकता। इस प्रकार गतिहेतुत्वगुण धर्म नामक द्रव्य का अस्तित्व बतलाता है)

इसी प्रकार एक ही काल मे स्थिति-परिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक स्थिति का हेतुत्व अधर्म को ज्ञात कराता है, क्योकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं, इसलिये उनके वह संभव नही है, जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असख्यातवे भाग मात्र है, इसलिये उसके वह सभव नही है, लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह संभव नही है और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से धर्म के वह संभव नही है। इसी प्रकार (काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों के, प्रत्येक पर्याय में समयवृत्ति का हेतुत्व काल को ज्ञात कराता है, क्योंकि उनके, समयविशिष्टवृत्ति (समय समय परिणमन) कारणान्तर से साध्य होने से (अर्थात् उनके समय से विशिष्टपरिणति अन्य कारण से होती है, इसलिये) स्वतः उनके वह (समयवृत्ति-हेतुत्व) संभवित नही है।

इसी प्रकार चैतन्य परिणाम जीव को ज्ञात कराता है, क्योंकि वह चेतन है, इसलिये शेष द्रव्यों के वह संभव नही है। इस प्रकार गुण-विशेष से द्रव्यविशेष जानना चाहिये ॥१३३–१३४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथाकाशाद्यमूर्त्तद्रव्याणा विशेषगुणान्प्रतिपादयति—

आगासस्सवगाहो आकाशस्यावगाहहेतुत्व, **धम्मद्दव्वस्स गमण हेदुत्त** धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्व **धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा** धर्मेतरद्रव्यस्य तु पुन स्थानकारणता गुणो भवतीति प्रथम-गाथा गता। **कालस्स वट्टणा** कालस्य वर्तना [स्याद्]गुण **गुणोवओगोत्ति अप्पणो भणिदो** ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयमित्यात्मनो गुणो भणित । **णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं** एव सक्षेपादमूर्त्तद्रव्याणा गुणा ज्ञेया इति ।

तथाहि—सर्वद्रव्याणा साधारणमवगाहहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवत्सदाकाश निश्चिनोति। गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारण गमनहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवत्सद्धर्म्मद्रव्य निश्चिनोति। तथैव च स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारण स्थितिहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवदधर्म्मद्रव्य निश्चिनोति। सर्वद्रव्याणा युगपत्पर्यायपरिणतिहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवत्कालद्रव्य निश्चिनोति। सर्वजीवसाधारण सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वय विशेषगुणत्वादेवान्याचेतनपञ्चद्रव्याणामसम्भवत्सच्छुद्धबुद्धैकस्वभाव—परमात्मद्रव्य निश्चिनोति। अयमत्रार्थ यद्यपि पचद्रव्याणि जीवस्योपकार कुर्वन्ति, तथापि तानि दु खकारणान्येवेति ज्ञात्वा। यदि वाक्षयानन्तसुखादिकारण विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभाव परमात्मद्रव्य तदेव मनसा ध्येय वचसा वक्तव्य कायेन तत्साधकमनुष्ठान च कर्त्तव्यमिति ॥१३३-१३४॥

एव कस्य द्रव्यस्य के विशेषगुणा भवन्तीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रय गतम्।

उत्थानिका—आगे आकाश आदि अमूर्तद्रव्यो के गुणो को बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(आगासस्सवगाहो) आकाश द्रव्य का विशेष गुण सर्व द्रव्यों को जगह देना ऐसा अवगाह-हेतुत्व गुण है, (धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं) धर्म द्रव्य का विशेष गुण जीव पुद्गलों के गमन मे कारण ऐसा गमनहेतुत्व है, (पुणो धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो ठाणकारणदा) तथा अधर्मद्रव्य का विशेष गुण जीव पुद्गलों को स्थिति का कारण स्थानकारणता है, (कालस्स वट्टणा से) कालद्रव्य का विशेष गुण सभी द्रव्यों में समय समय परिणमन की प्रवृत्ति का कारण वर्तना है और (अप्पणो गुणोवओगोत्ति भणिदो) आत्मा का विशेष गुण उपयोग है, ऐसा कहा गया है। (हि) निश्चय से (मुत्तिप्पहीणाणं गुणा) मूर्तिक रहित द्रव्यों के विशेष गुण इस तरह (सखेवादो णेया) सक्षेप से जानने योग्य है।

सर्व द्रव्यों को साधारण रूप से अवगाह देने का कारणपना आकाश का ही विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्यों मे यह गुण असंभव है इसलिये इस विशेष गुण से आकाश का निश्चय होता है। एक समय मे गमन करते हुए सर्व जीव तथा पुद्गलो को साधारण गमन मे हेतुपना धर्मद्रव्य का ही विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्यों में यह असंभव है। इसी गुण से धर्मद्रव्य का निश्चय होता है। इसी तरह एक समय में स्थिति करते हुए जीव पुद्गलों को साधारण स्थिति मे कारणपना अधर्मद्रव्य का ही विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्यों मे यह असम्भव है। इसी गुण से अधर्मद्रव्य का निश्चय होता है। एक समय मे सर्व द्रव्यों की पर्यायों के परिणमन मे हेतुपना कालद्रव्य का विशेष गुण है क्योकि अन्य द्रव्यो में यह असम्भव है। इसी गुण से कालद्रव्य का निश्चय होता है। सर्व जीवो मे साधारण ऐसा सर्व तरह निर्मल ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन जीवद्रव्य का विशेष गुण है क्योकि अन्य पॉच अचेतन द्रव्यो में यह असम्भव है, इसी विशेष उपयोग गुण से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म-द्रव्य का निश्चय होता है। यहॉ पर यह प्रयोजन है कि

यद्यपि पाँच द्रव्य जीव का उपकार करते है तो भी इनको दुःख का कारण जान करके जो अक्षय और अनन्तसुख आदि का कारण विशुद्ध ज्ञान दर्शन-स्वभावरूप परमात्म द्रव्य है उसी को ही मन से ध्याना चाहिये, वचन से उसका ही वर्णन करना चाहिये, तथा शरीर से उस ही का साधक जो अनुष्ठान या क्रियाकर्म है, उसको करना चाहिये ॥१३३-१३४॥

इस तरह किस द्रव्य के क्या विशेष गुण होते है ऐसा कहते हुए तीसरे स्थल में तीन गाथाएँ पूर्ण हुई ।

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति—

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं ।
सपदेसेहिं असंखादा[1] णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥१३५॥

जीवा पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् ।
स्वप्रदेशैरसख्याता न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य ॥१३५॥

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात् । अप्रदेशः कालाणु प्रदेशमात्रत्वात् । अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य, द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्स्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादधर्मस्य, सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम् । कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति । ततः कालद्रव्यमप्रदेशं शेषद्रव्याणि प्रदेशवन्ति ॥१३४॥

भूमिका—अब, द्रव्यों का प्रदेशवत्व और अप्रदेशवत्वरूप विशेष (भेद) बतलाते है—

अन्वयार्थ—[जीवाः] जीव, [पुद्गलकाया.] पुद्गलकाय (पुद्गल-स्कध), [धर्माधर्मौ] धर्म, अधर्म [पुन च] और [आकाशं] आकाश [स्वप्रदेशै.] स्वप्रदेशो की अपेक्षा से [असंख्याता] असख्यात अर्थात् अनेक (एक से अधिक प्रदेश वाले) है, [इति] इस प्रकार [कालस्य] काल के [प्रदेशाः] अनेक प्रदेश [न सन्ति] नही है ।

टीका—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य अनेक प्रदेश वाले होने से प्रदेशवान् है । कालाणु प्रदेश मात्र (एक प्रदेशी) होने से अप्रदेशी है । इसी को स्पष्ट करते है—) सकोच-विस्तार के होने पर भी जीव लोकाकाशतुल्य असंख्य प्रदेशों को नही छोड़ता, इसलिये वह प्रदेशवान् है । पुद्गल, यद्यपि द्रव्य अपेक्षा से प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) होने से

१ असखा ।

अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशों से लेकर सख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशों वाली पर्यायों की अपेक्षा से अनिश्चित प्रदेश वाला होने से, प्रदेशवान् है। सकल लोक-व्यापी असंख्य प्रदेशों के विस्ताररूप होने से धर्म प्रदेशवान् है। सकललोक-व्यापी असख्य प्रदेशों के विस्ताररूप होने से अधर्मद्रव्य प्रदेशवान् है। सर्व-व्यापी अनन्त प्रदेशों के विस्तार रूप होने से आकाश प्रदेशवान् है। कालाणु तो, द्रव्यतः प्रदेशमात्र होने से और पर्यायतः परस्पर सम्पर्क न होने से, अप्रदेशी है। इसलिये कालद्रव्य अप्रदेशी है और शेष द्रव्य प्रदेशवान् है ॥१३५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ कालद्रव्य विहाय जीवादिपञ्चद्रव्याणामस्तिकायत्व व्याख्याति,—

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आयासं जीवा पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम्। **सपदेसेहिं असंखा**। एते पचास्तिकाया किंविशिष्टा ? स्वप्रदेशैरसख्येया। अत्रासख्येयप्रदेशशब्देन प्रदेशबहुत्व ग्राह्यम्। तच्च यथासम्भव योजनीयम्। जीवस्य तावत्ससारावस्थाया विस्तारोपसहारयोरपि प्रदीपवत्प्रदेशाना हानिवृद्धयोरभावाद्व्यवहारेण देहमात्रेऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशत्वम्। धर्माधर्मयो पुनरवस्थितरूपेण लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशत्वम्। स्कन्धाकारपरिणतपुद्गलाना तु सख्येयासख्येयानन्तप्रदेशत्वम्। किन्तु पुद्गलव्याख्यानेन प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्या, न च क्षेत्र-प्रदेशा। कस्मात्पुद्गलानामनन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति ? परमाणोर्व्यक्तिरूपेणैकप्रदेशत्व शक्ति-रूपेणोपचारेण बहुप्रदेशत्व च। आकाशस्यानन्ता इति। **णत्थि पदेसत्ति कालस्स** न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य। कस्माद्द्रव्यरूपेणैकप्रदेशत्त्वात् ? परस्परसम्बन्धाभावात्पर्यायरूपेणापीति ॥१३५॥

उत्थानिका—आगे काल द्रव्य को छोड़कर जीव आदि पाँच द्रव्यो के अस्तिकायपना है ऐसा व्याख्यान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवा पोग्गलकाया) अनन्तानंत जीव और अनन्तानन्त पुद्गल (धम्माऽधम्मा) एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य (पुणो य आयासं) और एक आकाश द्रव्य (देसेहि असंखादा) अपने प्रदेशों की गणना की अपेक्षा संख्या-रहित है, (कालस्स णत्थि पदेसत्ति) काल द्रव्य के बहुत प्रदेश नही है। यहां पर 'असख्यात प्रदेश' शब्द से बहु—प्रदेशी' ग्रहण करना चाहिये। वह यहां यथासम्भव घटित कर लेना चाहिये। हर एक जीव संसार की अवस्था में व्यवहारनय से अपने प्रदेशों में संकोच विस्तार होने के कारण से दीपक के प्रकाश की तरह अपने प्रदेशो की सख्या में कमती व बढ़ती न होता हुआ शरीर के प्रमाण आकार रहता है तो भी निश्चय से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेश वाला है। धर्म और अधर्म सदा ही स्थित है उनके प्रदेश लोकाकाश के बराबर असंख्यात है। स्कंध अवस्था मे परिणमन किये हुए पुद्गलो के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते है,**

किन्तु पुद्गल के व्याख्यान में प्रदेश शब्द से परमाणु ग्रहण करने योग्य है, क्षेत्र के प्रदेश नहीं क्योकि पुद्गलों का स्थान अनन्त प्रदेश वाला क्षेत्र नही है। (सर्व पुद्गल असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश मे है। उनके स्कंध अनेक जाति के बनते है–संख्यात परमाणुओं के, असंख्यात परमाणुओ के तथा अनन्त परमाणुओं के स्कंध बनते है वे सूक्ष्म परिणमन वाले भी होते है इससे लोकाकाश मे सब रह सकते है।) एक पुद्गल के अविभागी परमाणु मे प्रगट रूप से एक प्रदेशपना है, मात्र शक्तिरूप से उपचार से बहुप्रदेशीपना है। (क्योकि वे परस्पर मिल सकते है)। आकाशद्रव्य के अनन्त प्रदेश है। कालद्रव्य के बहुत प्रदेश नही है। हरएक कालाणु कालद्रव्य है सो एक प्रदेश मात्र है। कालाणुओं में परमाणुओ की तरह परस्पर सम्बन्ध करके स्कंध की अवस्था मे बदलने की शक्ति नही है ॥१३५॥

अथ तमेवार्थं दृढयति—

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकायत्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥१३५-१॥
एतानि पंचद्रव्याणि उज्झितकालंतु अस्तिकाया इति।
भण्यंते काया. पुनः वहुप्रदेशाना प्रचयत्वं ॥१३५-१॥

एदाणि पंचदव्वाणि एतानि पूर्वसूत्रोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याण्येव **उज्झियकाल तु** कालद्रव्य विहाय **अत्थिकायत्ति भण्णते** अस्तिकाया पंचास्तिकाया इति भण्यन्ते **काया पुण** काया कायशब्देन पुन। कि भण्यते ? **बहुप्पदेसाण पचयत्तं** बहुप्रदेशाना सम्बन्धि प्रचयत्व समूह इति। अत्र पचास्तिकायमध्ये जीवास्तिकाय उपादेयस्तत्रापि पचरमेष्ठिपर्यायावस्था तस्यामप्यर्हत्सिद्धावस्था तत्रापि सिद्धावस्था। वस्तुतस्तु रागादिसमस्तविकल्पजालपरिहारकाले सिद्धजीवसदृशा स्वकीयशुद्धात्मावस्थेति भावार्थ ॥१३५॥

एव पचास्तिकायसक्षेपसूचनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे ऊपर के ही भाव को दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एदाणि दव्वाणि)** इन छः द्रव्यो मे से (उज्झिय कालं तु) काल द्रव्य को छोड़कर (पच अत्थिकायत्ति) शेष पांच द्रव्य पांच अस्तिकाय है ऐसा (भण्णते) कहा है (पुण) तथा (बहुप्पदेसाण पचयत्तं काया) बहुत प्रदेशों के समूह को काय कहते है। इन पांच अस्तिकायो के मध्य मे एक जीव अस्तिकाय ही ग्रहण करने योग्य है। उनमें भी अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पांच परमेष्ठी की अवस्था, इनमे से भी अरहंत और सिद्ध अवस्था, फिर इनमे से भी मात्र सिद्ध-अवस्था ग्रहण करनी योग्य है। वास्तव में तो या निश्चयनय से तो रागद्वेषादि सर्व विकल्पजालो के त्याग के समय मे सिद्ध जीव के समान अपना ही शुद्धात्मा ग्रहण करने योग्य है, यह भाव है। १३५–१॥

इस प्रकार पांच अस्तिकाय की सक्षेप मे सूचना करते हुए चौथे स्थल मे दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ क्वामी प्रदेशिनोऽप्रदेशाश्चावस्थिता इति प्रज्ञापयति—

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो ।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला[1] सेसा ॥१३६॥

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोक ।
शेषौ प्रतीत्य कालो जीवा पुन पुद्गला शेषौ ॥१३६॥

आकाशं हि तावत् लोकालोकयोरपि षड्द्रव्यसमवायासमवाययोरविभागेन वृत्तत्वात् । धर्माधर्मौ सर्वत्र लोके तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमनस्थानासंभवात् । कालोऽपि लोके जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात् । जीवपुद्गलौ तु युक्तित एव लोके षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वाल्लोकस्य । किन्तु जीवस्य प्रदेशसंवर्तविस्तारधर्मत्वात् पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुणधर्मत्वाच्च तदेकदेशसर्वलोकनियमो नास्ति कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ॥१३६॥

भूमिका—अब, यह बतलाते है कि ये प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते है—

अन्वयार्थ—[नभ.] आकाश [लोकालोकयोः] लोकालोक मे है, [लोकः] लोक [धर्माधर्माभ्याम् आतत] धर्म और अधर्म से व्याप्त है, [शेषौ प्रतीत्य] शेष दो द्रव्यो की (जीव-पुद्गल की) प्रतीति से [कालः] काल (लोक मे) तिष्ठ रहा है, [पुन.] और [शेषौ] वे शेष दो द्रव्य [जीवाः पुद्गला.] जीव और पुद्गल (लोक मे) है ।

टीका—प्रथम तो, आकाश लोक तथा अलोक में है, क्योंकि वह छह द्रव्यों के समवाय और असमवाय मे विना विभाग के रहता है । धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोक मे है, क्योंकि उनके निमित्त से जिनकी गति और स्थिति होती है ऐसे जीव और पुद्गलों की गति या स्थिति लोक से बाहर नहीं होती और न लोक के एक-देश में होती है, (अर्थात् लोक में सर्वत्र होती है) । काल भी लोक में है, क्योंकि जीव और पुद्गलों के परिणामों के द्वारा (काल की) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं और वह काल लोक के एक प्रदेश में है, क्योंकि वह अप्रदेशी है । जीव और पुद्गल तो युक्ति से ही लोक में है, क्योकि लोक छह द्रव्यों का समवायस्वरूप है ।

किन्तु प्रदेशों का संकोच विस्तार होना जीव का धर्म होने के कारण और वंध के हेतुभूत स्निग्ध-रूक्ष गुण पुद्गल का धर्म होने के कारण जीव और पुद्गल का समस्त लोक

---

१ पुग्गला (ज० वृ०) ।

मे या उसके एक प्रदेश में रहने का (कोई) नियम नही है । काल, जीव तथा पुद्गल एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक के एक देश में रहते है और अनेक द्रव्यो की अपेक्षा से अजनचूर्ण (काजल) से भरी हुई डिबिया के न्यायानुसार समस्त लोक में ही है ॥१३६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्याणा लोकाकाशेऽवस्थानमाख्याति—

लोगालोगेसु णभो लोकालोकयोरधिकरणभूतयोर्नभ आकाश तिष्ठति **धम्माधम्मेहिं आददो लोगो** धर्म्माधर्म्मास्तिकायाभ्यामाततो व्याप्तो भूतो लोक । कि कृत्वा ? **सेसे पडुच्च** शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्याश्रित्य । अयमत्रार्थ —जीवपुद्गलौ तावल्लोके तिष्ठतस्तयोर्गतिस्थित्यो कारणभूतौ धर्माधर्मावपि लोके । **कालो** कालोऽपि शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्ये लोके । कस्मादिति चेत् ? जीवपुद्गलाभ्या नवजीर्णपरिणतया व्यज्यमानसमयघटिकादिपर्यायित्वात् । शेषशब्देन कि भण्यते ? **जीवा पुण पुग्गला सेसा** जीवा पुद्गलाश्च पुन शेषा भण्यन्त इति । अयमत्र भाव —यथा सिद्धा भगवन्तो यद्यपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितशुद्धासख्येयप्रदेशे केवलज्ञानादिगुणाधारभूते स्वकीयस्वकीयभावे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण मोक्षशिलाया तिष्ठन्तीति भण्यन्ते । तथा सर्वे पदार्था यद्यपि निश्चयेन स्वकीयस्वकीयस्वरूपे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीति । अत्र यद्यप्यनन्तजीवद्रव्येभ्योऽनन्तगुणपुद्गलास्तिष्ठन्ति तथाप्येकदीपप्रकाशे बहुदीपप्रकाशवद्विशिष्टावगाहशक्तियोगेनासख्येयप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थान न विरुध्यते ॥१३६॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यो का स्थान लोकाकाश मे है, ऐसा बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णभो) आकाश द्रव्य (लोगालोगेसु) लोक और अलोकरूप है (सेसे पडुच्च) शेष जीव पुद्गल को आश्रय करके (लोगो धम्माधम्मेहि आददो) लोक धर्म और अधर्म द्रव्य से व्याप्त है तथा (कालो) काल है । (पुण सेसा जीवा पुग्गला) और वे दो शेष द्रव्य जीव और पुद्गल हैं । लोकाकाश और अलोकाकाश दोनो का आधार एक आकाश द्रव्य है । इनमे से जीव पुद्गलों की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय है, जिनसे यह लोकाकाश व्याप्त है । अर्थात् इस लोकाकाश में जीव और पुद्गल भरे है उन ही की गति और स्थिति को कारण रूप ये धर्म अधर्म भी लोक में है । काल भी इन जीव पुद्गलों की अपेक्षा करके लोक मे है क्योंकि जीव पुद्गल की नई पुरानी अवस्था के होने से कालद्रव्य की समय घड़ी आदि पर्याय प्रगट होती है तथा जीव और पुद्गल तो इस लोक मे है ही । यहां यह भाव है कि जैसे सिद्ध भगवान् यद्यपि लोकाकाश प्रमाण अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेशों में है जो प्रदेश केवलज्ञान आदि गुणों के आधारभूत हैं तथा अपने-अपने स्वभाव में ठहरते हैं तथापि व्यवहारनय से मोक्षशिला पर ठहरते है, ऐसा आचार्य कहते**

है, तैसे सर्व पदार्थ यद्यपि निश्चय से अपने स्वरूप में ठहरते है तथापि व्यवहारनय से लोकाकाश में ठहरते है। यहां यद्यपि अनन्त जीव द्रव्यों से अनन्तगुणे पुद्गल है तथापि एक दीप के प्रकाश में जैसे बहुत से दीपकों के प्रकाश समा जाते है तैसे विशेष अवगाहना की शक्ति के योग से असंख्यात प्रदेशी लोक में ही सर्व द्रव्यों का स्थान विरोधरूप नहीं है ॥१३६॥

अथ प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वसंभवप्रकारमासूत्रयति—

जध[1] ते णभप्पदेसा[2] तधप्पदेसा[3] हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥१३७॥

यथा ते नभ प्रदेशास्तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम्।
अप्रदेश परमाणुस्तेन प्रदेशोद्भवो भणित ॥१३७॥

सूत्रयिष्यते हि स्वयमाकाशस्य प्रदेशलक्षणमेकाणुव्याप्यत्वमिति। इह तु यथाकाशस्य प्रदेशास्तथा शेषद्रव्याणामिति प्रदेशलक्षणप्रकारैकत्वमासूत्र्यते। ततो यथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानस्याकाशस्यानन्तांशत्वादनन्तप्रदेशत्वं तथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानानां धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयांशत्वात् प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वम्। यथा चावस्थितप्रमाणयोर्धर्माधर्मयोस्तथा संवर्तविस्ताराभ्यामनवस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वाभावादसख्येयप्रदेशत्वमेव। अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव। पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति। ततः पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ॥१३७॥

भूमिका—अब, यह कहते है कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व किस प्रकार से संभव है—

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [ते नभः प्रदेशा.] वे आकाश के प्रदेश है [तथा] उसी प्रकार [शेषाणा] शेष द्रव्यो के (भी) [प्रदेशा. भवन्ति] प्रदेश है। (अर्थात् जैसे आकाश के प्रदेश परमाणुरूपी गज से नापे जाते है, उसी प्रकार शेष द्रव्यो के प्रदेश भी परमाणुरूपी गज से नापे जाते है। [परमाणु] परमाणु [अप्रदेश.] अप्रदेशी है, [तेन] उसके द्वारा [प्रदेशोद्भव. भणित·] प्रदेशो का होना कहा है।

---

१ जह (ज० वृ०) २ णहप्पदेसा (ज० वृ०) ३ तहप्पदेसा (ज० वृ०)।

टीका—(भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य) स्वयं ही (१४०वे) सूत्र द्वारा कहेगे कि आकाश के प्रदेश का लक्षण एकाणुव्याप्यत्व (अर्थात् एक परमाणु से व्याप्त होना) है। यहां (इस सूत्र या गाथा मे) 'जिस प्रकार आकाश के प्रदेश है उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं' इस प्रकार प्रदेश के लक्षण की एक–प्रकारता कही जाती है। इसलिये, एकाणुव्याप्य (जो एक परमाणु से व्याप्य हो ऐसे) अंश के द्वारा गिने जाने पर जैसे आकाश के अनन्त अंश होने से आकाश अनन्त प्रदेशी है, उसी प्रकार एकाणुव्याप्य अंश के द्वारा गिने जाने पर धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात अश होने से वे–प्रत्येक असख्यातप्रदेशी है। जैसे (संकोच-विस्तार-रहित होने की अपेक्षा) अवस्थित प्रमाण वाले धर्म तथा अधर्म असंख्यात-प्रदेशी है, उसी प्रकार संकोच विस्तार के कारण (सकोच-विस्तार होने की अपेक्षा) अनवस्थित प्रमाण वाले जीव के–सूखे गीले चमड़े की भांति–निज अंशो का अल्पबहुत्व नही होता (संख्या में प्रदेशों की हानि-वृद्धि नही होती) इसलिये असंख्यातप्रदेशित्व ही है।

(यहां यह प्रश्न होता है कि अमूर्त जीव का संकोच विस्तार कैसे संभव है ? उसका समाधान किया जाता है—)

अमूर्त के संकोच-विस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है, क्योकि (सबको स्वानुभव से स्पष्ट है कि) जीव स्थूल तथा कृश शरीर मे तथा बालक और कुमार के शरीर मे व्याप्त होता है। (जीव के जो प्रदेश मोटे शरीर मे फैले हुये थे, वे ही शरीर के पतले हो जाने पर सिकुड़ गये तथा बालक के शरीर मे जो जीव के प्रदेश सिकुड़े हुये थे, वे ही कुमार अवस्था के शरीर मे फैल जाते है। इस प्रकार से जीव के प्रदेशों का संकोच तथा विस्तार सिद्ध होता है। पुद्गल तो द्रव्य की अपेक्षा से एक प्रदेश मात्र होने से यथोक्त (पूर्वकथित) प्रकार से अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेश आदि (द्वचणुक आदि) स्कंधो के हेतुभूत तथाविध (उस प्रकार के) स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उस पुद्गल के प्रदेशों का (बहु प्रदेशत्व का) उद्भव है। इसलिये पर्यायतः अनेक प्रदेशित्व की भी संभावना होने से पुद्गल द्विप्रदेशत्व से लेकर संख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशत्व भी न्याययुक्त है ॥१३७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ यदेवाकाशस्य परमाणुव्याप्तक्षेत्र प्रदेशलक्षणमुक्त शेषद्रव्यप्रदेशाना तदेवेति सूचयति—

जह ते णहप्पदेसा यथा ते प्रसिद्धा परमाणुव्याप्तक्षेत्रप्रमाणाकाशप्रदेशा **तहप्पदेसा हवति सेसाण** तेनैवाकाशप्रदेशप्रमाणेन प्रदेशा भवन्ति। केपा ? शुद्धबुद्धैकस्वभाव यत्परमात्मद्रव्य तत्प्रभृति-शेपद्रव्याणाम्। **अपदेसो परमाणु** अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो योऽसौ पुद्गलपरमाणु **तेण पदेसुब्भवो**

भणिदो तेन परमाणुना प्रदेशस्योद्भव इत्यनि भणिता। परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशो भवति। तदग्रे विस्तरेण कथयन्ति अत्र तु सूचितमेव ॥१३७॥

एवं पञ्चमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम्।

उत्थानिका—जैसे एक परमाणु से व्याप्त क्षेत्र को आकाश का प्रदेश कहते है वैसे ही अन्य द्रव्यों के प्रदेश भी होते है ऐसा कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जह) जैसे (ते णहप्पदेसा) वह परमाणु से व्याप्त क्षेत्र आकाश द्रव्य का प्रदेश होता है (तह प्पदेसा सेसाणं हवंति) तैसे ही धर्मादि अन्य द्रव्यों के प्रदेश होते है। (परमाणू अपदेसो) एक अविभागी पुद्गल परमाणु अप्रदेशी है (तेण) उस परमाणु से (पदेसुब्भवो भणिदो) प्रदेश की प्रगटता होती है। एक परमाणु जितने आकाश क्षेत्र को रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं उस परमाणु के दो आदि प्रदेश नहीं है। इस प्रदेश की माप से आकाशद्रव्य की तरह शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म द्रव्य को आदि लेकर शेष द्रव्यों के भी प्रदेश होते है। इसका विस्तार से कथन आगे करेंगे ॥१३७॥

टीका—काल, द्रव्यतः प्रदेशमात्र होने से, अप्रदेशी ही है। उसके (काल के), पुद्गल की भांति, पर्यायतः भी अनेक प्रदेशित्व नहीं है, क्योंकि उसके परस्पर अन्तर के बिना प्रस्तार रूप (फैले हुये) विस्तृत प्रदेशमात्र असंख्यात कालद्रव्यत्व होने पर भी, परस्पर संपर्क न होने से एक एक आकाश प्रदेश को व्याप्त करके रहने वाले कालद्रव्य की वृत्ति तभी होती है (अर्थात् कालाणुकी परिणति तभी निमित्तभूत होती है) जब प्रदेश मात्र (एक प्रदेशी) परमाणु उस (कालाणु) से व्याप्त एक आकाश प्रदेश को मन्द-गति से उल्लंघन करता हो।

भावार्थ—लोकाकाश के असंख्यातप्रदेश है। एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु विद्यमान है। वे कालाणु स्निग्ध-रूक्षगुण के अभाव के कारण रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् ही रहते है, पुद्गल परमाणुओं की भांति परस्पर मिलते नही है।

जब पुद्गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन करता है (अर्थात् एक प्रदेश से दूसरे अनन्तर-निकटतम प्रदेश पर मन्दगति से जाता है) तब उस (उल्लंघित किये जाने वाले) प्रदेश में रहने वाला कालाणु उसमे निमित्तभूत रूप से रहता है। इस प्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गल परमाणु के एक प्रदेश तक के गमन पर्यत ही सहकारी रूप से रहता है, अधिक नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि काल द्रव्य पर्यायतः भी अनेक प्रदेशी नहीं है ॥१३८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ कालद्रव्यस्य द्वितीयादिप्रदेशरहितत्वेनाप्रदेशत्व व्यवस्थापयति—

समओ समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात्समय कालाणु **दु** पुन । स च कथभूत ? **अप्पदेसो** अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो भवति। स च किं करोति ? **सो वट्टदि** स पूर्वोक्तकालाणु परमाणो-र्गतिपरिणते सहकारित्वेन वर्त्तते। कस्य सम्बन्धी योऽसौ परमाणु ? **पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपरमाणुद्रव्यस्य। किं कुर्वत ? **वदिवददो** व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छत। कं प्रति ? **पदेसं** कालाणुव्याप्तमेकप्रदेशम्। कस्य सम्बन्धिन ? **आगासदव्वस्स** आकाशद्रव्यस्येति। तथाहि—कालाणुरप्रदेशो भवति। कस्मात् ? द्रव्येणैकप्रदेशत्वात्। अथवा यथा स्नेहगुणेन पुद्गलाना परस्परवन्धो भवति तथाविधवन्धाभावात्पर्यायेणापि। अयमत्रार्थ —यस्मात्पुद्गलपरमाणोरेकप्रदेश-गमनपर्यन्त सहकारित्व करोति नचाधिक तस्मादेव ज्ञायते सोऽप्येकप्रदेश इति ॥१३८॥

उत्थानिका—आगे काल द्रव्य के दो तीन आदि प्रदेश नही है, मात्र एक प्रदेश है इसी से वह अप्रदेशी है, ऐसी व्यवस्था करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(समओ दु अप्पदेसो) काल द्रव्य निश्चय से अप्रदेशी है (सो) वह काल द्रव्य (पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स) प्रदेश मात्र पुद्गल द्रव्यरूप परमाणु के (आगासदव्वस्स पदेसं) आकाश द्रव्य के प्रदेश को (वदिवददो) उल्लंघन करने से (वट्टदि) वर्त्तन करता है।

समय नामा पर्याय का उपादान कारण कालाणु है इससे कालाणु को समय कहते है। वह कालाणु दो तीन आदि प्रदेशों से रहित मात्र एक प्रदेश वाला है इससेउसको अप्रदेशी कहते है। वह कालाणु पुद्गल द्रव्य की परमाणु की गति की परिणति रूप सहकारी कारण से वर्तन करता है। हर एक कालाणु से हर एक लोकाकाश का प्रदेश व्याप्त है। जब एक परमाणु मंदगति से ऐसे पास वाले प्रदेश पर जाता है तब इसकी गति की सहायता से कालद्रव्य वर्तन करता हुआ समय पर्याय को उत्पन्न करता है। जैसे स्निग्ध रूक्ष गुण के निमित्त से पुद्गल के परमाणुओं का परस्पर बन्ध हो जाता है इस तरह का बध कालाणुओं का कभी नही हो सकता इसलिये कालाणु को अप्रदेशी कहते है। यहां यह भाव है कि पुद्गल परमाणु का एक प्रदेश तक गमन होना ही सहकारी कारण है, अधिक दूर तक जाना सहकारी कारण नहीं इससे भी ज्ञात होता है कि कालाणु द्रव्य एक प्रदेश रूप ही है ॥१३८॥

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञापयति—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥१३९॥

व्यतिपततस्त देश तत्सम समयस्तत. पर पूर्व ।
योऽर्थ स काल समय उत्पन्नप्रध्वसी ॥१३९॥

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्त प्रदेशं मन्दगत्यातिक्रमतः परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो यः कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमय· स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्ततः एवंविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेन व्यञ्जितनित्यत्वे योऽर्थः तत्तु द्रव्यम्। एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमय। अनंशः समयोऽयमाकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपपत्ते·। न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि समयस्य सांशत्व विशिष्टगतिपरिणामाद्विशिष्टावगाहपरिणामवत्। तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नेनैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद्द्वितीयं लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानशत्वादसख्येयांशत्वं न साधयन्ति ॥१३९॥

अब काल पदार्थ के द्रव्य पर्याय को बतलाते है—

अन्वयार्थ—[त देश व्यतिपततः] परमाणु एक आकाश प्रदेश को (मन्दगति से) (जब) उल्लघन करता है तब [तत्सम] उसके बराबर जो काल (लगता है) वह [समय.] 'समय' (पर्याय) है, [तत. पूर्व· पर] उस (समय) से पूर्व तथा पश्चात् ऐसा (नित्य) [यः अर्थ.] जो पदार्थ है [सः कालः] वह कालद्रव्य है, [समय. उत्पन्नप्रध्वसी] समय उत्पन्नध्वसी है,) समय पर्याय तो उत्पन्न होती है और नाश होती है ।)

टीका—**किसी प्रदेशमात्र काल पदार्थ के द्वारा आकाश का जो प्रदेश व्याप्त हो, उस प्रदेश को जब परमाणु मन्दगति से उल्लंघन करता है, तब उस प्रदेश मात्र अतिक्रमण (उल्लंघन) के परिमाण (काल) के बराबर जो काल पदार्थ की सूक्ष्मवृत्ति (परिणति) रूप 'समय' है, वह उस काल पदार्थ की पर्याय है और ऐसी उस पर्याय से पूर्व की तथा बाद की वृत्ति रूप से वर्तित होने से जिसका नित्यत्व प्रगट होता है, ऐसा पदार्थ द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य समय (कालद्रव्य) अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायसमय उत्पन्नध्वंसी है; यह समय निरंश है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाश के प्रदेश का निरंशत्व न बने। एक समय में परमाणु के लोक के अन्त तक जाने पर भी, समय के अंश नही होते, क्योंकि (परमाणु के) विशिष्ट (विशेष प्रकार के) अवगाह परिणाम विशिष्ट गतिपरिणाम होता है। इसे समझाते है—जैसे विशिष्ट अवगाहपरिणाम के कारण एक परमाणु के परिमाण के बराबर अनन्त परमाणुओं का स्कंध बनता है तथापि वह स्कंध परमाणु के अनन्त अंशो को सिद्ध नही करता, क्योंकि परमाणु निरंश है, उसी प्रकार जैसे एक कालाणु से व्याप्त एक आकाश प्रदेश के अतिक्रमण के माप के बराबर एक 'समय' मे परमाणु विशिष्टगति परिणाम के कारण लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है तब (उस परमाणु के द्वारा उल्लंघित होने वाले) असंख्य कालाणु 'समय' के असख्य अंशों को सिद्ध नही करते, क्योकि 'समय' निरंश है।**

भावार्थ—**यहां प्रश्न होता है कि "जब पुद्गल-परमाणु शीघ्र गति के द्वारा एक 'समय' मे लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है तब वह चौदह राजू तक आकाश प्रदेशों में श्रेणीबद्ध जितने कालाणु है उन सबको स्पर्श करता है। इसलिये असख्य कालाणुओ को स्पर्श करने से 'समय' के असख्य अंश होने चाहिये" ? इसका समाधान यह है—**

जैसे अनन्त परमाणुओं का कोई स्कंध आकाश के एक प्रदेश में समाकर परिमाण में एक परमाणु जितना ही होता है, सो वह परमाणुओं के विशेष प्रकार के अवगाह परिणाम के कारण ही है, (परमाणुओं में ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार की अवगाह परिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है) इससे कही परमाणु के अनन्त अंश नही होते, इसी प्रकार कोई परमाणु एक समय में असंख्य कालाणुओं को उल्लंघन करके लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, सो वह परमाणु के विशेष प्रकार के गतिपरिणाम के कारण ही है, (परमाणु में ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार के गतिपरिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है) इससे कहीं 'समय' के असंख्य अश नही होते ।।१३६।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तकालपदार्थस्य पर्यायस्वरूप द्रव्यस्वरूप च प्रतिपादयति—

वदिवददो तस्य पूर्वसूत्रोदितपुद्गलपरमाणोर्व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छत । क कर्म्मतापन्नम् ? त **देसं** त पूर्वगाथोदित कालाणुव्याप्तमाकाशप्रदेशम् **तस्सम** तेन कालाणुव्याप्तैकप्रदेशपुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन सम समान सदृशस्तत्सम **समओ** कालाणुद्रव्यस्य सूक्ष्मपर्यायभूत समयो व्यवहारकालो भवतीति पर्यायव्याख्यान गतम् । **तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तसमयरूपकालपर्यायात्परो भाविकाले पूर्वमतीतकाले च **जो अत्थो** य पूर्वपर्यायेष्वन्वयरूपेण वृत्तपदार्थो द्रव्य **सो कालो** स काल कालपदार्थो भवतीति द्रव्यव्याख्यानम् । **समओ उप्पण्णपद्धंसी** स पूर्वोक्तसमयपर्यायो यद्यपि पूर्वापरसमयसन्तानापेक्षया सख्येयासख्येयानन्तसमयो भवति, तथापि वर्त्तमानसमय प्रत्युत्पन्नप्रध्वसी । यस्तु पूर्वोक्तद्रव्यकाल स त्रिकालस्थायित्वेन नित्य इति । एव कालस्य पर्यायस्वरूप द्रव्यस्वरूप च ज्ञातव्यम् ।।

उत्थानिका—आगे पूर्व कहे हुए काल पदार्थ के पर्याय स्वरूप को और द्रव्य स्वरूप को बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तं देसं) उस कालाणु से व्याप्त आकाश के प्रदेश पर (वदिवददो) मंद गति से जाने वाले पुद्गल परमाणु को (तस्सम समओ) जो कुछ काल लगता है उसी के समान समय पर्याय है। (तदो परो पुव्वो जो अत्थो) इस समय पर्याय के आगे और पहले जो पदार्थ है (सो कालो) वह काल द्रव्य है। (समओ उप्पण्णपद्धंसी) समय पर्याय उत्पन्न होकर नाश होने वाली है। जब तक एक पुद्गल का परमाणु मंदगति से एक कालाणु व्याप्त आकाश के प्रदेश से दूसरे कालाणु व्याप्त आकाश के प्रदेश पर आता है तब तक उसमें जो काल लगता है उसी के समान कालाणु द्रव्य की सूक्ष्म समय नाम की पर्याय होती है—यही व्यवहारकाल है। कालद्रव्य की पर्याय का यह स्वरूप कहा गया। इस समय पर्याय के उत्पन्न होने के पहले जो अपनी पूर्व पूर्व समय पर्यायो मे**

अन्वय रूप से बराबर चला आ रहा है व आगामी काल में होने वाली समय पर्यायो मे अन्वय रूप से बराबर चला जायगा वह कालद्रव्य नामा पदार्थ है। यद्यपि यह समय पर्याय पूर्वकाल की और उत्तरकाल की समयों की संतान की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त समय रूप है तथापि वर्तमान काल का समय उत्पन्न होकर नाश होने वाला है, किन्तु जो पूर्व मे कहा हुआ द्रव्यकाल है वह तीनों कालों में स्थायी होने से नित्य है इस तरह कालद्रव्य को पर्याय स्वरूप और द्रव्यस्वरूप जानना योग्य है।

तात्पर्यवृत्ति

अथवानेन गाथाद्वयेन समयरूपव्यवहारकालव्याख्यान क्रियते निश्चयकालव्याख्यान तु 'उप्पादो पद्धसो' इत्यादि गाथात्रयेणाग्रे करोति ।

तद्यथा **समओ** परमार्थकालस्य पर्यायभूतसमय । **अवप्पदेसो** अपगतप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेश-रहितो निरश इत्यर्थ । कथ निरश इति चेत् ? **पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलद्रव्यस्य सम्वन्धी योऽसौ परमाणु **वदिवादादो वट्टदि** व्यतिपातात् मन्दगतिगमनात्सकाशात्स परमाणुस्तावद्-गमनरूपेण वर्तते। क प्रति ? **पदेसमागासदवियस्स** विवक्षितैकाकाशप्रदेश प्रति। इति प्रथमगाथा-व्याख्यानम्। **वदिवददो तं देसं** स परमाणुस्तमाकाशप्रदेश यदा व्यतिपतितोऽतिक्रान्तो भवति **तस्सम समओ** तेन पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन सम समान समयो भवतीति निरशत्वमिति वर्त्तमानसमयो व्याख्यात । इदानी पूर्वपरसमयौ कथयति—**तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तवर्त्तमानसमयात्परो भावी कोऽपि समयो भविष्यति पूर्वमपि कोऽपि गत **अत्थो जो** एव य समयत्रयरूपोऽर्थ **सो कालो** सोऽतीता-नागतवर्त्तमानरूपेण त्रिविधव्यवहारकालो भण्यते। **समओ उप्पण्णपद्धंसी** तेषु त्रिषु मध्ये योऽसौ वर्त्तमान स उत्पन्नप्रध्वसी अतीतानागतौ तु सख्येयासख्येयानन्तसमयावित्यर्थ । एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले ससारसागरे भ्रमितोऽय जीवो यतस्तत कारणा-त्तदेव निजपरमात्मतत्त्व सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेय, स्वसवेदनज्ञानरूपेण ज्ञातव्यमाहारभयमैथुनपरि-ग्रहसज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तरागादिविभावत्यागेन ध्येयमिति तात्पर्यम् ।।१३९।।

एव कालव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथाद्वय गतम् ।

उत्थानिका—अथवा इन दो गाथाओ से समयरूप व्यवहार काल का व्याख्यान किया जाता है। निश्चय काल का व्याख्यान तो "उप्पादो पद्धसो" इत्यादि तीन गाथाओ से आगे करेंगे ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**सो इस तरह पर है कि द्वितीयादि प्रदेश रहित निरंश प्रदेशमात्र पुद्गल द्रव्यरूप परमाणु को मंदगति से किसी विवक्षित एक आकाश के प्रदेश पर जाते हुए जो वर्तन करती है वह निश्चय काल की समय पर्याय अंश रहित है। यह पहली गाथा का व्याख्यान है। वह परमाणु उस आकाश के प्रदेश पर जब पतन करता है तब उस पुद्गल परमाणु के मन्द गति से गमन मे जो काल लगा है उसी के समान समय है**

इसलिये एक समय अंश रहित है। अर्थात् समय सबसे छोटा काल है। इस तरह वर्तमान समय कहा गया। अब आगे पीछे के समयों को कहते है कि इस पूर्व में कहे हुए वर्तमान समय से आगे कोई समय होगा तथा पूर्व मे कोई समय हो चुका है इस प्रकार अतीत, अनागत, वर्तमान रूप से तीन प्रकार व्यवहार काल कहा जाता है। इन तीन प्रकार समयों में जो कोई वर्तमान का समय है वह उत्पन्न होकर नाश होने वाला है अतीत और अनागत संख्यात, असंख्यात और अनन्त समय है। इस तरह स्वरूप के धारी काल के होते हुए भी यह जीव अपने परमात्म-तत्व को नहीं प्राप्त करता हुआ भूत की अपेक्षा अनन्त काल से इस संसार समुद्र में भ्रमता चला आया है इसलिये ही अब इसके लिये अपना ही परमात्म तत्व सर्व तरह से ग्रहण करने योग्य मानकर श्रद्धान करने योग्य है, व स्वसवेदन ज्ञान से जानने योग्य है तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञा को आदि लेकर सर्व रागादि भावों को त्याग कर ध्यान करने योग्य है, ऐसा तात्पर्य है ॥१३६॥

इस तरह काल के व्याख्यान की मुख्यता से छठे स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति—

[1]आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया[2] भणिदं[3]।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥१४०॥

आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसज्ञया भणितम्।
सर्वेषा चाणूना शक्नोति तद्दातुमवकाशम् ॥१४०॥

आकाशस्यैकाणुव्याप्योऽशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपंचद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणु स्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः। अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः। यदि पुनराकाशस्याशा न स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम्? एक चेत्किमभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन कि वा भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन? अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुले. क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या? इत्यन्यतरांशाभावः। एवं द्व्याद्यंशानामभावादाकाशस्य परमाणोरिव प्रदेशमात्रत्वम्। भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम्। अनेकं चेत् किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वाऽविभागैकद्रव्यत्वेन? सविभागानेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम् ॥१४०॥

---

१ आयासमणुणिविट्ठ (ज० वृ०)। २ आयासपदेससण्णया (ज० वृ०)। ३ भणिय (ज० वृ०)।

भूमिका—अब, आकाश के प्रदेश का लक्षण सूत्र द्वारा कहते है—

अन्वयार्थ—[अणुनिविष्ट आकाश] एक परमाणु जितने आकाश मे रहता है उतने आकाश को [आकाश प्रदेशसज्ञया] 'आकाश प्रदेश' के नाम से [भणितम्] कहा गया है। [च] और [तत्] वह [सर्वेषा अणूना] समस्त परमाणुओ को [अवकाश दातु शक्नोति] अवकाश देने को समर्थ है।

टीका—आकाश का एक परमाणु से व्याप्त अंश आकाश प्रदेश है। वह एक (आकाशप्रदेश) भी शेष पांच द्रव्यों के प्रदेशो को तथा सूक्ष्मता रूप से परिणमित अनन्त परमाणुओ को और स्कंधो को अवकाश देने मे समर्थ है। आकाश अविभाग (अखड) एक द्रव्य होने पर भी, उसके (प्रदेशरूप) अंशकल्पना है, क्योकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओं को अवकाश देना नही बन सकता। यदि 'आकाश के अंश नहीं होते' (अर्थात् अंशकल्पना नहीं की जाती), ऐसी (किसी की) मान्यता हो तो आकाश में दो उंगलियां फैलाकर बताइये कि 'दो उंगलियों का एक क्षेत्र है या अनेक ?' यदि एक है तो (प्रश्न होता है कि—), (१) आकाश अभिन्न अंशो वाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिये दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है या (२) भिन्न अंशो वाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिये ? (१) यदि 'आकाश अभिन्न अंश वाला अविभाग एक द्रव्य है इसलिये दो अंगुलियो का एक क्षेत्र है' ऐसा कहा जाय तो, जो अंश एक अंगुली का क्षेत्र है वही अंश दूसरी अंगुली का भी है, इसलिये दोनों मे से एक अंश का अभाव हो गया इस प्रकार दो इत्यादि (एक से अधिक) अंशों का अभाव होने से आकाश परमाणु की भांति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ। (इसलिये यह तो घटित नही होता), (२) यदि यह कहा जाय कि 'आकाश भिन्न अंशों वाला अविभाग एक द्रव्य है' (इसलिये दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है) तो (यह योग्य ही है, क्योकि) अविभाग एक द्रव्य मे अश-कल्पना फलित हुई। यदि यह कहा जाय कि (दो अंगुलियों के) 'अनेक क्षेत्र है' (अर्थात् एक से अधिक क्षेत्र हैं, एक नही) तो (प्रश्न होता है कि–), आकाश सविभाग (खंडरूप) अनेक द्रव्य है इसलिये दो अगुलियों के अनेक क्षेत्र है या (२) आकाश के अविभाग एकद्रव्य होने पर भी दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र है ? (१) यदि सविभाग अनेक द्रव्य होने से माना जाय तो आकाश जो कि एक द्रव्य है उसे अनन्त-द्रव्यत्व आ जायगा, (इसलिये यह तो घटित नही होता), (२) यदि अविभाग एक द्रव्य होने से माना जाय तो (यह योग्य ही है, क्योकि) अविभाग एक द्रव्य मे अंशकल्पना फलित हुई ॥१४०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वं यत्सूचित प्रदेशस्वरूप तदिदानी विवृणोति—

आयासमणुणिविट्ठं आकाश अणुनिविष्ट पुद्गलपरमाणुव्याप्तम् । **आयासपदेससण्णया भणियं** आकाशप्रदेशसज्ञया भणित कथितम् । **सव्वेसि च अणूणं** सर्वेषामणूना चकारात्सूक्ष्मस्कन्धाना च **सक्कदि तं देदुमवगासं** शक्नोति स आकाशप्रदेशो दातुमवकाशम् । तस्याकाशप्रदेशस्य यदीत्थभूतमवकाशदानसामर्थ्य न भवति तदानन्तानन्तो जीवराशिस्तस्मादप्यनन्तगुणपुद्गलराशिश्चासख्येयप्रदेशलोके कथमवकाश लभते ? तच्च विस्तरेण पूर्व भणितमेव ।

अथ मत—अखण्डाकाशद्रव्यस्य प्रदेशविभाग कथ घटते ? परिहारमाह—चिदानन्दैकस्वभावनिजात्मतत्त्वपरमैकाग्रचलक्षणसमाधिसजातनिर्विकाराह्लादैकरूपसुखसुधारसास्वादतृप्तमुनियुगलस्यावस्थितक्षेत्र किमेकमनेक वा ? यद्येक तर्हि द्वयोरप्येकत्व प्राप्नोति न च तथा । भिन्न चेत्तदा अखण्डस्याप्याकाशद्रव्यप्रदेशविभागो न विरुध्यत इत्यर्थ ॥१४०॥

उत्थानिका—आगे जिसका पहले कथन किया है उस प्रदेश का स्वरूप कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अणुणिविट्ठं आयासं) अविभागी पुद्गलके परमाणु द्वारा व्याप्त जो आकाश है उसको (आयासपदेससण्णया) आकाश के प्रदेश की संज्ञा से (भणियं) कहा गया है । तथा (तं) वह प्रदेश (सव्वेसिं च अणूण) सर्व परमाणु तथा सूक्ष्म स्कंधों को (अवकासं देदुं सक्कदि) जगह देने को समर्थ है । एक परमाणु द्वारा व्याप्त आकाश के प्रदेश में यदि इतनी जगह देने की शक्ति नही होती कि वह अन्य परमाणुओं को व सूक्ष्म पदार्थो को जगह दे सकता है, तो यह अनन्तानन्त जीवराशि और उससे भी अनन्तगुणी पुद्गलराशि किस तरह असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में जगह पाती, इसको विस्तार से पहले कह चुके है ।**

शका—**अखंड आकाश द्रव्य के भीतर प्रदेशों का विभाग कैसे सिद्ध हो सकता है ?**

समाधान--**चिदानन्दमयी एक स्वभावरूप निज आत्मतत्त्व मे परम एकाग्रता लक्षण समाधिसे उत्पन्न विकार-रहित आल्हादमयी एक रूप, सुख, अमृत रस के स्वाद में तृप्त दो मुनियों के जोड़े का ठहरने का क्षेत्र एक है वा अनेक है ? यदि एक ही स्थान है तब दो मुनियों का एकत्व हो जायगा, सो ऐसा नही है । और यदि उनका क्षेत्र भिन्न-भिन्न है तब अखंड आकाश के भी प्रदेशों का विभाग करने मे कोई विरोध नही आता है ॥१४०॥**

अथ तिर्यगूर्ध्वप्रचयावावेदयति—

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य ।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥१४१॥

एको वा द्वौ बहव सख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च ।
द्रव्याणा च प्रदेशा सन्ति हि समया इति कालस्य ।।१४१।।

प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः, समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः । तत्राकाशस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यानवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वात् पुद्गलस्य द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः । न पुनः कालस्य शक्त्या व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात् । ऊर्ध्वप्रचयस्तु, त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव । अयं तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः । शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्ति समयविशिष्टत्वम् । कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति ।।१४१।।

भूमिका—**अब, (प्रदेश अपेक्षा) तिर्यक् प्रचय तथा (काल प्रवाह अपेक्षा) ऊर्ध्वप्रचय बतलाते है ।**

अन्वयार्थ—[द्रव्याणा च] द्रव्यो के [हि] निश्चय से [एकः] एक, [द्वौ] दो, [बहव] बहुत (सख्यात) [वा] अथवा [सख्यातीता] असंख्यात [ततः च] और फिर [अनन्ता] अनन्त [प्रदेशा] प्रदेश [सन्ति] है । [कालस्य] काल के [समया. इति] 'समय' है ।

टीका—**प्रदेशों का समूह तिर्यक्प्रचय और समयविशिष्ट वृत्तियों का (पर्यायों का) समूह ऊर्ध्वप्रचय है । वहाँ आकाश अवस्थित (स्थिर) अनन्त प्रदेश वाला है, धर्म तथा अधर्म अवस्थित असंख्य प्रदेश वाले है, जीव अनवस्थित असंख्य प्रदेशी है, और पुद्गल द्रव्यतः अनेक-प्रदेशित्व की शक्ति से युक्त एक प्रदेशवाला है तथा पर्याय की अपेक्षा दो अथवा बहुत (संख्यात, असंख्यात, अनन्त) प्रदेशवाला है, इसलिये उनके (आकाशादिक के) तिर्यक्प्रचय है । परन्तु काल के तिर्यक्प्रचय नही है, क्योंकि वह शक्ति तथा व्यक्ति (की अपेक्षा) से एक प्रदेशवाला है ।**

ऊर्ध्वप्रचय तो सर्वद्रव्यों के अनिवार्य ही है, क्योंकि द्रव्य की वृत्ति (परिणति) तीन कोटियों को (भूत, वर्तमान और भविष्यत्-ऐसे तीनों कालों को) स्पर्श करती है, इसलिये अंशों से युक्त है (एक समय की पर्याय त्रैकालिक परिणतिका एक अंश है) । परन्तु इतना अन्तर है कि समयविशिष्ट वृत्तियो का प्रचय (काल को छोड़कर) शेष द्रव्यो का ऊर्ध्वप्रचय है, और समयों का प्रचय काल द्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय है, क्योंकि शेष द्रव्यो की

वृत्ति समय से अर्थान्तर भूत (अन्य) है, इसलिये वह (वृत्ति) समय से विशिष्ट (विशेषित) है, काल द्रव्य की वृत्ति तो स्वतः समयभूत है, इसलिये वह समयविशिष्ट नहीं है ॥१४१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ तिर्यक्प्रचयोद्र्ध्वप्रचयौ निरूपयति—

एक्को वा दुगे वहुगा संखातीदा तदो अणता य एको वा द्वौ बहव सख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च । **दव्वाण च पदेसा सति हि** कालद्रव्य विहाय पञ्चद्रव्याणा सम्बन्धिन एते प्रदेशा यथासम्भव सन्ति हि स्फुटम् । **समयत्ति कालस्स** कालस्य पुन पूर्वोक्तसख्योपेता समया सन्तीति । तद्यथा—एकाकारपरम-समरसीभावपरिणतपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतभरितावस्थाना केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपानन्तगुणाधार-भूताना लोकाकाशप्रमितशुद्धासख्येयप्रदेशाना मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ प्रचय समूह समुदायो राशि स । कि कि भण्यते ? तिर्यक्प्रचया तिर्यक्सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति अक्रमानेकान्त इति च भण्यते । स च प्रदेशप्रचयलक्षणस्तिर्यक्प्रचयो यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा काल विहाय स्वकीय-स्वकीयप्रदेशसख्यानुसारेण शेषद्रव्याणा स भवतीति तिर्यक्प्रचयो व्याख्यात । प्रतिसमयवर्तिना पूर्वो-त्तरपर्यायाणा मुक्ताफलमालावत्सन्तान ऊद्र्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते । स च सर्वद्रव्याणा भवति । किन्तु पचद्रव्याणा सम्बन्धी पूर्वापरपर्यायसन्तानरूपो योऽसावूद्र्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीयस्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम् । कालस्तु प्रतिसमय सहकारिकारण भवति । यस्तु कालस्य समयसन्तानरूप ऊर्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीय स्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम् । कालस्तु प्रतिसमय सहकारिकारण भवति । यस्तु कालस्य समय सन्तानरूप ऊर्ध्वता प्रचयस्तस्य काल एवोपादानकारण सहकारिकारण च । कस्मात् ? कालस्य भिन्नसमयाभावात्पर्याया एव समया भवन्तीत्यभिप्राय ॥१४१॥

एव सप्तमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वय गतम् ।

उत्थानिका—आगे तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्व प्रचय का निरूपण करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वाणं पदेसा) काल द्रव्य के बिना पाँच द्रव्यों के प्रदेश (एक्को व दुगे च बहुगा संखातीदा तदो अणंता य सति) एक या दो या बहुत, या असंख्यात तथा अनन्त यथायोग्य होते हैं (कालस्स हि समयत्ति) परन्तु निश्चय से एक प्रदेशी काल द्रव्य के समय पूर्वोक्त संख्या वाले होते हैं। मुक्तात्मा पदार्थ मे एकाकार व परम समता रस के भाव मे परिणमनरूप परमानन्दमयी एक लक्षण सुखामृत से भरे हुए और केवल-ज्ञानादि प्रगटरूप अनन्त गुणो के आधारभूत, लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेशो का जो प्रचय या समूह या समुदाय या राशि है उसको तिर्यक् प्रचय, तिर्यक् विस्तार सामान्य या अक्रम अनेकान्त कहते हैं। यह प्रदेशो का समुदायरूप तिर्यक् प्रचय जैसे मुक्तात्मा द्रव्य में कहा गया है तैसे काल को छोड़कर अन्य द्रव्यो मे अपने-अपने प्रदेशो की संख्या के अनुसार तिर्यक्-प्रचय होता है ऐसा कथन समझना चाहिये। तथा समय-समय वर्तने वाली**

पूर्व और उत्तर पर्यायों की सन्तान को ऊर्ध्व प्रचय, ऊर्ध्व सामान्य, आयत सामान्य, या क्रम अनेकान्त कहते है, जैसे मोती की माला मे मोतियों को क्रम से गिना जाता है इसी तरह द्रव्य की समय-समय मे होने वाली पर्यायों को क्रम से गिना जाता है। इन पर्यायो के समूह को ऊर्ध्व सामान्य कहते है। यह सब द्रव्यो मे होता है। किन्तु काल के सिवाय पाँच द्रव्यों की पूर्व उत्तर पर्यायो का सन्तान रूप जो ऊर्ध्व प्रचय है उसका उपादान कारण तो अपना-अपना द्रव्य है परन्तु कालद्रव्य उनके लिये प्रति समय मे सहकारी कारण है। परन्तु जो कालद्रव्य का समय सन्तान रूप ऊर्ध्व प्रचय है उसका काल ही उपादान कारण है और काल ही सहकारी कारण है। क्योंकि काल से भिन्न कोई और समय नहीं है। काल की जो पर्याये है, वे ही समय है ऐसा अभिप्राय है ॥१४१॥

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति—

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एगसमयम्हि[1] ।
समयस्स सो वि समओ [2]सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥१४२॥

उत्पाद प्रध्वसो विद्यते यदि यस्यैकसमये ।
समयस्य सोऽपि समय स्वभावसमवस्थितो भवति ॥१४२॥

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंश तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वसौ संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात् । तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव, किं यौगपद्येन किं क्रमेण, यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात् । क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः, वृत्त्यशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात् । ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ एव । तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ संभवत । यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः । स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्ववृत्त्यशविशिष्टत्वेन प्रध्वंसः । यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम निरन्वयत्वं, यत पूर्वोत्तरवृत्त्यंशविशिष्टत्वाभ्यां युगपदुपात्तप्रध्वंसोत्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत् । एवमेकस्मिन् वृत्त्यंशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं सिद्धम् ॥१४२॥

भूमिका—अब, कालपदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है, इसका खंडन करते है—

अन्वयार्थ—[यदि यस्य समयस्य] यदि कालका [एक समये] एक समय मे [उत्पाद प्रध्वस] उत्पाद और विनाश [विद्यते] पाया जाता है, [सः अपि समय.] तो

१ एकसमयम्हि (ज० वृ०) । २ सहावसमवट्ठिदो (ज० वृ०) ।

काल भी [स्वभावसमवस्थित.] स्वभाव मे अवस्थित (अविनाशी स्वभाव मे स्थिर
त् ध्रुव) [भवति] होता है ।

टीका—समय काल पदार्थ का वृत्त्यंश (पर्याय) है, उस वृत्त्यंश मे किसी के भी
ाद तथा विनाश अवश्य संभवित है, क्योकि परमाणु के अतिक्रमण के द्वारा (समयरूपी
श) उत्पन्न होता है, इसलिये वह कारणपूर्वक है। (परमाणु के द्वारा एक आकाश
ा का मंदगति से उल्लंघन करना कारण है और समयरूपी वृत्त्यंश उस कारण का
है, इसलिये उसमे किसी पदार्थ का उत्पाद तथा विनाश होना चाहिये ।) 'किसी
र्थ के उत्पाद-विनाश होने की क्या आवश्यकता है ? उसके स्थान पर वृत्त्यंश को ही
ाद-विनाश होते हुये मान ले तो क्या हानि है ? इस तर्क का समाधान करते है–
उत्पाद और विनाश वृत्त्यंश के ही माने जाये तो (प्रश्न होता है कि–) (१) वे
ात् है या (२) क्रमशः ? (१) यदि 'युगपत्' कहा जाय तो युगपत्पना घटित नहीं
ा, क्योंकि एक ही समय एक के दो विरोधी धर्म नही होते । (एक ही समय एक
ंश के, प्रकाश और अंधकार की भांति, उत्पाद और विनाश–दो विरुद्ध धर्म नही
है ।) (२) यदि 'क्रमशः' कहा जाय तो क्रम नही बनता, क्योंकि वृत्त्यंश के सूक्ष्म होने
ससमे विभाग का अभाव है । इसलिये (समयरूपी वृत्त्यंश के उत्पाद तथा विनाश होना
श्य होने से) कोई वृत्तिमान् अवश्य ढूंढना चाहिये । वह (वृत्तिमान्) काल पदार्थ ही
उसके वास्तव में एक वृत्त्यंश मे भी उत्पाद और विनाश संभव है, क्योंकि जिस
ामान् के जिस वृत्त्यंश में उस वृत्त्यंश की अपेक्षा से जो उत्पाद है, वही, उसी वृत्तिमान्
ासी वृत्त्यंश में पूर्व वृत्त्यंश की अपेक्षा से विनाश है। (अर्थात्—कालपदार्थ के जिस
ान पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद है, वही पूर्व पर्याय की अपेक्षा से विनाश है ।)

यदि इस प्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंश में संभवित है तो काल पदार्थ
न्वय कैसे हो सकता है, कि जिससे पूर्व और पश्चात् वृत्त्यंश की अपेक्षा से युगपत्
ाश और उत्पाद को प्राप्त होता हुआ भी स्वभाव से अविनष्ट और अनुत्पन्न होने से
(काल पदार्थ) अवस्थित न हो ? अर्थात् अवश्य अवस्थित होगा ? काल पदार्थ के
वृत्त्यंश मे भी उत्पाद और विनाश युगपत् होते है, इसलिये वह निरन्वय अर्थात् खंडित
है, इसलिये स्वभावतः अवश्य ध्रुव है ।

इस प्रकार एक वृत्त्यंश में काल पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है, यह सिद्ध
ा ॥१४२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ समयसन्तानरूपस्योर्ध्वप्रचयस्यान्वयिरूपेणाधारभूत कालद्रव्य व्यवस्थापयति—

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि उत्पाद प्रध्वसो विद्यते यदि चेत्। कस्य। **जस्स** यस्य कालाणो। क्व ? **एकसमयम्हि** एकसमये वर्तमानसमये **समयस्स** समयोत्पादकत्वात्समय कालाणुस्तस्य **सोवि समओ** सोऽपि कालाणु **सहावसमवट्ठिदो हवदि** स्वभावसमवस्थितो भवति। पूर्वोक्तमुत्पादप्रध्वसद्वय तदाधारभूत कालाणुद्रव्यरूप ध्रौव्यमिति त्रयात्मकस्वभावसत्तास्तित्वमिति यावत्। तत्र सम्यगवस्थित स्वभाव समवस्थितो भवति। तथाहि—यथागुलिद्रव्ये यस्मिन्नेव वर्तमानक्षणे वक्रपर्यायस्योत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवागुलिद्रव्यस्य पूर्वर्जुपर्यायेण प्रध्वसस्तदाधारभूतागुलिद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धि। अथवा स्वस्वभावरूपसुखेनोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवात्मद्रव्यस्य पूर्वानुभूताकुलत्वदु खरूपेण प्रध्वसस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धि। अथवा मोक्षपर्यायरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायरूपेण प्रध्वसस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धि। तथा वर्तमानसमयरूपपर्यायेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैव कालाणुद्रव्यस्य पूर्वसमयरूपपर्यायेण प्रध्वसस्तदुभयाधारभूतागुलिद्रव्यस्थानीयेन कालाणुद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमिति कालद्रव्यसिद्धिरित्यर्थ ॥१४२॥

उत्थानिका—आगे समय-सतानरूप ऊर्ध्व-प्रचय के अन्वयी रूप से आधारभूत काल द्रव्य को स्थापन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जस्स समयस्स) समयरूप पर्याय को उत्पन्न करने वाले जिस कालाणु द्रव्य का (एक समयम्हि) एक वर्तमान समय मे (जदि) जो (उप्पादो) उत्पाद तथा (पद्धंसो) नाश (विज्जदि) होता है (सो वि समओ) सो ही काल पदार्थ (सहावसमवट्ठिदो हवदि) अपने स्वभाव मे भले प्रकार स्थिर रहता है।**

कालाणु द्रव्य में पहली समय रूप पर्याय का नाश नयी समय रूप पर्याय का उत्पाद जिस वर्तमान समय मे होता है, उसी समय इन दोनों उत्पाद और नाश का आधाररूप कालाणुरूप द्रव्य ध्रौव्य रहता है। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप त्रयात्मक स्वभावमयी सत्तारूप अस्तित्व इस काल द्रव्य का भले प्रकार सिद्ध है। भले प्रकार अवस्थित स्वभाव वाला समवस्थित है। जैसे एक हाथ की अंगुली को टेढा करते हुए जिस वर्तमान क्षण मे ही वक्र अवस्था का उत्पाद हुआ है उसी ही क्षण मे उसी ही अंगुली द्रव्य की पहली सीधीपने की पर्याय का नाश हुआ है परन्तु इन दोनों की आधारभूत अंगुली द्रव्य ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्य की सिद्धि होती है। अथवा जिस किसी आत्मद्रव्य में अपने स्वभावमयी सुख का जिस क्षण में उत्पाद है उसी ही क्षण मे उसके पूर्व अनुभव होने वाले आकुलता रूप दुःख पर्याय का नाश है परन्तु इन दोनो के आधारभूत परमात्म-द्रव्य का ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्य की सिद्धि है। अथवा एक आत्मद्रव्य मे जिस समय मोक्ष पर्याय का उत्पाद है उस ही

समय रत्नत्रयमयी मोक्षमार्ग रूप पर्याय का नाश है परन्तु इन दोनों के आधारभूत परमात्म द्रव्य का ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्य की सिद्धि है। उसी प्रकार जिस काल द्रव्य की जिस क्षण में वर्तमान समयरूप पर्याय का उत्पाद है उसी काल द्रव्य की पूर्व समय की पर्याय का नाश है परन्तु इन दोनो के आधाररूप अगुली द्रव्य के स्थान में कालाणु द्रव्य का ध्रौव्य है, इस तरह काल द्रव्य की सिद्धि है ॥१४२॥

अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं साधयति—

[1]एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥१४३॥

एकस्मिन् सन्ति समये सभवस्थितिनाशसज्ञिता अर्था ।
समयस्य सर्वकाल एष हि कालाणुसद्भाव ॥१४३॥

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यंशे तस्य दर्शनात्, उपपत्तिमच्चैतत्, विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्धचति सद्भावः। यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्धचतस्तदा तु अस्तित्व-मन्तरेण न सिद्धचतः कथंचिदपि ॥१४३॥

भूमिका—अब, (जैसे एक वृत्त्यंश में काल पदार्थ का उत्पाद व्यय सिद्ध किया है, उसी प्रकार) सर्व वृत्त्यंशो में काल पदार्थ के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व है, यह सिद्ध करते है :—

अन्वयार्थ—[एकस्मिन् समये] एक समय मे [सभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्था] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ [समयस्य] काल के [सर्वकाल] सदा [सति] होते है। [एष हि] यही [कालाणुसद्भावः] कालाणु का सद्भाव है, (यही कालाणु के अस्तित्व की सिद्धि है।)

टीका—काल पदार्थ के सभी वृत्त्यंशों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते है, क्योंकि (१४२ वी गाथा मे जैसा सिद्ध हुआ है तदनुसार) एक वृत्त्यंश में वे (उत्पादव्ययध्रौव्य) देखे जाते है। और यह योग्य ही है, क्योकि विशेष अस्तित्व की सामान्य अस्तित्व के विना, उत्पत्ति नही हो सकती। यही काल पदार्थ के सद्भाव की सिद्धि है। (क्योकि) यदि विशेष और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते है, तो वे अस्तित्व के विना किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होते ॥१४३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण यथा वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्व स्थापितम् तथा सर्व-समयेष्वस्तीति निश्चिनोति—

एगम्हि संति समये सभवठिदिणाससण्णिदा अठ्ठा एकस्मिन्समये सन्ति विद्यन्ते। के ? सम्भवस्थितिनाशसज्ञिता अर्था धर्म्मा स्वभावा इति यावत्। कस्य सम्बन्धिन ? **समयस्स** समयरूप-पर्यायस्योत्पादकत्वात् समय कालाणुस्तस्य **सव्वकालं** यद्येकस्मिन् वर्तमानसमये सर्वदा तथैव **एस हि कालाणुसब्भावो** एष. प्रत्यक्षीभूतो हि स्फुटमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालाणुसद्भाव इति। तद्यथा—यथा पूर्वमेकसमयोत्पादप्रध्वसाधारेणागुलिद्रव्यादिदृष्टान्तेन वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्व स्थापित तथा सर्वसमयेषु ज्ञातव्यमिति। अत्र यद्यप्यतीतानन्तकाले दुर्लभाया सर्वप्रकारोपादेयभूताया सिद्धगते काललब्धिरूपेण बहिरङ्गसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक-श्रद्धानाज्ञानानुष्ठानसमस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोत्पादनकारण न च कालस्तेन कारणेन स हेय इति भावार्थ ॥१४३॥

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते है कि जैसे पूर्व मे कहे प्रमाण एक वर्तमान समय मे काल द्रव्य का उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध किया गया उसी प्रकार सर्व समयो मे होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एगम्हि समये) एक समय में (समयस्स) कालद्रव्य का (संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव (सति) हैं (एस हि) निश्चय करके ऐसा ही (कालाणुसब्भावो) कालाणु द्रव्य का स्वभाव (सव्वकालं) सदाकाल रहता है।**

जैसे पहले अंगुली द्रव्य आदि के दृष्टांत से एक समय में ही उत्पाद और व्यय का आधार भूत होने से एक विवक्षित वर्तमान समय में ही काल द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना स्थापित किया गया तैसा ही सर्व समयों में जानना योग्य है। यहां यह तात्पर्य निकालना चाहिये कि यद्यपि भूतकाल के अनन्त समयों में दुर्लभ और सब तरह से ग्रहण करने योग्य सिद्धगति का काललब्धिरूप से बाहरी सहकारी कारण काल है तथापि निश्चय नय से अपने ही शुद्ध आत्मा के तत्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र तथा सर्व पर द्रव्य की इच्छा की निरोधमयी लक्षणरूप तपश्चरण इस तरह यह जो निश्चय चार प्रकार आराधना है यही उपादान कारण है, काल उपादान कारण नही है, इससे कालद्रव्य त्यागने योग्य है यह भावार्थ है ॥१४३॥

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति—

जस्स ण संति पदेसा[1] पदेसमेत्तं[2] व तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥१४४॥

यस्य न सन्ति प्रदेशा प्रदेशमात्र वा तत्त्वतो ज्ञातुम् ।
शून्य जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥१४४॥

अस्तित्वं हि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः। न खलु सा प्रदेशमन्तरेण सूत्र्यमाणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः। स तु शून्य एव, अस्तित्वसज्ञाया वृत्तेरर्थान्तरभूतत्वात्। न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति; वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा कथमुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मकत्वम्। अनाद्यनन्तनिरन्तरानेकांशवशीकृतैकात्मकत्वेन पूर्वपूर्वांशप्रध्वंसादुत्तरोत्तरांशोत्पादादेकात्मध्रौव्यादिति चेत्। नैवम्। यस्मिन्नंशे प्रध्वंसो यस्मिश्चोत्पादस्तयोः सहप्रवृत्त्यभावात् कुतस्त्यमैक्यम्। तथा प्रध्वस्तांशस्य सर्वथास्तमितत्वादुत्पद्यमानांशस्य वा सभवितात्मलाभत्वात्प्रध्वंसोत्पादैक्यवर्तिध्रौव्यमेव कुतस्त्यम्। एवं सति नश्यति त्रैलक्षण्यं, उल्लसति क्षणभङ्गः, अस्तमुपैति नित्यं द्रव्यं, उदीयन्ते क्षणक्षयिणो भावाः। ततस्तत्त्वविप्लवभयात्कश्चिदवश्यमाश्रयभूतो वृत्तेर्वृत्तिमाननुसर्तव्यः। स तु प्रदेश एवाप्रदेशस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः। एवं सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्व नाभ्युपगम्येत। पर्यायसमयाप्रसिद्धेः। प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमयमतिक्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्ध्यति। लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वे तु द्रव्यसमयस्य कुतस्त्या तत्सिद्धिः। लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकं प्रदेशमतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैवं। एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात्। सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्त्यंशः स समयो न तु तदेकदेशस्य। तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वप्रसंगाच्च। तथाहि प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते ततोऽन्येन ततोऽप्यन्तरेणेति तिर्यक्प्रचयोऽप्यूर्ध्वचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति। ततस्तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितव्यम् ॥१४४॥

भूमिका—अब, काल पदार्थ का अस्तित्व अन्यथा (अन्य प्रकार से) नही बन सकता, इसलिये उसका प्रदेशमात्रत्व सिद्ध करते है—

---

१ पएसा (ज० वृ०)। (२) पएसमेत्त (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[यस्य] जिस पदार्थ के [प्रदेशाः] बहुत प्रदेश [प्रदेशमात्र वा] अथवा एक प्रदेश भी [तत्त्वतः] परमार्थतः [ज्ञातुम् न सति] ज्ञात नही होते, [त अर्थं] उस पदार्थ को [शून्य जानीहि] शून्य जानो [अस्तित्वात् अर्थान्तरभूतत्] क्योकि वह अस्तित्व से अर्थान्तरभूत (अन्य) है ।

टीका—प्रथम तो, अस्तित्व उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य की ऐक्यरूप प्रवृत्ति है । सूत्र मे कही हुई वह (वृत्ति) प्रदेश के बिना ही काल के होनी सम्भव नही है, क्योंकि प्रदेश के अभाव मे वृत्तिमान् का अभाव होता है । (और) वह तो शून्य ही है, क्योकि अस्तित्व नामक वृत्ति से अर्थान्तरभूत (अन्य) है । और (यदि यहां यह तर्क किया जाय 'मात्र समय पर्यायरूपवृत्ति ही माननी चाहिये, वृत्तिमान् कालाणु पदार्थ की क्या आवश्यकता है ? तो उसका समाधान इस प्रकार है)—मात्र वृत्ति ही काल नही हो सकती, क्योकि वृत्तिमान् के बिना वृत्ति नही हो सकती । यदि (यह कहा जाय कि वृत्तिमान् के बिना भी) वृत्ति हो सकती है तो, (प्रश्न होता है कि वृत्ति तो उत्पादव्ययध्रौव्य की एकतास्वरूप होनी चाहिये,) अकेली वृत्ति उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एकतारूप कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि—'अनादि-अनन्त, अनन्तर (परस्पर अन्तर हुये बिना एक के बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अंशों के कारण एकात्मकता (एक-स्वरूपता) होती है इसलिये, पूर्व-पूर्व अंशो का उत्पाद होता है तथा एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है,—इस प्रकार मात्र (अकेली) वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप हो सकती है' ऐसा नही है । (क्योकि उस अकेली वृत्ति मे तो) जिस अंश में नाश है और जिस अंश मे उत्पाद है वे दो अंश एक साथ प्रवृत्त नही होते, इसलिये (उत्पाद और व्यय का) ऐक्य कहां से हो सकता है ? (अर्थात् नही हो सकता) । तथा नष्ट अंश के सर्वथा अस्त होने से और उत्पन्न होने वाला अंश अपने स्वरूप को प्राप्त होने से (अर्थात् उत्पन्न हुआ है, इसलिये दोनो भिन्न-भिन्न हुये, फिर) नाश और उत्पाद की एकता मे प्रवर्तमान ध्रौव्य कहां से हो सकता है (अर्थात् नही हो सकता) । ऐसा होने पर त्रिलक्षणता (उत्पादव्ययध्रौव्यता) नष्ट हो जाती है, क्षणभंगुरता (बौद्धसम्मत क्षणविनाश) उल्लसित हो उठता है, नित्य द्रव्य अस्त हो जाता है, और क्षण-विध्वंसी भाव उत्पन्न होते है । इसलिये तत्वविप्लव के (वस्तु-स्वरूप की व्यवस्था बिगड़ जाने के) भय से अवश्य ही वृत्ति का आश्रयभूत कोई वृत्तिमान् ढूंढना स्वीकार करना योग्य है । वह तो प्रदेश ही है (अर्थात् वह वृत्तिमान् सप्रदेश ही होता है), क्योकि अप्रदेश के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुविधायित्व असिद्ध है । (जो अप्रदेश होता है । वह अन्वय

तथा व्यतिरेको का अनुसरण नहीं कर सकता, अर्थात् उसमे ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय नही हो सकते ।)

प्रश्न—जब कि इस प्रकार काल सप्रदेश है तो उसके एक द्रव्य के कारणभूत लोकाकाश के तुल्य (बराबर) असख्यात प्रदेश क्यों न मानने चाहिये ?

उत्तर—ऐसा हो तो पर्याय समय सिद्ध नही होता, इसलिये असख्य प्रदेश मानना योग्य नही है। परमाणु के द्वारा प्रदेशमात्र कालद्रव्य का उल्लघन करने पर (अर्थात्–परमाणु के द्वारा एक प्रदेशमात्र कालाणु से निकट के दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मदगति से गमन करने पर) समय रूप पर्याय की सिद्धि होती है। यदि द्रव्यसमय आकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी हो तो समयरूप पर्याय की सिद्धि कहां से होगी ? (नहीं होगी ।)

'यदि द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश जितने असख्य प्रदेश वाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लघित होने पर पर्यायसमय की सिद्धि हो जायगी; ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नही है, क्योकि (उसमे दोष आते है)—

(१) एक प्रदेश की वृत्ति को सम्पूर्ण द्रव्य की वृत्ति मानने मे विरोध है। (उपरोक्त मान्यता से) सम्पूर्ण काल पदार्थ का जो सूक्ष्म वृत्त्यंश है वह 'समय' होगा परन्तु उसके एक देश का वृत्यश 'समय' नही होगा। (अथवा)

(२) तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयत्व का प्रसंग आता है। वह इस प्रकार है कि—प्रथम, कालद्रव्य एक प्रदेश से वर्ते, फिर प्रदेश से वर्ते और फिर अन्य प्रदेश मे वर्ते (ऐसा प्रसग आता है) इस प्रकार तिर्यक्प्रचय ऊर्ध्वप्रचय बनकर द्रव्य को प्रदेशमात्र स्थापित करता है। (अर्थात् तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय है, ऐसा मानने का प्रसग आता है, इसलिये द्रव्य प्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है।) इसलिये तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयत्व न मानने (चाहने) वाले को प्रथम ही कालद्रव्य को प्रदेशमात्र निश्चय करना चाहिये ॥१४४॥

इस प्रकार ज्ञेयतत्वप्रज्ञापन मे द्रव्यविशेषप्रज्ञापन अधिकार समाप्त हुआ।

ध्रौव्यात्मकसत्ताया इति। तथाहि—कालपदार्थस्य तावत्पूर्वसूत्रोदितप्रकारेणोत्पादव्ययध्रौव्या
मस्तित्व विद्यते तच्चास्तित्व प्रदेश विना न घटते। यश्च प्रदेशवान् स कालपदार्थ इति। अथ
कालद्रव्याभावेप्युत्पादव्ययध्रौव्यत्व घटते। नैव। अगुलिद्रव्याभावे वर्तमानवक्रपर्यायोत्पादो भूतर्जु
यस्य विनाशस्तदुभयाधारभूत ध्रौव्य। कस्य भविष्यति ? न कस्यापि। तथा कालद्रव्याभावे वर्त
समयरूपोत्पादो भूतसमयरूपो विनाशस्तदुभयाधारभूत ध्रौव्य। कस्य भविष्यति ? न कस्यापि।
सत्येतदायाति–अन्यस्य भङ्गोऽन्यस्योत्पादोऽन्यस्य ध्रौव्यमिति सर्व वस्तुस्वरूप विप्लवते। तस्मा
विप्लवभयादुत्पादव्ययध्रौव्याणा कोऽप्येक आधारभूतोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्य। स चैकप्रदेशरूप का
पदार्थ एवेति। अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजन जाता, भाविकाले चात्मोपादान
स्वयमतिशयवदित्यादिविशेषेण विशिष्टसिद्धसुखस्य भाजन भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिव
तथापि तत्र निजपरमात्मोपादेयरुचिरूप वीतरागचारित्राविनाभूत यन्निश्चयसम्यक्त्व तस्यैव मुख
न च कालस्य, तेन स हेय इति। तथा चोक्तम्—

"कि पलविएणबहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले, सिज्झिहहि जेवि भविया त जाणह
माहप्प" ॥१४४॥

एव निश्चयकालव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रय गतम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण "
जीवमजीव" इत्याद्येकोनविशतिगाथाभि स्थलाष्टकेन **विशेषज्ञेयाधिकारः** समाप्त। अत
शुद्धजीवस्य द्रव्यभाव प्राणै सह भेदनिमित्त "सपदेसे हि समग्गो" इत्यादि यथाक्रमेण गाथा
पर्यन्त सामान्य भेदभावना व्याख्यान करोति।

उत्थानिका—आगे उत्पाद व्यय ध्रौव्यमयी अस्तित्व मे ठहरे हुए कालद्रव्य के
प्रदेशपना स्थापित करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जस्स पएसा ण संति) जिस किसी पदार्थ के बहु
नही है (व पदेसमेत्तं तच्चदो णादुं) अथवा जो वस्तु अपने स्वरूप से एक प्रदेश मात्र भी
जानी जाती है (तमत्थं सुण्णं जाण) उस पदार्थ को शून्य जानो क्योंकि (अत्थोदो अत्थ
भूदं) वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अस्तित्व से अर्थान्तरभूत अर्थात् भिन्न हो ज
क्योकि उसमें एक प्रदेश भी नही है, जिससे उसकी सत्ता का बोध हो।**

**जैसा पूर्व सूत्रों मे कहा है उस प्रकार काल पदार्थ मे उत्पाद व्यय ध्रौव
अस्तित्व विद्यमान है। यह अस्तित्व प्रदेश के बिना नही घट सकता है। जो प्रदेश
है, वही काल पदार्थ है। कोई कहे कि कालद्रव्य के अभाव मे भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य
जायेगा ? इसका समाधान करते है कि ऐसा नहीं है। जैसे अंगुली द्रव्य के न होते हुए वर्त
वक्र पर्याय का जन्म और भूतकाल की सीधी पर्याय का विनाश तथा दोनों के आधार
ध्रौव्य किसका होगा ? अर्थात् किसी का भी न होगा। तैसे ही कालद्रव्य के अभाव मे
मान समय रूप उत्पाद व भूत समय रूप विनाश व दोनो का आधार रूप ध्रौव्य कि**

होगा ? किसी का नहीं हो सकेगा। यदि सत्तारूप पदार्थ को न माने तो यह होगा कि विनाश किसी दूसरे का, उत्पाद किसी अन्य का व ध्रौव्य किसी और का होगा। ऐसा होते हुए सर्व वस्तु का स्वरूप बिगड़ जायेगा। इसलिये वस्तु के नाश के भय से यह मानना पड़ेगा कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य का कोई भी एक आधार है। वह इस प्रकरण में एक प्रदेश मात्र कालाणु पदार्थ ही है। यहां यह तात्पर्य समझना कि अनन्त भूतकाल में जितने कोई सिद्ध सुख के पात्र हो चुके है व भविष्यकाल में अपने ही उपादान से सिद्ध व स्वयं अतिशयरूप इत्यादि विशेषणरूप अतींद्रिय सिद्ध सुख के पात्र होवेंगे वे सब ही काल लब्धि के वश से ही हुए है व होगे, तो भी अपना परमात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप तथा वीतरागचारित्र के अविनाभावी निश्चयसम्यग्दर्शन की ही मुख्यता है, न कि काल की। इसलिये काल हेय है। जैसा कि कहा है—

"बहुत क्या कहे जितने उत्तम पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुए है व जो भव्य जीव भविष्य मे सिद्ध होंगे सो सब सम्यग्दर्शन की महिमा जानो" ॥१४४॥

इस तरह निश्चय काल के व्याख्यान की मुख्यता से आठवे स्थल में तीन गाथाये पूर्ण हुई। इस तरह पूर्व में कहे प्रमाण "दव्वं जीवमजीवं" इत्यादि उन्नीस गाथाओं से आठवे स्थल से विशेषज्ञेयाधिकार समाप्त हुआ।

इसके आगे शुद्ध जीव का अपने द्रव्य और भाव प्राणों के साथ भेद के निमित्त "सपदेसेहिं समग्गो" इत्यादि यथाक्रम से आठ गाथाओं तक सामान्य भेद भावना का व्याख्यान करते है।

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति—

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो [1]पाणचदुक्काभिसंबद्धो ॥१४५॥

सप्रदेशै समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्य ।
यस्त जानाति जीव प्राणचतुष्काभिसवद्ध ॥१४५॥

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्तिं नीतो लोकस्तं खलु तदन्तःपातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते नत्वितरः। एवं शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेयं ज्ञानं चेति ज्ञानज्ञेयविभागः। अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतु के त्रिसमयावस्थायि-

[1] पाणचउक्केण सवद्धो (ज० वृ०)।

त्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ॥१४५॥

भूमिका—अब, इस प्रकार ज्ञेयत्व को कहकर, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग द्वारा आत्मा को निश्चित करते हुये, आत्मा को अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करने के लिये व्यवहार जीवत्व के हेतु का विचार करते है .—

अन्वयार्थ—[सप्रदेशै अर्थै] सप्रदेश पदार्थो के द्वारा [निष्ठित.] समाप्ति को प्राप्त[1] [समग्र लोक] सम्पूर्ण लोक [नित्य·] नित्य है, [त] उसे [य जानाति] जो जानता है [जीव] वह जीव है, [प्राणचतुष्काभिसबद्ध] जो कि (ससार दशा मे) चार प्राणो से संयुक्त है।

टीका—इस प्रकार जिन्हे प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है ऐसा आकाश पदार्थ से लेकर काल पदार्थ तक के सभी पदार्थो से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है, उसको वास्तव मे, उसमें अन्तर्भूत होने पर भी, स्वपर को जानने की अचिन्त्यशक्तिरूप सम्पत्ति के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नही। इस प्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही है और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है,—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है। अब, सहजरूप से (स्वभाव से ही) प्रगट अनन्तज्ञानशक्ति जिसका हेतु है और तीनों काल में अवस्थायित्व जिसका लक्षण है ऐसे वस्तु का स्वरूपभूत होने से सर्वदा अविनाशी निश्चयजीवत्व होने पर भी, संसारावस्था मे अनादिप्रवाहरूप से प्रवर्तमान पुद्गल संश्लेष के द्वारा स्वयं दूषित होने से इस जीव के चार प्राणों से संयुक्तता है, जो कि व्यवहारजीवत्व का हेतु है, और विभक्त करने योग्य है ॥१४५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानज्ञेयज्ञापनार्थं तथैवात्मन. प्राणचतुष्केन सह भेदभावनार्थं वा सूत्रमिद प्रतिपादयति—

लोगो लोको भवति। कथभूत ? **णिट्ठिदो** निष्ठित समाप्ति नीतो भृतो वा। कै कर्तृभूतै ? **अट्ठेहि** सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयो येऽर्थास्तै·। पुनरपि किंविशिष्ट ? **सपदेसेहि समग्गो** स्वकीयप्रदेशै समग्र परिपूर्ण। अथवा पदार्थै कथभूतै ? सप्रदेशै प्रदेशसहितै। पुनरपि किविशिष्टो लोक ? **णिच्चो** द्रव्यार्थिकनयेन नित्य लोकाकाशापेक्षया वा। अथवा नित्यो न केनापि पुरुषविशेषेण कृत **जो त जाणदि** य कर्ता त ज्ञेयभूतलोक जानाति **जीवो** स जीवपदार्थो भवति। एतावता किमुक्त भवति योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो जीव स ज्ञान ज्ञेयश्च भण्यते। शेषपदार्थास्तु ज्ञेया एवेति ज्ञातृज्ञेयविभाग। पुनरपि किविशिष्टो जीव ? **पाणचउक्केण सबद्धो** यद्यपि

१ छह द्रव्यो से ही सम्पूर्ण लोक समाप्त हो जाता है, अर्थात् उनके अतिरिक्त लोक मे दूसरा कुछ नही है।

निश्चयेन स्वत सिद्धपरमचैतन्यस्वभावेन निश्चयप्राणेन जीव ति तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्ध-वशादायुराद्यशुद्धप्राणचतुष्केनापि सम्बद्ध. सन् जीवति। तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूप न भवतीति भेदभावना ज्ञातव्येत्यभिप्राय ॥१४५॥

उत्थानिका—आगे ज्ञान और ज्ञेय को बताने के लिये तथा आत्मा का चार प्राणो के साथ भेद है इस भावना के लिये यह सूत्र कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णिच्चो) द्रव्यार्थिक नय से नित्य अथवा किसी पुरुष विशेष से नही किया हुआ सदा से चला आया हुआ (लोगो) यह लोकाकाश (सपदेसेहिं समग्गो) अपने ही असंख्यात प्रदेशों से पूर्ण है और (अट्ठेहिं णिट्ठिदो) सहज शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप परमात्म पदार्थ को आदि लेकर अन्य पदार्थो से भरा हुआ है अथवा अपने-अपने प्रदेशों को रखने वाले पदार्थो से भरा हुआ है (जो तं जाणदि) जो कोई इस ज्ञेय रूप लोक को जानता है (जीवो) सो जीव पदार्थ है तथा वह (पाणचउक्केणसंबद्धो) संसार अवस्था में व्यवहार से चार प्राणों का सम्बन्ध रखता है। निश्चय से यह जीव शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है इसलिये यह ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है। शेष सब पदार्थ मात्र ज्ञेय ही है इस तरह ज्ञाता और ज्ञेय का विभाग है। तथा यद्यपि निश्चय से यह स्वयसिद्ध परम चैतन्य स्वभावरूप निश्चय प्राण से जीता है तथापि व्यवहार से अनादि से कर्मबन्ध के वश से आयु आदि अशुद्ध चार प्राणों से भी सम्बन्ध रखता हुआ जीता है। यह चार प्राणों का सम्बन्ध शुद्ध निश्चय से जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसी भेद भावना समझनी चाहिये यह अभिप्राय है ॥१४५॥**

अथ के प्राणा इत्यावेदयति—

इंदियपाणो य तधा[1] बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥१४६॥

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायु प्राणश्च।
आनपानप्राणो जीवाना भवन्ति प्राणास्ते ॥१४६॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणाः, कायवाङ्मनस्त्रयं बलप्राणाः, भव-धारणनिमित्तमायुःप्राणः। उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राणः ॥१४६॥

भूमिका—**अब, प्राण कौन से है, सो बतलाते है—**

---

१ तहा (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[इन्द्रिय प्राण च] इन्द्रिय प्राण [तथा बलप्राण] बलप्राण, [तथा च आयुप्राण] आयुप्राण [च] और [आनपानप्राण] श्वासोच्छ्वास प्राण, [ते] यह (चार) [जीवाना] जीवो के [प्राणा] प्राण [भवन्ति] है।

टीका—**स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र,—यह पांच इन्द्रियप्राण है, काय, वचन, और मन—यह तीन बलप्राण है, मनुष्यादि भव धारण का निमित्त आयुप्राण है, नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है, ऐसी वायु (श्वास) श्वासोच्छ्वास प्राण है ॥१४६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथेन्द्रियादिप्राणचतुष्कस्वरूप प्रतिपादयति—

इन्दियपाणो य तहा अतीन्द्रियानन्तसुखस्वभावादात्मनो विलक्षण इन्द्रियप्राण **बलपाणो तह य** मनोवाक्कायव्यापाररहितात्मपरमात्मद्रव्याद्विसदृशो बलप्राण, **आउपाणो य** अनाद्यनन्तस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विपरीत साद्यन्त आयु प्राण, **आणप्पाणप्पाणो** उच्छ्वासनिश्वासजनितखेदरहिताच्छुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूत आनपानप्राण । **जीवाण होंति पाणा** एवमायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासरूपेणाभेदनयेन जीवाना सम्बन्धिनश्चत्वार प्राणा भवन्ति। ते ते च शुद्धनयेन जीवाद्भिन्ना भावयितव्या इति ॥१४६॥

उत्थानिका—आगे इन्द्रि आदि चार प्राणो का स्वरूप कहते है—

अन्वय सहीत विशेपार्थ—**(इन्दियपाणो) इन्द्रिय प्राण (य तहा) तथा (बलपाणो) बल प्राण (तह य) तैसे ही (आउपाणो) आयुप्राण (य) और (आणप्पाणप्पाणो) श्वासोच्छ्वास प्राण (ते पाणा) ये प्राण (जीवाणं) जीवो के (होंति) होते है।**

विशेपार्थ—**अतीद्रिय और अनन्त सुख के कारण न होने से इन्द्रियप्राण आत्मा के स्वभाव से विलक्षण है। मन, वचन, काय के व्यापार से रहित परमात्मद्रव्य से भिन्न बल प्राण है। अनादि और अनन्त स्वभावमयी परमात्मपदार्थ से विपरीत आदि और अंत सहित आयु प्राण है। श्वासोच्छ्वास के पैदा होने के खेद से रहित शुद्धात्मतत्व से विपरीत श्वासोच्छ्वास प्राण है। इस तरह आयु, इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास के रूप से व्यवहारनय से जीवों के चार प्राण होते है। ये प्राण शुद्ध निश्चयनय से जीव से भिन्न है, ऐसी भावना करनी योग्य है ॥१४६॥**

अथ ते एव प्राणा भेदनयेन दशविधा भवन्तीत्यावेदयति,—

पंचवि इन्दियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥१४६॥१

पचापि इन्द्रियप्राणाः मनोवचःकाया च त्रयो बलप्राणा; ।
आनपानप्राणा आयुःप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ।।१४६-१।।

पंचवि इन्दियपाणा इन्द्रियप्राण पञ्चविध, **मण वचिकाया य तिण्णि बल पाणा** त्रिधा मनोवाक्काया बलप्राण, **आणप्पाणप्पाणो** पुनश्चैक आनपानप्राण, **आउगपाणेण** आयु प्राण । **होंति दसपाणा** इति भेदेन दश प्राणास्तेऽपि । चिदानन्दैकस्वभावात्परमात्मनो निश्चयेन भिन्ना ज्ञातव्या इत्यभिप्राय ।।१४६-१।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि भेद नय से ये प्राण दस तरह के होते है—

अर्थ—**स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियप्राण है । मन, वचन, काय ये तीन बलप्राण है । श्वासोच्छ्वास तथा आयुप्राण को लेकर दश प्राण होते है । ये दसो प्राण चिदानन्दमयी एक रूप परमात्मा से निश्चय से भिन्न है ऐसा जानना चाहिये, यह अभिप्राय है ।।१४६।१।।**

अथ प्राणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति—

पाणेहिं [1]चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो [2]पाणा पुण [3]पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ।।१४७।।

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवित पूर्वम् ।
स जीव प्राणा पुन पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ता ।।१४७।।

प्राणसामान्येन जीवति जीविष्यति जीवितवांश्च पूर्वमिति जीवः । एवमनादिसंतानप्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्यं जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव तथापि तन्न-जीवस्य स्वभावत्वमावाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् ।।१४७।।

भूमिका—**अब, व्युत्पत्ति द्वारा प्राणो को जीवत्व का हेतु और पौद्गलिकत्व सूत्र द्वारा कहते है—**

अन्वयार्थ—[य. हि] जो [चतुर्भि प्राणै.] चार प्राणो से [जीवति] जीता है, [जीविष्यति] जीवेगा, [जीवित. पूर्व] और पहले जीता था, [स जीव] वह जीव है । [पुन·] और [प्राणा] प्राण [पुद्गल द्रव्यै. निवृत्ता] पुद्गल द्रव्यो से निष्पन्न (रचित) है ।

टीका—**(व्युत्पत्ति के अनुसार) जो प्राणसामान्य से जीता है, जीवेगा, और पहले जीता था, वह जीव है । इस प्रकार अनादि संतानरूप (प्रवाहरूप) प्रवृत्ति के कारण (ससार दशा मे) त्रिकाल-स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है ही, तथापि वह उसका स्वभाव नही है, क्योकि वह पुद्गल द्रव्य से रचित है ।।१४७।।**

---

१ चउहि (ज० वृ०) २ ते पाणा (ज० वृ०) ३ पुग्गद दव्वेहि (ज० वृ०) ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्राणशब्दव्युत्पत्त्या जीवस्य जीवत्व प्राणाना पुद्गलस्वरूपत्व च निरूपयति—

पाणेहि चर्दुहि जीविदि यद्यपि निश्चयेन सत्ताचैतन्यसुखबोधादिशुद्धभावप्राणैर्जीवति तथापि व्यवहारेण वर्त्तमानकाले द्रव्यभावरूपेश्चतुर्भिरशुद्धप्राणैर्जीवति **जीवस्सदि** जीविष्यति भाविकाले **जो हि जीविदो** यो हि स्फुट जीवित **पुव्वं** पूर्वकाले **सो जीवो** स जीवो भवति **ते पाणा** ते पूर्वोक्ता प्राणा **पुग्गलदव्वेहि णिव्वत्ता** उदयागतपुद्गलकर्मणा निर्वृत्ता निष्पन्ना इति । तत एव कारणात्पुद्गलद्रव्यविपरीतादनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणस्वभावात्परमात्मतत्त्वाद्भिन्ना भावयितव्या इति भाव ।।१४७।।

उत्थानिका—आगे प्राण शब्द की व्युत्पत्ति करके जीव का जीवपना और प्राणो का पुद्गल स्वरूपपना कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो हि) जो कोई वास्तवमे (चर्दुहि पाणेहि) चार प्राणों से (जीवदि) जीता है, (जीविस्सदि) जीवेगा व (पुव्वं जीविदो) पहले जीता था (सो जीवो) वह जीव है (ते) वे (पाणा) प्राण (पुग्गलदव्वेहि) पुद्गल द्रव्यों से (णिव्वत्ता) रचे हुए है । यद्यपि यह जीव निश्चयनय से सत्ता, चैतन्य, सुख, ज्ञान आदि शुद्ध भावप्राणों से जीता है, जीता था तथा जीता रहेगा तथापि व्यवहारनय से यह ससारी जीव इस अनादि संसार मे जैसे वर्तमान मे द्रव्य और भावरूप अशुद्ध प्राणों से जीता है, ऐसे ही पहले जीता था अथवा जब तक संसार मे है जीता रहेगा, क्योकि ये अशुद्ध प्राण उदय प्राप्त पुद्गल कर्मो से रचे गए है इसलिये ये प्राण पुद्गल द्रव्य से विपरीत अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि अनन्तगुण स्वभावधारी परमात्म-तत्त्व से भिन्न है ऐसी भावना करनी योग्य है, यह भाव है ।।१४७।।**

अथ प्राणानां पौद्गलिकत्वं साधयति—

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहि कम्मेहि ।
उवभुंजं[1] कम्मफलं बज्झदि अण्णेहि कम्मेहि ।।१४८।।

जीव प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकै कर्मभि ।
उपभुजान कर्मफल वध्यतेऽन्यै कर्मभि ।।१४८।।

यतो मोहादिभिः पौद्गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति । यतश्च प्राणनिबद्धत्वात्पौद्गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्गलिककर्मभिर्बध्यते । ततः पौद्गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते ।।१४८।।

भूमिका—**अब, प्राणों की पौद्गलिकता सिद्ध करते है—**

---

१ उवभुजदि (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[मोहादिकै कर्मभि] मोहादिक कर्मो से [बद्धः] बंधा हुआ होने से [जीव] जीव [प्राणनिबद्धः] प्राणो से सयुक्त होता हुआ [कर्मफलं उपभुंजानः] कर्म-फल को भोगता हुआ [अन्यैः कर्मभि.] अन्य (नवीन) कर्मो से [बध्यते] बन्धता है ।

टीका—(१) **क्योकि मोहादिक पौद्गलिक कर्मो से बंधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है और (क्योंकि) (२) प्राणों से सयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को भोगता हुआ पुनः भी अन्य पौद्गलिक कर्मो से बंधता है, इसलिये (१) पौद्गलिक कर्म के कार्य होने से और (२) पौद्गलिक कर्म के कारण होने से प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते है ।।१४८।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्राणाना यत्पूर्वसूत्रोदित पौद्गलिकत्व तदेव दर्शयति—

जीवो पाणणिबद्धो जीव· कर्त्ता चतुर्भि प्राणैर्निबद्ध सम्बद्धो भवति । कथंभूतः सन् ? **बद्धो** शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षादिविलक्षणैर्बद्ध । कैर्बद्ध ? **मोहादिएहिं कम्मेहिं** मोहनीयादिकर्मभिर्बद्धस्ततो ज्ञायते मोहादिकर्मभिर्बद्ध सन् प्राणनिबद्धो भवति, न च कर्मबन्धरहित इति । तत एव ज्ञायते प्राणाः पुद्गलकर्मोदयजनिता इति । तथाविध सन् किकरोति ? **उवभुंजदि कम्मफलं** परमसमाधिसमुत्पन्न-नित्यानन्दैकलक्षणसुखामृतभोजनमलभमान सन् कटुकविषसमानमपि कर्मफलमुपभुङ्क्ते । **वज्झदि अण्णेहि कम्मेहि** तत्कर्मफलमुपभुञ्जान सन्नय जीव कर्मरहितात्मनो विसदृशैरन्यकर्मभिर्नवतरकर्म-भिर्वध्यते । यत कारणात्कर्मफल भुञ्जानो नवतरकर्माणि बध्नाति, ततो ज्ञायते प्राणा नवतरपुद्गल-कर्मणा कारणभूता इति ।।१४८।।

उत्थानिका—आगे प्राण पौद्गलिक है, जैसा पहले कहा है उसी को दिखाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(मोहादिएहिं कम्मेहिं) मोहनीय आदि कर्मो से (बद्धो) बंधा हुआ (जीवो) जीव (पाणणिबद्धो) चार प्राणों से सम्बन्ध करता है (कम्मफलं उवभुंजदि) व कर्मो के फल को भोगता हुआ (अण्णेहिं कम्मेहिं बज्झदि) अन्य नवीन कर्मो से बंध जाता है । शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष आदि शुद्ध भावों से विलक्षण मोहनीय आदि आठ कर्मो से बंधा हुआ यह जीव इन्द्रिय आदि प्राणों को पाता है । जिसके कर्मबन्ध नहीं होते उसके यह चार प्राण भी नहीं होते है, इसी से यह जाना जाता है कि ये प्राण पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न हुए है तथा जो इन बाह्य प्राणों को रखता है वही परम समाधि से उत्पन्न जो नित्यानन्दमयी एक सुखामृत का भोजन उसको न भोगता हुआ इन इन्द्रियादि प्राणो से कड़वे विष के समान ही कर्मो के फलरूप सुख दुःख को भोगता है और वही जीव कर्मफल भोगता हुआ कर्म-रहित आत्मा से विपरीत अन्य नवीन कर्मो से बंध जाता है, इसी से जाना जाता है कि ये प्राण नवीन पुद्गल कर्म के कारण भी है ।।१४८।।**

अथ प्राणानां पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति—

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ।।१४९।।

प्राणाबाध जीवो मोहप्रद्वेषाभ्या करोति जीवयो ।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभि ।।१४९।।

प्राणैर्हि तावज्जीवः कर्मफलमुपभुंक्ते, तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति ताभ्यां स्वजीवपरजीवयोः प्राणाबाधं विदधाति । तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति । एवं प्राणाः पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति ।।१४९।।

भूमिका—अब, **प्राणों के पौद्गलिक कर्म का कारणत्व प्रगट करते है—**

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [स. जीव] वह (प्राण-सयुक्त) जीव [मोहप्रद्वेषाभ्या] मोह और द्वेष के द्वारा [जीवयो] (स्व तथा पर) जीवो के (प्राणाबाधं करोति] प्राणो को बाधा पहुचाते है, [हि] तो निश्चय से (ज्ञानावरणादिकर्मभि बध] ज्ञानावरणादिक कर्मो के द्वारा बध [भवति] होता है ।

टीका—**पहले तो प्राणों से जीव कर्मफल को भोगता है, उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वेष को प्राप्त होता है और उनसे स्वजीव तथा परजीव के प्राणो को बाधा पहुँचाता है। वहाँ कदाचित् दूसरे के द्रव्य प्राणों को बाधा पहुँचाकर और बाधा न पहुंचाकर, उपरक्तता (रागादिक रूप विकरिता) से (अवश्य ही) अपने भाव प्राणो को बाधा पहुँचाता हुआ, जीव ज्ञानावरणादि कर्मो को बांधता है। इस प्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मो के कारणत्व को प्राप्त होते है ।।१४९।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्राणा नवतरपुद्गलकर्मबन्धस्य कारण भवन्तीति पूर्वोक्तमेवार्थ विशेषेण समर्थयति—

पाणाबाध आयुरादिप्राणाना वाधा पीडा **कुणदि** करोति । स क ? **जीवो** जीव । काभ्या कृत्वा ? **मोहपदेसेहि** सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन मोहान्धकारविनाशकात्परमात्मनो विपरीताभ्या । मोहप्रद्वेपाभ्या । केपा प्राणवाधा करोति ? **जीवाण** एकेन्द्रियप्रमुखजीवानाम् । **जदि** यदि चेत् **सो हवदि वधो** तदा स्वात्मोपलम्भप्राप्तिरूपान्मोक्षाद्विपरीतो मूलोत्तरप्रकृत्यादिभेदभिन्न स परमागमप्रसिद्धो हि स्फुट वन्धो भवति । कै कृत्वा ? **णाणावरणादिकम्मेहि** ज्ञानावरणादिकर्मभिरिति । ततो ज्ञायते प्राणा पुद्गलकर्मवन्धकारण भवन्तीति ।

अयमत्रार्थ —यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन परं हन्तुकाम सन् पूर्वं तावदात्मानमेव हन्ति पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथायमज्ञानी जीवोऽपि तप्तलोहपिण्डस्थानीयमोहादिपरिणामेन परिणत सन् पूर्वं निर्विकारस्वसवेदनज्ञानस्वरूप स्वकीयशुद्धप्राण हन्ति पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमो नास्तीति ।।१४६।।

उत्थानिका—आगे प्राण नवीन कर्म पुद्गल के बन्ध के कारण होते है, इसी ही पूर्वोक्त कथन को विशेषता से कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) जब (जीवो) यह जीव (मोहपदेसेहिं) मोह और द्वेष के कारण (जीवाणं पाणाबाधं) अपने और पर जीवों के प्राणों को बाधा (कुणदि) पहुँचाता है तब (हि) निश्चय से इसके (सो बंधो) वह बन्ध (णाणावरणादिकम्मेहिं) ज्ञानावरणी आदि कर्मो से (हवदि) होता है। जब यह जीव सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानरूपी दीपक से मोह के अंधकार को विनाश करने वाले परमात्मा से विपरीत मोहभाव और द्वेषभाव से परिणमन करके अपने भाव और द्रव्य प्राणों को घातता हुआ एकेन्द्रिय आदि जीवों के भाव और आयु आदि द्रव्य प्राणों को पीड़ा पहुंचाता है तब इसका ज्ञानावरणादि कर्मो के साथ बंध होता है जो बंध अपने आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष से विपरीत है तथा मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक रूप है। इससे जाना गया कि प्राण पुद्गल कर्मबंध के कारण होते है।**

यहां यह भाव है कि जैसे कोई पुरुष दूसरे को मारने की इच्छा से गर्म लोहे के पिंड को उठाता हुआ पहले अपने को ही कष्ट दे लेता है फिर अन्य का घात हो सके इसका कोई नियम नही है, तैसे यह अज्ञानी जीव भी तप्त लोहे के स्थान में मोहादि परिणामों से परिणमन करता हुआ पहले अपने ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप शुद्ध प्राण को घातता है उसके पीछे दूसरे के प्राणों का घात हो या न हो ऐसा कोई नियम नही है ।।१४६।।

अथ पुद्गलप्राणसन्ततिप्रवृत्तिहेतुमन्तरङ्गमासूत्रयति—

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तं[1] देहपधाणेसु[2] विसयेसु ।।१५०।।

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुन पुनरन्यान्।
न त्यजति यावन्ममत्व देहप्रधानेसु विषयेषु ।।१५०।।

येयमात्मन पौद्गलिकप्राणानां संतानेन प्रवृत्तिः तस्या अनादिपौद्गलकर्ममूलं शरीरादिममत्वरूपमुपरक्तत्वमन्तरङ्गो हेतुः ।।१५०।।

---

१ ममत्ति (ज० वृ०)। २ देहपहाणेसु (ज० वृ०)।

भूमिका—**अब पौद्गलिक प्राणों की संतति (प्रवाह-परम्परा) की प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु सूत्र द्वारा कहते है—**

अन्वयार्थ—[यावत्] जब तक [देहप्रधानेषु विषयेषु] देहप्रधान (देहादिक) विपयो मे [ममत्व] ममत्व को [न त्यजति] नही छोड़ता, [कर्ममलीमसः आत्मा] तब तक कर्म से मलीन आत्मा [पुन पुन.] पुनः पुन [अन्यान् प्राणान्] अन्य-अन्य प्राणो को [धारयति] धारण करता है ॥१५०॥

टीका—**जो यह आत्मा की पौद्गलिक प्राणों की संतानरूप प्रवृत्ति है, उसका अन्तरंगहेतु शरीरादि का ममत्वरूप उपरक्तत्व है, जिसका मूल (निमित्त) अनादि पौद्गलिक कर्म है ॥१५०॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथेन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेरन्तरङ्गहेतुमुपदिशति—

आदाकम्ममलिमसो अयमात्मा स्वभावेन भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनात्यन्तनिर्मलोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशान्मलीमसो भवति । तथाभूत सन् कि करोति ? **धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे** धारयति प्राणान् पुन पुन अन्यान्नवतरान् । यावत्किम् ? **ण चयदि जाव ममत्ति** निस्नेहचिच्चमत्कारपरिणतेर्विपरीता ममता यावत्काल न त्यजति । केषु विषयेषु ? **देहपहाणेसु विसयेसु** देहविपयरहितपरमचैतन्यप्रकाशपरिणते प्रतिपक्षभूतेषु देहप्रधानेषु पञ्चेन्द्रियविषयेष्विति । तत स्थितमेतत् इन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेर्देहादिममत्वमेवान्तरङ्गकारणमिति ॥१५०॥

उत्थानिका—आगे इन्द्रिय आदि प्राणो की उत्पत्ति का अतरग कारण उपदेश करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(कम्ममलिमसो) कर्मो से मैला (आदा) आत्मा (पुणो पुणो) बार बार (अण्णे पाणे) अन्य-अन्य नवीन प्राणो को (धरेदि) धारण करता रहता है । (जाव) जब तक (देहपहाणेसु विसयेसु) शरीर आदि विषयो मे (ममत्ति ण चयदि) ममता को नही छोड़ता है । जो आत्मा स्वभाव से भावकर्म, द्रव्य कर्म और नोकर्मरूपी मैल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल है तो भी व्यवहारनय से अनादि कर्म बंध के वश से मैला हो रहा है । ऐसा होता हुआ यह आत्मा उस समय तक बार-बार इन आयु आदि प्राणो को प्रत्येक शरीर मे नवीन-नवीन धारता रहता है जिस समय तक यह शरीर व इन्द्रिय विषयो से रहित परम चैतन्यमयी प्रकाश की परिणति से विपरीत देह आदि पचेन्द्रियो के विषयों मे स्नेह रहित चैतन्य चमत्कार की परिणति से विपरीत ममता को नही**

त्यागता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय आदि प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण देह आदि में ममत्व करना ही है ॥१५०॥

अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि[1] किह तं पाणा अणुचरंति ॥१५१॥

य इन्द्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मक ध्यायति ।
कर्मभि स न रज्यते कथ त प्राणा अनुचरन्ति ॥१५१॥

पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तेरन्तरङ्गो हेतुर्हि पौद्गलिककर्ममूलस्योपरक्तत्वस्याभावः। स तु समस्तेन्द्रियादिपरद्रव्यानुवृत्तिविजयिनो भूत्वा समस्तोपाश्रयानुवृत्तिव्यावृत्तस्य स्फटिकमणेरिवात्यन्तविशुद्धमुपयोगमात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात्। इदमत्र तात्पर्य आत्मनोऽत्यन्तविभक्तसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः ॥१५१॥

भूमिका—अब पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अन्तरंग हेतु समझाते है—

अन्वयार्थ—[य] जो [इन्द्रियादिविजयीभूत्वा] इन्द्रियादि का विजयी होकर [उपयोगात्मक] उपयोगमयी आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [स] वह [कर्मभि] कर्मो के द्वारा [न रज्यते] रजित नही होता, [त] उसे [प्राणा.] प्राण [कथ] कैसे [अनुचरति] अनुसरण कर सकते है ? (अर्थात् उससे प्राणो का सबध नही होता।)

टीका—वास्तव मे पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अंतरङ्ग हेतु पौद्गलिक कर्म है मूल जिसका, ऐसी उपरक्तता का अभाव है। समस्त इन्द्रियादिक पर द्रव्यो के अनुसार परिणति का विजयी होकर, (अनेक वर्णो वाले) आश्रयानुसार होने वाली सारी परिणति से व्यावृत (पृथक्) हुये स्फटिकमणि की भांति, अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र अकेले आत्मा मे सुनिश्चलतया बसने वाले (जीव) के वह (अभाव) होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि—आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिये व्यवहार जीवत्व के हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इस प्रकार उच्छेद करने योग्य है ॥१५१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथेन्द्रियादिप्राणानामभ्यन्तरविनाशकारणमावेदयति—

जो इंदियादिविजई भवीय य कर्तातीन्द्रियात्मोत्थसुखामृतसन्तोषबलेन जितेन्द्रियत्वेन निष्कषायनिर्मलानुभूतिबलेन कषायजयेन पञ्चेन्द्रियादिविजयीभूत्वा **उवओगमप्पगं झादि** केवलज्ञान-

[1] रज्जदि (ज० वृ०)।

दर्शनोपयोग निजात्मान ध्यायति **कम्मेहि सो ण रज्जदि** कर्मभिश्चिच्चमत्कारात्मन प्रतिबन्धकैर्ज्ञानावरणादिकर्मभि स न रज्यते न बध्यते। **किह तं पाणा अणुचरंति** कर्मबन्धाभावे सति त पुरुष प्राणा कर्त्तार कथमनुचरन्ति कथमाश्रयन्ति ? न कथमपीति। ततो ज्ञायते कपायेन्द्रियविजय एव पञ्चेन्द्रियादिप्राणाना विनाशकारणमिति ॥१५१॥

"एव सपदेसेहि सम्मग्गो" इत्यादि गाथाष्टकेन सामान्यभेदभावनाधिकार समाप्त ।

उत्थानिका—आगे इन्द्रिय आदि प्राणो के अतरग नाश के कारण को प्रगट करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो कोई (इंदियादिविजइ) इंद्रिय आदि का जीतने वाला (भवीय) होकर (उवओगं) उपयोगमयी (अप्पग) आत्मा को (झादि) ध्याता है। (सो) सो जीव (कम्मेहि) कर्मो से (ण रज्जदि) लिप्त नही होता है अर्थात् नही बधता है (किह) तब किस तरह (पाणा) प्राण (तं) उस जीव को (अणुचरंति) आश्रय करेगे ? जो कोई भव्य जीव अतीन्द्रिय आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत मे संतोष के बल से जितेन्द्रिय होकर तथा कषाय-रहित निर्मल आत्मानुभव के बल से कषाय को जीतने से पंचेन्द्रिय को जीतकर केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगमयी अपनी ही आत्मा को ध्याता है वह चैतन्य चमत्कारमयी आत्मा के गुणो के विघ्न करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मो से नही बंधता है। कर्मबन्ध के न होने पर ये इन्द्रियादि द्रव्यप्राण किस तरह उस जीव का आश्रय कर सकते है ? अर्थात् किसी भी तरह आश्रय नही करेगे। इसी से जाना जाता है कि कषाय और इंद्रिय के विषयो का जीतना ही पचेन्द्रिय आदि प्राणो के विनाश का कारण है ॥१५१॥**

इस तरह "एव सपदेसेहिं सम्मग्गो" इत्यादि आठ गाथाओं से सामान्य भेद भावना का अधिकार समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

अथानन्तरमेकपञ्चाशद्गाथापर्यन्त विशेषभेदभावनाधिकार कथ्यते। तत्र विशेषान्तराधिकारचतुष्टय भवति। तेषु चतुर्षु मध्ये शुभाद्युपयोगत्रयमुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्त प्रथमविशेषान्तराधिकार प्रारभ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति। तस्मिन्नादौ नरादिपर्यायै सह शुद्धात्मस्वरूपस्य पृथक्त्वपरिज्ञानार्थं "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्यादि यथाक्रमेण गाथात्रयम्। तदनन्तर तेषा सयोगकारण "अप्पा उवओगप्पा" इत्यादि गाथाद्वयम्। तदनन्तर शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन "जो जाणादि जिणिदे" इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तर कायवाग्मनसा शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण "णाह देहो" इत्यादि गाथात्रयम्। एवमेकादशगाथाभि प्रथमविशेपान्तराधिकारे सयुदायपातनिका।

अथानतर इक्यावन गाथाओ तक विशेष भेद की भावना का अधिकार कहा जाता है, यहा विशेष अन्तर अधिकार चार है। उन चारो के बीच मे शुद्ध आदि तीन उपयोग की मुख्यता से ग्यारह गाथाओ तक पहला विशेष अन्तर अधिकार प्रारम्भ किया जाता है, उसमे चार स्थल है। पहले स्थल मे मनुष्यादि पर्यायो के साथ शुद्धात्म स्वरूप का भिन्नपना बताने के लिये "अत्थित्तणिच्छिदस्सहि" इत्यादि यथाक्रम से तीन गाथाए है। उसके पीछे उनके सयोग का कारण "अप्पा उवओगप्पा" इत्यादि दो गाथाए है। फिर शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग तीन की सूचना की मुख्यता से 'जो जाणादि जिणिदे" इत्यादि गाथा तीन है। फिर मन वचन काय का शुद्धात्मा के साथ भेद है, ऐसा कहते हुये "णाह देहो" इत्यादि तीन गाथाए है। इस तरह ११ गाथाओं से पहले विशेष अन्तर अधिकार मे समुदायपातनिका है।

अथ पुनरप्यात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये गतिविशिष्टव्यवहारजीवत्वहेतुपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि[1] संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥१५२॥

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे सभूत ।
अर्थ पर्याय स सस्थानादिप्रभेदै ॥१५२॥

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया सभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। स खलु पुद्गलस्य पुद्गलान्तर इव जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमानः संभाव्यत एव। उपपन्नश्चैवंविधः पर्यायः। अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्यास्खलितस्यान्तरवभासनात् ॥१५२॥

भूमिका—**अब, फिर भी, आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिये, व्यवहार जीवत्व की हेतुभूत गतिविशिष्ट (देव-मनुष्यादि) पर्यायों का स्वरूप कहते है—**

अन्वयार्थ—[अस्तित्वनिश्चितस्य अर्थस्य हि] (अपने सहज स्वभावरूप) अस्तित्व से निश्चित अर्थ (द्रव्य) का [अर्थान्तरे सभूत.] अन्य अर्थ मे उत्पत्ति रूप [अर्थ] अर्थ (भाव) [पर्याय] पर्याय है, [स] वह (पर्याय) [सस्थानादिप्रभेदै.] सस्थानादि भेदो सहित है।

---

१ अत्थस्सत्थतरम्मि (ज० वृ०)।

टीका—स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से निश्चित एक अर्थ (द्रव्य) का, स्व-लक्षणभूत स्वरूपअस्तित्व से ही निश्चित, अन्य अर्थ मे विशिष्ट (भिन्न-भिन्न) रूप से उत्पन्न होता हुआ अर्थ (भाव) अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है। वह वास्तव मे, जैसे पुद्गल की अन्य पुद्गलात्मक पर्याय उत्पन्न होती हुई देखी जाती है, उसी प्रकार जीव की, पुद्गल मे सस्थानादि से विशिष्टतया (सस्थान इत्यादि के भेद सहित) उत्पन्न होती हुई अनुभव मे अवश्य आती है और ऐसी पर्याय योग्य घटित है, क्योकि केवल जीव की व्यतिरेकमात्र अस्खलित एक द्रव्य पर्याय का अनेक द्रव्यो के सयोगात्मक भीतर अवभास (ज्ञान) होता है।

भावार्थ—यद्यपि प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप-अस्तित्व सदा ही भिन्न-भिन्न रहता है तथापि, जैसे पुद्गल की अन्य पुद्गल के सम्बन्ध से स्कन्धरूप पर्याय होती है उसी प्रकार जीव की पुद्गलो के सम्बन्ध से देवादिक पर्याय होती हैं। जीव की ऐसी अनेक द्रव्यात्मक देवादि पर्याय अयुक्त नही हैं; क्योकि भीतर देखने पर, अनेक द्रव्यों का संयोग होने पर भी, जीव कही पुद्गलो के साथ एकरूप पर्याय नही करता, परन्तु वहां भी मात्र जीव की (पुद्गल-पर्याय से (भिन्न) अस्खलित (अपने से च्युत न होने वाली) एक द्रव्यपर्याय ही सदा प्रवर्तमान रहती है ॥१५२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुनरपि शुद्धात्मनो विशेषभेदभावनार्थ नरनारकादिपर्यायरूप व्यवहारजीवत्वहेतु दर्शयति—

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि चिदानन्दैकलक्षणस्वरूपास्तित्वेन निश्चितस्य ज्ञानस्य हि स्फुट। कस्य ? **अत्थस्स** परमात्मपदार्थस्य **अत्थतरम्मि** शुद्धात्मार्थादन्यस्मिन् ज्ञानावरणादिकर्मरूपे अर्थान्तरे **सभूदो** सजात उत्पन्न **अत्थो** यो नरनारकादिरूपोऽर्थ। **पज्जाओ सो** निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिलक्षण-स्वभावव्यञ्जनपर्यायादन्यादृश सन् विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति। स इत्थभूतपर्यायो जीवस्य। कै कृत्वा जात ? **सठाणादिप्पभेदेहि** सस्थानादिरहितपरमात्मद्रव्यविलक्षणै सस्थानसहननशरीरादि-प्रभेदैरिति ॥१५२॥

उत्थानिका—आगे और भी शुद्धात्मा की विशेष भेद भावना के लिये नर नारक आदि पर्याय का स्वरूप जो व्यवहार जीवपने का हेतु है दिखाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**अत्थित्तणिच्छिदस्स**) अपने अस्तित्व द्वारा निश्चित (अत्थस्स) जीव नामा पदार्थ के (हि) निश्चय से (अत्थतरम्मि संभूदो) पुद्गल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुआ (अर्थः) नर नारक आदि विभाव पदार्थ है सो वही (संठाणादिप्प-भेदेहि) संस्थान आदि के भेदो से (पज्जायो) पर्याय है। चिदानन्दमयी एक लक्षणरूप स्वरूप

अस्तित्व से निश्चित ज्ञानमयी परमात्मा पदार्थरूप शुद्धात्मा से अन्य ज्ञानावरणादि कर्मो के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ जो नर नारक आदि का स्वरूप है वह छः संस्थान व छः संहनन आदि से रहित परमात्मा द्रव्य से विलक्षण संस्थान व संहनन आदि के द्वारा भेदरूप विकार रहित शुद्धात्मानुभवलक्षणरूप स्वभाव व्यंजनपर्याय से भिन्न विभाव व्यंजनपर्याय है ॥१५२॥

अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥१५३॥

नरनारकतिर्यक्सुरा सस्थानादिभिरन्यथा जाता ।
पर्याया जीवानामुदयादिभिर्नामकर्मण ॥१५३॥

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम् । ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाककारणत्वेनानेकद्रव्यसंयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदसः क्षोदखिल्वसस्थानादिभिरिव संस्थानादिभिरन्यथैव भूता भवन्ति ॥१५३॥

भूमिका—**अब, पर्याय के भेद बतलाते है—**

अन्वयार्थ—[नामकर्मणः उदयादिभि.] नामकर्म के उदयादिक के कारण (होने वाली) [जीवानाम्] जीवो की [नरनारकतिर्यक्सुरा] मनुष्य-नारक-तिर्यच-देवरूप [पर्याया] पर्याये [सस्थानादिभि.] संस्थानादि के द्वारा [अन्यथा जाता] अन्य-अन्य प्रकार की होती है ।

टीका—**नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव—जीवों की पर्याये है । नामकर्मरूप पुद्गल के विपाक के कारण अनेक द्रव्यों के संयोगात्मकपने से जैसे तुष की अग्नि और अंगार इत्यादि अग्नि की पर्याये चूरा और डली इत्यादि आकारो से अन्य-अन्य प्रकार की होती है, उसी प्रकार वे (जीव की नारकादि पर्याये) वास्तव मे संस्थानादि के द्वारा अन्यान्य प्रकार की होती है ॥१५३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तानेव पर्यायभेदान् व्यक्तीकरोति—

णरणारयतिरियसुरा नरनारकतिर्यग्देवरूपा अवस्थाविशेषा । **संठाणादीहिं अण्णहा जादा** संस्थानादिभिरन्यथा जाता, मनुष्यभवे यत्समचतुरस्रादिसंस्थानमौदारिकशरीरादिकं च तदपेक्षया भवान्तरेऽन्यद्विसदृशं संस्थानादिकं भवति । तेन कारणेन ते नरनारकादिपर्याया अन्यथा जाता भिन्ना भण्यन्ते । न च शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मद्रव्यत्वेन । कस्मात् ? तृणकाष्ठपत्राकारादिभेदभिन्नस्याग्नेरिव